नमन

(ISSN 2229-5585)

रचनाकारों से

- 'नमन' एक अर्द्धवार्षिक सान्दर्भिक शोध-पत्रिका है। इसमें विषय-विशेषज्ञों की सहमति प्राप्त होने के पश्चात् ही शोध-पत्र प्रकाशित होते हैं।
- ध्यान रखें, शोध-पत्र मौलिक हो तथा पूर्व प्रकाशित न हो।
- यदि किसी विद्वान् के पूर्व प्रकाशित विचारों अथवा तथ्यों का उपयोग शोध-पत्र में किया
  गया हो, तो उसे अवश्य सन्दर्भित करें।
- यूजीसी के मानकानुसार पिअर रिव्यू पत्रिका में प्रकाशित लेख को अंक दिए जाते हैं।
- पत्रिका हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत भाषाओं में प्रकाशित होती है।
- पत्रिका बहुविषयी (मल्टी डिसीप्लिनरी) है।
- हिन्दी में Kruti Dev10 या Unicode Mangal फांट तथा अंग्रेजी में Times New Roman
  में अपने लेख MS Word में भेजें।
- कृपया ध्यान रखें, लेख २५०० से ३००० शब्दों में हो।

शोध-आलेख का प्रारूप

(१) शोध-आलेख का विषय (शीर्षक)
(२) लेखक का विवरण (नाम, पद, संस्थान का नाम, ई-मेल, मोबाईल नम्बर आदि)
(३) शोध-सारांश (१५०-२०० शब्दों में)
(४) बीज शब्द या संकेत शब्द (शोध-आलेख के कुछ प्रमुख शब्द–५ से ७ शब्द)
(५) प्रस्तावना > आमुख > शोध-आलेख > निष्कर्ष (सम्पूर्ण लेख)
(६) सन्दर्भ-सूची (API Format) लेखक का नाम, पुस्तक का नाम, प्रकाशक का नाम, प्रकाशन का स्थान, प्रकाशन वर्ष तथा पृष्ठ संख्या...
(७) अधिक जानकारी हेतु ८४१८०७८१२३ पर सम्पर्क करें।
(८) लेख : himanshusinghkvp@gmail.com पर भेजें।

वर्ष-१९ : अंक-३४ नमन Naman जनवरी-२०२६

जनवरी-२०२६ ISSN : 2229-5585

नमन NAMAN

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary) सूची में नामांकित रही सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

प्रो. श्रद्धा सिंह • डॉ. हिमांशु शेखर सिंह

वर्ष : १९ Website : www.namanpatrika.com फेसबुक : नमन (शोध-पत्रिका) अंक : ३४

वर्ष-१९ : अंक-३४ ISSN : 2229-5585

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary) सूची में नामांकित
रही सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

नमन Naman

प्रधान संरक्षक
श्री सुधांशु शेखर सिंह (प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास)
(Secretary and CEO - Humanitarian Aid International)

परामर्श-मण्डल
प्रो. एम. विमला—हिन्दी विभाग, बंगलुरु विश्वविद्यालय, बंगलुरु, कर्नाटक
प्रो. मंजुला राणा— हिन्दी विभाग, एच.एन. बहुगुणा गढ़वाल वि.वि., उत्तराखण्ड
प्रो. डी.एस. राजपूत— अध्यक्ष- समाजशास्त्र एवं समाजकार्य विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर वि.वि., सागर
प्रो. उमापति दीक्षित—अध्यक्ष- सांध्यकालीन विभाग, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान (शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार), आगरा
प्रो. योगेन्द्र प्रताप सिंह—आचार्य-हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज
प्रो. रेनू सिंह—अधिष्ठाता-मानविकी एवं भाषा संकाय, इ.गाँ. रा. जनजातीय वि.वि., अमरकण्टक, म.प्र.
प्रो. दुर्गेश त्रिपाठी—आचार्य, यूएसएमसी, गुरु गोविन्द सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली
डॉ. जितेन्द्रनाथ मिश्र—पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, डी.ए.वी. डिग्री कॉलेज, वाराणसी
डॉ. रामसुधार सिंह—पूर्व अध्यक्ष- हिन्दी विभाग, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी
प्रो. भारती सिंह—पूर्व प्राचार्य- महामाया राजकीय महाविद्यालय, महोना, लखनऊ
प्रो. सविता भारद्वाज—पूर्व प्राचार्य- राजकीय महाविद्यालय, गाजीपुर
डॉ. आशा यादव—हिन्दी विभाग, बसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

न्यास-मण्डल
श्री शैलेन्द्र सिंह—पूर्व प्रबन्धक, ग्रामीण बैंक, हरदोई
डॉ. भारती सिंह— एम.ए. (समाजशास्त्र— हिन्दी), पी-एच.डी.
डॉ. दिनेश कुमार सिंह— गणित विभाग (अ.प्रा.), राजकीय महाविद्यालय, लखनऊ
डॉ. पद्मजा सिंह—प्राध्यापिका, दिल्ली
श्रीमती आरती सिंह—प्रधानाध्यापिका, वाराणसी

सम्पादकीय सम्पर्क
सम्पादक- 'नमन'
प्रेम सदन- सी. ३३/१४७-३२ ए
आचार्य नरेन्द्रदेव नगर, चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी-२२१००२
वार्ता-सेतु : ०९४१५९८४९८३, ०९४१५५३०५८७
E-mail : shraddhahindi@gmail.com
himanshusinghkvp@gmail.com
Website : www.namanpatrika.com
फेसबुक : नमन (शोध-पत्रिका)

शब्द-संयोजक : श्री विमल चन्द्र मिश्र—पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१०१०
मुद्रक : श्री मोहित निगम— प्रिंटेक, इण्डियन प्रेस कालोनी, मलदहिया, वाराणसी
आवरण : अनुकृति गुप्ता 'अनु' (रेखाचित्रकार-लखनऊ)

२७ जनवरी, २०२५ को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी का मीडिया कवरेज

राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रो. वासुदेव सिंह के कार्यों को याद कर उन्हें किया गया नमन

यूजीसी केयर लिस्टेड शोध पत्रिका नमन का अनावरण कुलपति प्रो. आनंद कुमार त्यागी सहित अन्य विशिष्टजन करते हुए

तरुणमित्र न्यूज

वाराणसी। भारत रत्न अटल बिहारी वाजपेयी के जन्मशताब्दी वर्ष को समर्पित उत्तर प्रदेश पंजाबी अकादमी, लखनऊ के तत्वावधान में प्रो वासुदेव सिंह स्मृति न्यास, वाराणसी तथा महामना मदन मोहन मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ द्वारा सोमवार को ''हिन्दी साहित्य के संवर्धन में पंजाबी रचनाकारों का योगदान'' विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित हुई।

संगोष्ठी की अध्यक्षता काशी विद्यापीठ के कुलपति प्रो आनन्द कुमार त्यागी ने करते हुए कहा कि भारत की संस्कृति का संवर्धन सिंधू नदी के आस-पास ही हुआ है। पंजाब ऐसी भूमि है जिसने भारत को ज्ञान की एक अद्भुत ज्योति प्रदान की है। उन्होंने यूजीसी केयर लिस्टेड शोध पत्रिका नमन का अतिथिगण ने अनावरण किया। मुख्य अतिथि छपरा विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. हरिकेश सिंह ने कहा कि साहित्य को स्वहित एवं सर्वहितकारी होना चाहिए। मुख्य वक्ता लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रो पवन कुमार अग्रवाल, विशिष्ट अतिथि भारत कला भवन, बीएचयू की प्रो जसमिंदर कौर, प्रो उदय प्रताप सिंह एवं प्रो उमापति दीक्षित (ऑनलाइन), प्रो दिलीप सिंह, प्रो नवीन चंद्र लोहनी, प्रो सुखदेव सिंह मिन्हास, डा. किंग्सन सिंह, डा. नीलम सिंह, डा. संध्या द्विवेदी ने अपना वक्तव्य दिया। स्वागत महामना मदन मोहन मालवीय हिन्दी पत्रकारिता संस्थान के निदेशक डा. नागेन्द्र कुमार सिंह, विषय प्रवर्तन डा. हिमांशु शेखर सिंह, संचालन प्रो. राम सुधार सिंह एवं धन्यवाद ज्ञापन आचार्य नरेन्द्र सिंह एवं डा. वशिष्ठ नारायण सिंह ने किया। इस अवसर पर डा. सुरेंद्र प्रताप सिंह, डा. रामाश्रय, डा. संतोष कुमार मिश्र, डा. नागेंद्र पाठक, डा. शिवजी सिंह, डा. प्रभा शंकर मिश्र आदि उपस्थित रहे।

नमनं वासुदेवाय नमनं ज्ञानराशये ।
नमनं प्रीतिकीर्तिभ्यां नमनं सर्वभूतये ।।

नमन

Naman

'प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास'
द्वारा प्रकाशित
यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary)
सूची में नामांकित रही सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका
ISSN : 2229-5585

सम्पादक

प्रो. श्रद्धा सिंह
आचार्य– हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी, उ. प्र.

डॉ. हिमांशु शेखर सिंह
सह आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
प्रयागराज, उ. प्र.

वर्ष-१९ : अंक-३४ ISSN : 2229-5585

नमन

Naman

मानविकी एवं साहित्य

यूजीसी-केयर की बहु-विषयी (Multi-Disciplinary)

सूची में नामांकित रही सान्दर्भिक अर्द्धवार्षिक शोध-पत्रिका

© **प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास**

सम्पादन

- अनियतकालीन, अवैतनिक तथा अव्यावसायिक
- रचनाकार की रचनाएँ उसके अपने विचार हैं। प्रकाशित शोध-पत्रों में आए विचार लेखकों के अपने हैं। सम्पादक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- रचनाओं पर कोई मानदेय / पारिश्रमिक देय नहीं होगा।
- लेखकों, सदस्यों एवं शुभचिन्तकों के आर्थिक सहयोग से पत्रिका प्रकाशित होती है।
- किसी विवाद के लिए न्याय क्षेत्र वाराणसी होगा।

सदस्यता-शुल्क :

प्रति अंक	व्यक्तिगत रु. ५००/-	संस्थागत ७००/–
व्यक्तिगत आजीवन	रु. ४०००/-	संस्थागत ५०००/–
विदेश के लिए	US$ ५०	आजीवन US$ १५०

कृपया अपनी सदस्यता/सहयोग की धनराशि इस पर भेजें–
प्रो. वासुदेव सिंह स्मृति न्यास
खाता संख्या-४०१६०१००००५४८९
(Account No. 40160100005489)
बैंक ऑफ बड़ौदा, महमूरगंज शाखा
वाराणसी-२२१०१०
RTGS/NEFT IFSC Code : BARB0MAHMOO

भूमिका

'नमन' पत्रिका एक ऐसा मंच है, जो हिन्दी साहित्य, संस्कृति, समाज और समसामयिक विमर्श को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाने का संकल्प लिए हुए है। इस अंक में प्रस्तुत अनुक्रम विविधता का अनुपम संगम है– मध्यकालीन रासो काव्य से लेकर आधुनिक उपन्यासों तक, पर्यावरणीय चेतना से लेकर सामाजिक न्याय तक और वैदिक प्रतीकों की व्याख्या से लेकर ग्रामीण अर्थव्यवस्था की चुनौतियों तक। पृथ्वीराज रासो की भाषायी विविधता पर अनिवेश सिंह का विश्लेषण हो या कामायनी के बहुआयामी स्वरूप पर डॉ. हिमांशु शेखर सिंह का मूल्यांकन, प्रत्येक लेख शोधपूर्ण गहराई प्रदान करता है।

जहाँ आज के भारत में जयशंकर प्रसाद का साहित्य प्रासंगिक कैसे है, यह प्रो. श्रद्धा सिंह स्पष्ट करती हैं, वहीं उर्मिला शिरीष की कहानियों में किशोर पलायन की पीड़ा को प्रो. जयश्री बंसल ने उकेरा है। हिन्दी-मलयालम उपन्यासों में पर्यावरण विमर्श (डॉ. शबाना हबीब), नसबन्दी की सामाजिक त्रासदी ('जब-जब होंहि धरम की हानी' पर डॉ. अशोक कुमार ज्योति), थर्ड जेण्डर विमर्श (डॉ. गरिमा तिवारी), स्त्री-चेतना (पल्लवी राय) तथा धार्मिक-सांस्कृतिक सार्वभौमिकता (डॉ. तरुण कुमार द्विवेदी) जैसे विषय समाज की जटिलताओं को उजागर करते हैं।

मनोदार्शनिक दृष्टि से प्रत्याहार-धारणा की प्रासंगिकता (डॉ. कविता भट्ट), गाँधी जी का सर्वोदय दर्शन (डॉ. मनोज कुमार सिंह), बच्चों के विरुद्ध यौन-हिंसा पर जागरूकता (डॉ. विजय कुमार गुप्ता), ग्रामीण महिलाओं की सामाजिकता (अतुल कुमार सिंह), 'पेसा' अधिनियम की प्रभावशीलता (डॉ. संजय यादव), न्याय-व्यवस्था में प्रादेशिक भाषाओं की भूमिका (डॉ. रेशमा कुमारी) तथा वासुदेव शरण अग्रवाल के अध्ययन के सन्दर्भ में वैदिक प्रतीकों की व्याख्या (रविशंकर सिंह पटेल)– ये सभी लेख ज्ञान के प्रकाश में वर्तमान को आलोकित करते हैं।

यह 'नमन' पत्रिका का एक समृद्ध अंक है, जिसमें हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा में लिखे गए उच्चकोटि के शोध-पत्र भी सम्मिलित हैं। इन अंग्रेजी लेखों ने विविध विषयों को समेटकर पत्रिका को और अधिक व्यापकता तथा अंतर्राष्ट्रीय आयाम प्रदान किया है। प्राचीन भारतीय विधि व्यवस्था से लेकर आधुनिक पर्यावरणीय चुनौतियों, दार्शनिक चिन्तनों, साहित्यिक विश्लेषणों तथा सामाजिक मुद्दों तक की गहन पड़ताल इनमें झलकती है। ये लेख न केवल शोधकर्ताओं के लिए हैं, अपितु साहित्य-प्रेमियों, नीति-निर्माताओं एवं सामाजिक चिन्तकों के लिए भी प्रेरणादायी हैं। 'नमन' पत्रिका इन विविध आवाज़ों के माध्यम से भारतीय बौद्धिक परम्परा को वैश्विक मंच पर स्थापित करने का संकल्प लेती है। पाठकों से अपेक्षा है कि वे इन चिन्तनों से प्रेरित होकर अपनी रचनाएँ पत्रिका के लिए प्रस्तुत करें।

'नमन' पत्रिका न केवल साहित्यिक परम्परा को संरक्षित करती है, अपितु सामाजिक परिवर्तन के लिए बौद्धिक सम्वाद को भी प्रोत्साहित करती है। हम आशा करते हैं कि यह अंक पाठकों को प्रेरित करेगा और विचार-सम्वाद को समृद्ध करेगा।

नववर्ष की मंगलकामनाओं सहित,

मकर संक्रान्ति
१४ जनवरी, २०२६

सादर,
सम्पादक

सदस्यता-फॉर्म का प्रारूप

'नमन'

शोध-पत्रिका

मानविकी एवं साहित्य

ISSN : 2229-5585

कृपया नवीनतम फोटोग्रॉफ चस्पा करें

क्रमांक ..... दिनांक .....

मैं शोध-पत्रिका **'नमन'** का व्यक्तिगत आजीवन/संस्थागत सदस्य बनना चाहता/चाहती हूँ। इस हेतु चेक/बैंक ड्रॉफ्ट सं. ..... दिनांक ..... रु. ४०००/५०००/- 'नमन' पत्रिका के पक्ष में संलग्न कर रहा/रही हूँ अथवा नगद प्रेषित है।

नाम .....

वर्तमान पता (जिस पर पत्रिका भेजी जाए) .....

.....

स्थायी पता .....

.....

मोबाइल .....

ईमेल .....

कृपया निम्न पते पर प्रेषित करें :

सम्पादक– 'नमन' हस्ताक्षर

प्रेम सदन, सी. ३३/१४७-३२ ए

आचार्य नरेन्द्रदेव नगर

चन्दुआ छित्तूपुर, वाराणसी-२२१००२

उत्तर प्रदेश (भारत)

दूरभाष : ९४१५९८४९८३, ८४१८०७८१२३

E-mail : himanshusinghkvp@gmail.com

अनुक्रम

सम्पादकीय **iii**

१. पृथ्वीराज रासो की भाषा : विविध सन्दर्भ ***अनिवेश सिंह*** १

२. चन्दायन : एक मूल्यांकन ***प्रो. वासुदेव सिंह*** ७

३. कामायनी : एक बहुआयामी काव्य (अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास का त्रिवेणी संगम) ***डॉ. जैस्मीन पटनायक, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह*** २०

४. आज का भारत और जयशंकर प्रसाद का साहित्य ***प्रो. श्रद्धा सिंह*** २७

५. उर्मिला शिरीष की कहानियों में किशोरों का गाँव से शहर की ओर पलायन ***डॉ. जयश्री बंसल, माया चौरसिया*** ३४

६. समकालीन हिन्दी और मलयालम उपन्यासों में पर्यावरण-दृष्टि ***लेफ्टिनेण्ट (डॉ.) शबाना हबीब*** ३८

७. 'जब-जब होहिं धरम की हानी' में नसबन्दी की पीड़ा ***डॉ. अशोक कुमार ज्योति*** ४४

८. थर्ड जेण्डर विमर्श और 'मैं पायल...' उपन्यास ***डॉ. गरिमा तिवारी*** ५०

९. स्त्री-चेतना और अभिव्यक्ति : भक्ति के सन्दर्भ में ***पल्लवी राय*** ५६

१०. धर्म का सार्वभौम स्वरूप एवं सांस्कृतिक चेतना ***डॉ. तरुण कुमार द्विवेदी*** ६१

११. वैयक्तिक उन्नयन में प्रत्याहार व धारणा की मनोदार्शनिक प्रासंगिकता (उपनिषद् दर्शन के विशेष सन्दर्भ में) ***डॉ. कविता भट्ट*** ६८

१२. महात्मा गाँधी का सर्वोदय अर्थ-दर्शन ***डॉ. मनोज कुमार सिंह*** ७७

१३. वैदिककालीन शिक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन ***डॉ. विजय कुमार गुप्ता*** ८३

१४. ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की बढ़ती सहभागिता एवं असंगठित क्षेत्रों में सुरक्षित कार्यस्थल की दरकार : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ
अतुल कुमार सिंह, प्रो. धर्मेन्द्र कुमार सिंह ८७

१५. 'पेसा' अधिनियम और प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन की प्रभावशीलता
संजय यादव, रमाशंकर यादव ९४

१६. न्याय प्रशासन एवं प्रादेशिक भाषाएँ ***डॉ. रेशमा कुमारी*** १००

१७. भारतीय कला में प्रयुक्त वैदिक प्रतीकों की व्याख्या : वासुदेव शरण अग्रवाल के अध्ययन के विशेष सन्दर्भ में ***रविशंकर सिंह पटेल, परमदीप पटेल*** १०६

१८. SāAkhya's Theory of Perception with Special Reference to Vindhyavāsin and its Criticism by Jayarāśi Bhatta
Abhinav Bharat १११

१९. Indian Knowledge Tradition in Educational Practices of Vidya Bharti : A Case Study ***Dr. Avinash Pandey, Pooja Yadav*** १२२

२०. A Historical Overview of the Structure and Functionality of the Gurukul System in Ancient India
Dr. Dhanraj Sardar Gusinge, Dr. Shashikant Pandey Ruchi Tiwari १३४

२१. Sita's Perspective in *Sitayana* : A Kaleidoscopic Analysis
Neeraj Kumar १४६

२२. Study of Setsuwa literature with Special Reference to Buddhism
Dr. Chandani Kumari १५६

२३. Philosophy of Akho Bhagat as Emanated from his Chhappa
Dr. Dharitri R Gohel, Dr. Girish N Limbad १६३

२४. Revisiting the Chittagong Armoury Raid: The Revolutionary Vision of Masterda Surya Sen ***Zeenat Mahzabin*** १७०

२५. Desire and Discontent, The Two Sides of the Same Coin : A Lacanian Psychoanalytical Study of Sarojini Naidu's *"The Queen's Rival"* ***Aiswarya Jayan, Dr. Shibani C. Aich*** १८०

२६. Deep Ecological Paradigm in Ecodystopian Futures : Environmental Ethical Reflections in T.C. Boyle's *A Friend of the Earth* ***Lavanya K. M., Dr. Raichel M Sylus*** १८६

२७. Marginalized Narratives in Temsula Ao's Short Stories : Voices of Resistance from Subaltern Women
Dr. Biraj Jyoti Kalita, Lavita Das १९४

२८. Evidence in the Ancient Indian Legal System
Dr. Basuki Nath Dubey, Swati २०४

२९. The Entry of the British Raj in Assam : A Brief History
Dr. Luish Gogoi २१२

३०. Environmental Degradation and Socio-Economic Impact of Tehri Dam Lake : Challenges and Conservation Strategies
Dr. Sharad Kumar Tripathi २१९

३१. Echoes in the Corridor : Ageing, Gender and Silence in the Goan Old Age Homes ***Rakshanda Ramesh Mayekar*** २३२

३२. Inclusive Clothing Design Developing a Holistic Framework for Independence and Dignity ***Dr. Vaibhav Bhandari*** २४१

●

पृथ्वीराज रासो की भाषा : विविध सन्दर्भ

अनिवेश सिंह*

शोध-सार : 'पृथ्वीराज रासो' मूलत: अपने रचनाकाल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य-भाषा में रचा गया होगा, जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद; अभी भी सुरक्षित है। रासो की भाषा पर विचार करते समय स्वयं रासोकार की इस उक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को 'षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा है। यह षड्भाषा एक प्रकार की उक्ति-रूढ़ि है। लेकिन यह काव्य-भाषा-विषयक गुत्थी को सुलझाती भी है। बात यह है कि काव्य-भाषा का व्याकरणिक ढाँचा मूलत: तो किसी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है, किन्तु काव्य-भाषा (या परिनिष्ठित भाषा) में अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है, बल्कि थोड़ा-बहुत व्याकरणिक रूप भी क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हो सकता है। मध्यदेश की काव्य-भाषा आजकल खड़ी बोली पर टिकी है, किन्तु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित हैं। यदि मैथिली क्षेत्र के कवि दिनकर खड़ी बोली में रचना करेंगे, तो मैथिली का रंग आ जाना स्वाभाविक है, जैसे अज्ञेय की भाषा में पंजाबी या भवानी प्रसाद मिश्र की भाषा में मालवी। बिलकुल यही स्थिति रासो की काव्य-भाषा के विषय में भी समझना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार किया है। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती, पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है।

बीज शब्द : डिंगल, पिंगल, अपभ्रंश, रासो की भाषा, पश्चिमी राजस्थानी, पुरानी हिन्दी, षड्भाषा, काव्य-भाषा, चारण।

प्रस्तावना : पृथ्वीराज रासो का भाषा विषयक प्रश्न एक कठिन समस्या तथा भाषाविज्ञ विद्वानों में वाद-विवाद का विषय रहा है। इस विषयक लेख यथासमय सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रासो की भाषा में इतनी दुरूहता तथा अव्यवस्था है कि उस पर ठीक ढंग से व्याकरण के नियम लागू करना यदि असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। बाबू श्यामसुन्दर दास ने रासो की भाषा को पिंगल माना है। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अनुस्वारान्त, टवर्गादि तथा द्वित्व वर्णबहुला आदि देख कर डिंगल नाम रख दिया, तो किसी ने अपभ्रंश अथवा विकृत अपभ्रंश। इस प्रकार के भाषा-वैविध्य तथा वर्ण और स्वरों की अव्यवस्था को देखकर शुक्ल जी ने– ''झुँझला कर रासो की भाषा को 'बेठिकाने' तथा भाषा के जिज्ञासुओं के काम की चीज नहीं है''[१]– कह दिया था और इस विषयक अपना निर्णय देते हुए कहा कि कहीं-कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं, परन्तु साथ-ही-साथ; कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पायी जाती है, जिस में प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। शुक्ल जी का यह कथन किसी सीमा तक सही प्रतीत होता है। शुक्ल जी के समय में रासो के वृहद् तथा मध्यम संस्करण ही प्रकाश में आ सके थे। वास्तव में; रासो को एक बहुत प्राचीन रचना माना जाता रहा है। इसकी भाषा में अव्यवस्था तथा प्रक्षिप्त अंशों की बहुलता के कारण रासो का भाषागत स्वरूप निश्चित करने में पर्याप्त कठिनाइयाँ रही हैं। वास्तविक रूप में रासो में भाषा-वैविध्य तथा विकृति का कारण भाटों

* शोध छात्र– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

तथा चारणों द्वारा राजदरबारों तथा समरांगण में प्रशस्ति रूप में गायन अथवा उच्चारण और लिपिकारों का प्रमाद है। आचार्य शुक्ल के कथनानुसार– ''वीरगाथा काल में राज्याश्रित कवि और चारण जिस प्रकार नीति, शृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों अथवा गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे। पृथ्वीराज रासो भी इसी युग की रचना मानी गयी है, यही कारण है कि रासो की भाषा का न कोई स्थिर रूप है और न ही कोई स्थिर शैली। इसमें कहीं तो भाषा सर्वथा आधुनिक प्रतीत होती है, कहीं पर प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृतानुकरणात्मक है और कहीं पर पिंगल (प्राचीन ब्रज) तथा डिंगल (प्राचीन राजस्थानी) रूपों में पायी गयी है।[२] शब्दों की बनावट में स्वरों के दीर्घ अथवा ह्रस्व होने का कोई ध्यान नहीं रखा गया। व्यंजन ध्वनि में अपनी इच्छानुसार अथवा उच्चारण की सुविधा के लिए परिवर्तन कर लिए गए हैं। वास्तव में; रासो की भाषा को यदि हम 'चारणी भाषा' कहें, तो अधिक उचित रहेगा, क्योंकि चारण कवियों की अपनी एक विशेष शैली है और ये चारण कवि अपनी आजीविका के लिए इस शैली का १८वीं शताब्दी तक दृढ़ता से पालन करते रहे हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर रासो के प्रसिद्ध विद्वान् जोहन बीम्स ने रासो की भाषा के विषय में अपना मत देते हुए लिखा है– "It must be remembered that many of these poems were impromptu productions and most, if not all, were written to be sung, and any deficiency of syllable could be covered by prolonging one sound over two or three notes, as often happens in English songs, or on the other hand two or more syllables could be sung to one,not as in our chanting, where so much license could be sung. We cannot use the metrical argument except with great precaution."[3]

अर्थात्– यह याद रखना जरूरी है कि इनमें से कई कविताएँ तात्कालिक रचनाएँ थीं और ज्यादातर कविताएँ गाने के लिए लिखी गयी थीं और किसी भी शब्दांश की कमी को, एक ध्वनि को, दो या तीन स्वरों तक बढ़ाकर पूरा किया जा सकता था, जैसा कि अक्सर अंग्रेजी गीतों में होता है या दूसरी ओर, दो या दो से ज्यादा शब्दांशों को एक स्वर में गाया जा सकता था, हमारे भजनों की तरह नहीं, जहाँ इतनी स्वतन्त्रता से गाया जा सकता है। हम छन्द-सम्बन्धी तर्क का इस्तेमाल बहुत सावधानी के बिना नहीं कर सकते।

आचार्य नामवर सिंह का यह कथन विचारणीय है कि– ''इतना ध्यान रखना चाहिए कि यह काव्य है, व्याकरण का ग्रन्थ नहीं।'' फिर भी; भाषा-रूप की अव्यवस्था के कारण चंदबरदाई का काव्य आज की समस्या बना हुआ है। उसके आगे के प्रश्न चिह्न को पूरी तरह कोई नहीं सुलझा पाया है। कुछ लोग उसे अवहट्ट की रचना मानते हैं, कुछ विद्वान् डिंगल की या प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी की, तो कुछ पिंगल की रचना मानते हैं। अनुमान तो यह भी लगाया जाता है कि चंदबरदाई का काव्य पूर्वी राजस्थानी– ब्रजभाषा (जो आरम्भ में एक ही भाषा थी, भिन्न-भिन्न नहीं) की आद्यस्थिति में रहा होगा और उसकी भाषा उसके समय की कृत्रिम साहित्यिक भाषा थी, ना कि काव्य-भाषा। मुनि जिनविजय ने प्रारम्भ में मिले छप्पय छन्द को रासो के आरम्भिक रूप का संकेत देने में अग्रसरित बताया है, किन्तु वे पश्चिमी राजस्थानी के रूप में ना होकर पूर्वी राजस्थानी (ब्रजभाषा, पिंगल) के रूप का संकेत देते हैं। इसे भूलना नहीं होगा कि मुनि जिनविजय को मिले छप्पयों की भाषा अपभ्रंश की विशेषता अधिक लिए हैं, जो साहित्यिक प्रवृत्ति का संकेत करती है (एक्कु बाणु = परवर्ती रूप–एक बाण)। डॉ. मोतीलाल मेनारिया का यह मत है कि ''चंद की

यह रचना जालसाजी है और १३वीं शती की रचना न होकर १६वीं शती में मेवाड़ में लिखी गयी थी''– ठीक नहीं प्रतीत होती। सम्प्रति उपलब्ध रासो के रूप में अनेक अंश प्रक्षिप्त हैं, जो १६वीं शती या और भी बाद के प्रक्षेपक जान पड़ते हैं। डॉ. मेनारिया का मत इस अंक में ठीक माना जा सकता है, पर इससे बहुत पहले ही चन्द का काव्य किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान था, जो साहित्य तथा भाषा विज्ञान के विद्यार्थियों के लिए अभी तक अंधकार का विषय बना है।

इस सन्दर्भ में विचार करते हुए नामवर सिंह निम्नलिखित विद्वानों, जैसे– डॉ. उदय नारायण तिवारी द्वारा पिंगल के पीछे दिए प्रमाण, बीम्स के ब्रजभाषा होने के पीछे दिए प्रमाण, डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा द्वारा प्राचीन राजस्थानी कहने के पीछे दिए प्रमाणों आदि को उद्धृत करते हुए नरोत्तम स्वामी के निष्कर्ष से सहमति जाहिर करते हैं कि– ''इन विद्वानों ने न तो डिंगल की रचनाओं को देखा, न डिंगल की इन रचनाओं का अध्ययन किया। बिना डिंगल-पिंगल से पूर्ण परिचय के ही इन पिंगल रचनाओं को डिंगल कह दिया गया, केवल इसलिए कि इनकी रचना राजस्थान में हुई।'' अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति तब पैदा होती है, जब इसी लेख में पीछे नामवर सिंह उद्धृत कर आए हैं कि डिंगल एक शैलीमात्र थी, जिसका प्रयोग वीर रस सम्बन्धी स्थलों पर अनेक समकालीन कवियों ने किया और डॉ. धीरेन्द्र वर्मा के इस कथन का समर्थन उनके आगे के इस वक्तव्य से प्रकट होता है कि काव्य-परम्परा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्राय: चारण हुए और पिंगल कृति के कवि प्राय: भाट। यहाँ डॉ. भोलाशंकर व्यास के 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' से यह कथन उद्धरणीय है कि– ''चारणों की साहित्यिक रचनाएँ, जो प्राय: डिंगल में उपलब्ध हैं (पिंगल में बहुत कम), १५वीं शती के पूर्व की नहीं हैं। चारण कवियों के डिंगल गीत इससे पुराने नहीं मिलते तथा राजस्थान के साथ चारणों का संगठन १५वीं शती के पूर्व का नहीं है।''[४]

कहना न होगा, चारण जाति सर्वप्रथम चौदहवीं शती के अंत में सिंध से राजस्थान की ओर आयी। और यदि रासो की रचना आरम्भ मात्र भी पृथ्वीराज के समकालीन मान लें, तो यह आधार अनायास लगता है कि परवर्ती रचना शैली के आधार पर किसी पूर्ववर्ती कृति पर निष्कर्ष प्रस्तुत किया जाए। इस निष्कर्ष में बाधा डालने वाला एक दूसरा तत्त्व यह भी है कि डॉ. व्यास ने उसी स्थान पर यह कहा कि वीरगाथा काव्यों के रचयिता भाट थे और डिंगल शैली थी चारणों की। ऐसे में; चंद भाट थे, तो उनकी कृति को वीरगाथा काव्य कहने पर रासो काव्यों की शैली पिंगल हुई। इस तरह, ''पूर्व कथित डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का जो उद्धरण प्रो. नामवर सिंह ने दिया है कि 'डिंगल' वीर रस सम्बन्धिनी शैली है, उससे स्वयं प्रो. सिंह का मतभेद स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत: इसमें नामवर सिंह ने जो नया मार्ग निकाला है कि डिंगल-पिंगल शैली न होकर पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं– दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल– यह मार्ग तर्कपूर्ण और वरेण्य है।''[५] अब यह चाहे भाषा हो या शैली, किन्तु ऊपर कथित डॉ. भोलाशंकर व्यास के कथन के आलोक में देखें, तो बात सही ठहरती है कि यदि १५वीं शती के बाद की डिंगल रचनाएँ प्राप्त होने का उल्लेख है और नामवर सिंह के अनुसार, डिंगल पिंगल भाषा का रूप है, तो रचनाओं पर उस भाषा-रूप को लागू कर जबरदस्ती बहस क्यों करें? हाँ, इसमें यह कथन अवश्य रखा जा सकता है कि रासो अनेक पीढ़ियों का संकलन है। इस कथन मात्र से रासो के पिंगल होने में आड़े आ रहे आक्षेपों का निरसन हो जाता है। किन्तु, ध्यातव्य हो, जब डिंगल जैसा कि पूर्व में दर्शाया गया है कि १५वीं शती के बाद का मसला है, तो जिस समय रासो का आरम्भ हुआ होगा, उस समय अवश्य ही इस पिंगल भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा-रूप में हुआ होगा। और नहीं, तो डिंगल की समकालीन पिंगल कतई नहीं कही जा सकती।

इस बात का समर्थन उदयपुर से कवि राव मोहनसिंह द्वारा प्रकाशित रासो के प्रथम खण्ड से भी होता है। इनके अनुसार, ''रासो पिंगल की रचना है तथा इसमें रासो का प्रामाणिक अंश वही है, जो कवित्त (छप्पय), साटक (शार्दूल विक्रीडित), गाहा (गाथा) तथा दोहा छन्द में निबद्ध है। निष्कर्ष यह निकलता है कि नामवर सिंह ने जिस पिंगल को शैली के बजाए भाषा माना, वह डिंगल से पूर्व प्रचलन में थी।''[६] इन सबके बावजूद, उनका पृथ्वीराज रासो की भाषा पर विचार करते समय षड्भाषा के सन्दर्भ में यह कहना कि– 'रासो में शैली भेद है, भाषा-भेद नहीं'– नागवार लगता है, क्योंकि इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि रासो में डिंगल के भी प्रयोग बहुधा हैं। प्रो. नामवर सिंह ने डिंगल को भाषा माना– ''पूर्व में यह प्रमाणित किया जा चुका है कि डिंगल परवर्ती थी। अस्तु, यदि परवर्ती भाषा डिंगल का प्रयोग उसमें हो सकता है, तब फिर षड्भाषा के तथ्य को यह कहकर काटना कि वह दुनिया की भाषाओं का अजायबघर नहीं और भाषा-भेद नहीं, अनुचित है।''[७] जिस प्रकार से उसमें एक परवर्ती भाषा का मिश्रण हो सकता है, वह भी इतने व्यापक स्तर पर (डिंगल), उसी प्रकार से षड्भाषा का भी, जो कि रासो के सभी रूपान्तरों में किसी-न-किसी रूप में उल्लिखित है। स्वयं प्रो. सिंह ने भी अरबी-फारसी शब्दों की बहुलता स्वीकारी है। इस तरह, उनका यह कहना कि भाषा-भेद नहीं, उन्हीं के व्यवहारों-प्रमाणों द्वारा काट्य है। किन्तु रासो की भाषा के सन्दर्भ में उन्होंने जो गवेषणापूर्ण निर्णय दिए हैं, वे सभी प्रकार से प्रामाणिक ठहरते हैं। पिंगल को 'भाषा' कहना भी स्वीकार्य होता है और इसके साथ उन्होंने जो परवर्ती भाषा-रूपों का प्रक्षेपों के साथ समावेश स्वीकारा है, वह भी डिंगल के परवर्ती प्रमाणित होने के साथ इसे पुष्ट करता है।

कुल मिलाकर प्रो. नामवर सिंह के ये निष्कर्ष किससे अधिक साम्य रखते हैं– इस पर विचार करने पर हम पाते हैं कि मुनि जिनविजय ने 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' में चंद के नाम से छन्द दिए हैं। इन छपप्यों की भाषा अपभ्रंश है तथा परिनिष्ठित अपभ्रंश के कुछ आगे की भाषा-स्थिति का संकेत देती है। इनके आधार पर मुनि जिनविजय ने इस मत का प्रकाशन किया है कि ये मूल रासो के ही छप्पय हैं तथा इससे यह सिद्ध होता है कि मूल रासो अपभ्रंश की रचना है। इन चार छप्पयों में से तीन छप्पय तो वर्तमान रासो में मिलते हैं। आजकल हिन्दी के अधिकांश विद्वान् इसी मत को मानते हैं तथा उनके मत से रासो की भाषा डिंगल या पिंगल न होकर अपभ्रंश थी। इस प्रकार, ये रासो की मूल भाषा को पश्चिमी अपभ्रंश का परवर्ती रूप मानते हैं। इसी को सन्दर्भित करते हुए भोलाशंकर व्यास की जो महत्त्वपूर्ण टिप्पणी है कि– ''इस सम्बन्ध में इतना कह दिया जाए कि जो रासो की 'अवहत्त' या 'प्रारम्भिक हिन्दी' ठीक वही रही होगी, जिसका रूप हमें 'प्राकृतपैंगलम् के उदाहरणों की भाषा में मिलता है। इस प्रकार, रासो प्राचीन पूर्वी राजस्थानी, ब्रजभाषा (जो आरम्भ में एक ही भाषा थी) का ग्रन्थ रहा होगा, जिस पर बाद में पश्चिमी राजस्थानी तथा डिंगल का प्रर्याप्त प्रभाव पड़ने से उसका रूप विकृत हो गया।'' ठीक यही निष्कर्ष हमारे पूर्व विवेचन में भी निकलता है, जहाँ डिंगल को रासो पर परवर्ती प्रभाव सिद्ध किया गया है। प्रो. नामवर सिंह के इसी निष्कर्ष का समीचीन कथन डॉ. विपिन बिहारी त्रिवेदी भी प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि– ''यहाँ पर जहाँ कहा गया है कि रासो राजस्थानी या डिंगल की भाषा की कृति नहीं, वहाँ पर वह पश्चिमी हिन्दी या ब्रज-भाषा में सूर, सेनापति, रसखान आदि की कृतियों के समान भी नहीं, वरन् वह ऐसी ब्रज-भाषा की कृति है, जिस पर प्रादेशिक डिंगल की स्वाभाविक छाप है, इसलिए राजस्थान में उसे पिंगल-रचना कहे जाने की प्राचीन अनुश्रुति है।'' पण्डित नरोत्तम स्वामी ने रासो को पिंगल-रचना कहते हुए बीम्स और ग्रियर्सन से रासो का व्याकरण-निर्माण कर इस

भ्रम का निराकरण करने का आग्रह किया था। इस प्रकार, रासो की भाषा के सन्दर्भ में नामवर सिंह का वह संक्षिप्त विवेचन, विशद् अध्ययन के सार-भूत सर्वसमर्थित निष्कर्ष के साथ प्रस्तुत होता है, जो बहुत विद्वानों को अनुसंधान में स्वीकार्य रहा है।

निष्कर्ष : वस्तुत: अपभ्रंश के बाद प्राय: पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं– दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमण्डल में पिंगल। काव्य-परम्परा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्राय: चारण हुए और पिंगल के कृती कवि प्राय: भाट। पृथ्वीराज रासो पूर्वी राजस्थान में मूलत: चंदबरदाई भाट द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपान्तरों में भी वह पिंगल की रचना है। पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं काव्य-भाषा रही है। प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यही बात प्रकट होती है। वस्तुत: पृथ्वीराज रासो मूलत: अपने रचनाकाल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य-भाषा में रचा गया होगा, जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद; अभी भी सुरक्षित है। रासो की भाषा पर विचार करते समय स्वयं रासोकार की इस उक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य-भाषा को 'षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा है। यह षड्भाषा एक प्रकार की उक्ति–रूढ़ि है। लेकिन यह काव्य-भाषा विषयक गुत्थी को सुलझाती भी है। बात यह है कि काव्य-भाषा का व्याकरणिक ढाँचा मूलत: तो किसी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है, किन्तु काव्य-भाषा (या परिनिष्ठित भाषा) में अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है, बल्कि थोड़ा-बहुत व्याकरणिक रूप भी क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हो सकता है। मध्यदेश की काव्य-भाषा आजकल खड़ी बोली पर टिकी है, किन्तु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित हैं। यदि मैथिली क्षेत्र के कवि दिनकर खड़ी बोली में रचना करेंगे, तो मैथिली का रंग आ जाना स्वाभाविक है, जैसे अज्ञेय की भाषा में पंजाबी या भवानी प्रसाद मिश्र की भाषा में मालवी। बिलकुल यही स्थिति रासो की काव्य-भाषा के विषय में भी समझना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार किया है। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती, पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने भिखारीदास के 'काव्य-निर्णय' का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया, जो 'षड्भाषा' का विश्लेषण करता है–

''ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज फारसी हू मिलै, षड विधि कहत बखानि।।''

अर्थात् ब्रजी, मागधी (पूर्वी), अमर (संस्कृत), नाग (प्राकृत-अपभ्रंश), यवन (तुर्की) और फारसी सहज रूप से मिलती हैं, यही षड्विधि (षड्भाषा) कहलाती है।

कहने का तात्पर्य यह कि– ''जब चंद ने 'षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा, तो उनका तात्पर्य छ: भाषाओं में काव्य-रचना का नहीं था। उनकी काव्य-भाषा में षड्भाषा मिली है– मध्यदेश की काव्यभाषा में अनेक क्षेत्रीय शब्दों का समावेश था– यह आशय है। पुरानं से संस्कृत और 'कुरानं' से आशय तुर्की, अरबी, फारसी से होना चाहिए।''[९] रासो की भाषा आदिकालीन साहित्य की काव्य-भाषा है। आदिकाल को संधिकाल कहा जाता है। उसकी काव्यभाषा में क्षीयमाण अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियों और उदीयमान आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का मेल है। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णत: प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं। किन्तु रासो में पुरानी हिन्दी का स्वरूप झलकने लगता है। पुरानी हिन्दी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती। ये

प्रवृत्तियाँ हैं– (१) क्षतिपूरक दीर्घीकरण, (२) परसर्गों के प्रयोग की बहुलता और (३) तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन। क्षतिपूरक दीर्घीकरण, जैसे– अज्ज का आज।

उदाहरण– **कलि मज्झिल जग्गु को करइ आज।**

परसर्गों के प्रयोग की बहुलता– एक ही पंक्ति में 'के', 'ते', 'से' का प्रयोग।

उदाहरण - **ससि के मुख ते अहि से निकसे।**

तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन, जैसे– ब्रह्माण्ड।

उदाहरण– **संकियं ब्रह्म ब्रह्माण्ड गहियं।**

''पृथ्वीराज रासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी– दोनों की भाषाई प्रवृत्तियों का मेल है। रासो में शब्दों का बहुविधि प्रयोग है– धर्म, धम्म भी हो सकता है और ध्रम्म भी।''[१०] यह बहुत कुछ तो कवि की ओर से ली जाने वाली छूट है। इस छूट की भी परम्परा है। तुलसीदास जैसे कवि भी 'लसित लल्लाट' पर लिखते हैं। 'कासी मग सुरसरि क्रमनासा (कर्मनाशा)।' दूसरे, जैसा कि बीम्स ने अनुमान किया है, यह भाषा की संक्रमणकालीन स्थिति का भी प्रभाव हो सकता है। अनुस्वार लगाकर शब्दों को छौंकने की प्रवृत्ति पद झंकार के लिए है, किन्तु इतनी अधिकता कभी खीझ और कभी मनोरंजन उत्पन्न करती है। पृथ्वीराज रासो में छन्दानुरोध से लघु को गुरु और गुरु को लघु बनाने की प्रवृत्ति है, जैसे– कमलनु को कमलानु और आहार को अहार। अनुस्वार की अधिकता की ही तरह व्यंजन को द्वित्व बनाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है, जैसे– दिष्षियत, गज्जन। रूपगठन की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय बात लुप्त-विभक्तिक पदों का प्रयोग है– 'ले सब दासि सुजान' (सभी सुजान दासियों को लेकर)। पृथ्वीराज रासो के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है, इसके पश्चात् संस्कृत और फिर फारसी आदि के शब्दों की। 'कनवज्ज समय' (लघुत्तम संस्करण) में कुल ३५०० शब्दों का प्रयोग है। इसमें ५०० शब्द तत्सम हैं, २० फारसी के, शेष तद्भव हैं, कुछ देशी शब्द भी अवश्य होंगे।

रासो के भाषा-विचार की समस्याएँ हैं। सबसे प्रमुख समस्या मान्य पाठ की है, जिसे भाषा-विचार का आधार बनाया जाए। इसकी भाषा पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रबंध काव्य है और अपने युग के इतिहास का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विविध क्षेत्रों के पात्र हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं। फिर, भाषा की विविध स्तरीयता स्वाभाविक है। यह विविध स्तरीयता रासो के महत्त्व को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. आचार्य शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
२. पृथ्वीराज रासो की भाषा–राजस्थान भारती (पत्रिका)– भाग १, अंक २-३, जुलाई १९५६ ई.
३. स्टडीज इन दि ग्रामर ऑफ चंद बरदायी– जे. आर. ए. एस. बी., बीम्स, जिल्द ४२, भाग १, १८७३ ई.
४. डॉ. भोलाशंकर व्यास– हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
५. नामवर सिंह– पृथ्वीराज रासो की भाषा
६. सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह– संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो
७. राजस्थान भारती (पत्रिका)– पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर पुनर्विचार नामक लेख, भाग २, अंक २-५, १८४६ ई.
८. रेवा तट (पृथ्वीराज रासो)– लेख पृथ्वीराज रासो का भाषा-संवाद– विपिन बिहारी त्रिवेदी
९. डॉ. मोतीलाल मेनारिया– राजस्थानी भाषा और साहित्य
१०. श्यामसुन्दर दास– हिन्दी भाषा का विकास, नयी किताब प्रकाशन

चन्दायन : एक मूल्यांकन

प्रो. वासुदेव सिंह*

प्रेमकाव्य परम्परा में अब्दुल रहमान के बार मौलाना दाऊद दूसरे मुसलमान कवि हैं। यद्यपि इनका उल्लेख सम्वत् १९७० में ही मिश्रबन्धुओं ने अपने 'विनोद' में कर दिया था, किन्तु सम्वत् २११३-१४ तक जितने इतिहास-ग्रन्थ अथवा प्रेम-काव्य परम्परा पर शोध-ग्रन्थ और आलोचनात्मक-ग्रन्थ लिखे गए, उनमें से किसी में भी दाऊद अथवा उनकी रचना का प्रामाणिक परिचय नहीं मिलता है। प्राय: सभी ने कतिपय हेर-फेर के साथ समान बातों को दुहराया है। सूफी काव्य-परम्परा पर शोध करने वाले अनेकानेक अनुसन्धित्सुओं ने भी हस्तलिखित ग्रन्थ-भण्डारों में बन्द सामग्री को देखने का कष्ट नहीं किया। फलत: लगभग पिछली अर्धशती तक हिन्दी के पाठक दाऊद का नाम तो सुनते रहे, किन्तु उनके काव्यानन्द से वञ्चित ही रहे। हर्ष का विषय है कि पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी-लेखकों के साथ-ही-साथ पुरातत्त्व और इतिहास के विद्वानों का ध्यान चन्दायन के उद्धार की ओर गया और उसके मूल पाठ को प्रकाशित करने के प्रयास हुए। इस दिशा में डॉ. माता प्रसाद गुप्त और श्री परमेश्वरी लाल गुप्त के कार्य सराहनीय हैं। श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने सन् १९६४ में मूलपाठ, पाठान्तर, टिप्पणी एवं खोजपूर्ण सामग्री सहित 'चन्दायन' का सम्पादन-प्रकाशन किया है। इसके प्रकाश में आ जाने से रचना और रचनाकार के सम्बन्ध में पूर्व-प्रचलित अनेक भ्रान्त धारणाओं का खण्डन हुआ है और नये तथ्य ज्ञात हुए हैं।

चन्दायन मसनवी ढंग पर लिखा गया प्रेमकाव्य है। इसके प्रारम्भ में कवि ने ईश-वन्दना, चार यार वन्दना और गुरु-वन्दना के अतिरिक्त; शाहेवक्त की प्रशंसा की है। इनसे कवि तथा ग्रन्थ के सम्बन्ध में अल्प, किन्तु प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हुई है। उसने लिखा है[१]–

बरिस सात सै होइ इक्यासी। तिहि जाह कवि सरसेउ भासी।।१।।
साहि फिरोज दिल्ली सुल्तानू। जौनासाहि वजीर बखानू।।२।।
डलमऊ नगर बसै नवरंगा। ऊपर कोट तले बहि गंगा।।३।।
धरमी लोग बसहिं भगवंता। गुनगाहक नागर जसवंता।।४।।
मलिक बयाँ पूत उधरन धीरू। मलिक मुबारक तहाँ कै मीरू।।५।।

इसके अनुसार, चन्दायन का रचनाकाल ७८१ हिजरी (सं. १४३६) है।[२] परशुराम चतुर्वेदी ने भारतीय हिन्दी परिषद् (प्रयाग) से प्रकाशित हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड) में चार यमक उद्धृत किये हैं, उनमें रचना-तिथि इस प्रकार दी हुई है–

बरस सात सौ हतै उन्यासी। तहिया यह कवि सरस अभासी।।

इससे चन्दायन का रचनाकाल दो वर्ष पूर्व (सं. १४३४) ठहरता है। दोनों में कौन-सा पाठ अधिक शुद्ध है, फारसी लिपि के दोष के कारण यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कवि ने शाहेवक्त के रूप में फीरोजशाह तुगलक और उसके मन्त्री जौनाशाह की प्रशंसा की है। फीरोजशाह का शासनकाल सम्वत् १४०८ से सं. १४४५ तक था। जौनाशाह खानजहाँ मकबूल के पुत्र थे और पिता की मृत्यु के बाद सम्वत् १४२७ (सन् १३७०) में फीरोजशाह के वजीर बने थे।[३] इस प्रकार, दाऊद का समय विक्रम की १५वीं शती पूर्वार्द्ध ठहरता है। कवि ने अपने

* प्राक्तन् आचार्य एवं अध्यक्ष– हिन्दी विभाग, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ.प्र.

को डलमऊ नगर का निवासी बताया है। गंगा तट पर स्थित डलमऊ रायबरेली जिले का एक प्रसिद्ध कस्बा है। उक्त उद्धरण में आये 'मलिक बयाँ पूत....' के आधार पर श्री परमेश्वरी लाल गुप्त का अनुमान है कि दाऊद के पिता का नाम मलिक मुबारक और पितामह का नाम मलिक बयाँ था। मलिक मुबारक डलमऊ के मीर (न्यायाधीश) थे और उन पर दिल्ली सुल्तान फीरोजशाह तुगलक के मन्त्री खान-ए-जहाँ की कृपा थी।[४]

दाऊद ने अपने को शेख जैनदी का शिष्य कहा है–

सेख जैनदी हौं पथिलावा। धरम पंथ जिन्ह पाप गँवावा।।

शेख जैनदी (जैनुद्दीन) प्रसिद्ध चिश्ती संत हजरत नसीरूद्दीन महमूद की बड़ी बहन के बेटे और नसीरूद्दीन के शिष्य थे। नसीरूद्दीन प्रसिद्ध सूफी निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु सं. १३८२) के खलीफा थे। नसीरूद्दीन जिरागे दिल्ली कहे जाते थे। निजामुद्दीन औलिया भारत में चिश्तिया सम्प्रदाय के प्रवर्तक ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा के प्रसिद्ध सूफी थे। उनका पूरा नाम मुहम्मद बिन अहमद बिन दानियाल अल बुखारी था। वे बदायूँ के निवासी थे। वहीं पर उनका जन्म सन् १२३८ (सं. १२९५) में हुआ था।[५]

अत: दाऊद की गुरु-परम्परा का वंश-वृक्ष इस प्रकार है–

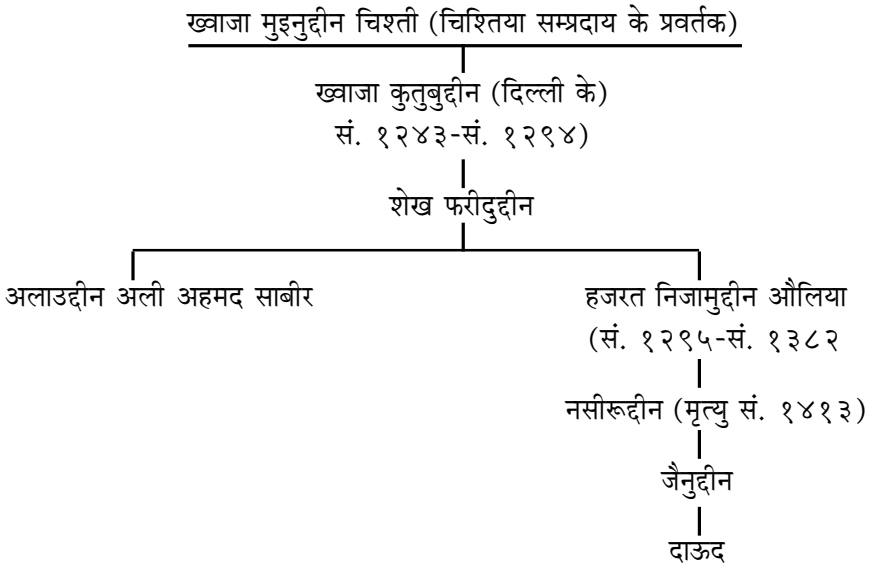

श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने उपलब्ध आठ खण्डित प्रतियों के आधार पर चन्दायन का सम्पादन किया है। कुछ अंश सभी प्रतियों में गायब हैं। इससे पूरा चन्दायन प्रकाश में नहीं आ सका है। स्थान-स्थान पर कुछ अंश छूट गए हैं। इस प्रकार, प्रकाशित ४५२ कड़बकों के भी कुछ कड़वक गायब हैं। किन्तु बीकानेर वाली प्रति के आधार पर श्री परमेश्ववी लाल गुप्त का अनुमान है कि इस काव्य में कम-से-कम ४७३ कड़वक रहे होंगे।

चन्दायन में लोरक और चाँद के प्रेम की कहानी है। गोबर (ग्वालियर?) के स्वामी राय महर (महदेव) के ८४ रानियाँ थीं। उसी की बेटी चाँद थी। उसके सौन्दर्य की चर्चा जन्म से ही घर-घर में होने लगी थी। चार वर्ष की आयु में उसका विवाह जीत के बेटे बावन से हो जाता है। उसके बाद बारह वर्ष बीत जाते हैं, किन्तु उसका पति दूर ही रहता है। युवावस्था में वह काम-

व्यथा से दग्ध होकर, सासु द्वारा प्रताड़ित की जाकर, मातृ-गृह लौट आती है। एक दिन वाजिर (वज्रयानी साधु) उसके सौन्दर्य से मुग्ध हो, स्वदेश लौटने पर राजा रूपचन्द से उसका रूप-वर्णन करता है। रूपचन्द गोबर पर आक्रमण करता है। वह महर लोरक की सहायता और पराक्रम से आक्रमणकारी को खदेड़ने में सफल होता है। विजयी लोरक का जुलूस निकलता है। चाँद उसे देखकर आत्म-विस्मृत हो जाती है। ज्यौनार के अवसर पर लोरक भी उसे देखता है। दासी विरस्पत्त के प्रयत्न से दोनों का मिलन होता है। दोनों भागते हैं और मार्ग की कठिनाइयों को पारकर हरदीपाटन पहुँचते हैं। इधर लोरक की प्रथम पत्नी मैना पति-वियोग में दु:खी रहती है। हरदीपाटन को जा रहे सिरजन व्यापारी द्वारा मैना पति के पास विरह-सन्देश भेजती है, जिसे सुनकर लोरक चाँद सहित वापस आ जाता है और दोनों पत्नियों के साथ रहने लगता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों तथा सूफी-काव्य-परम्परा का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने दादू को प्रथम सूफी कवि माना है। उनकी इस मान्यता के कुछ कारण भी हैं। दादू सूफी साधकों में काफी लोकप्रिय रहे हैं। चिश्तिया सम्प्रदाय से उनका गहरा सम्बन्ध था– यह उनकी गुरु-परम्परा से ही सिद्ध है। कहा जाता है कि दिल्ली के शेख बदरुद्दीन वायज रब्बानी धार्मिक प्रवचनों में चन्दायन का भी पाठ करते थे। चन्दायन की शैली का परवर्ती सूफी रचनाओं पर काफी प्रभाव पड़ा है। चन्दायन के प्रारम्भ में वर्णित ईश-वन्दना, पैगम्बर-वन्दना, चार-यार और गुरु-वन्दना, शाहेवक्त की प्रशंसा का अनुसरण अन्य सूफी काव्यों में भी मिलता है। इसी प्रकार, चन्दायन में आए हुए षट्ऋतु, नख-शिख, बारहमासा तथा प्रिय-प्रेमी के मार्ग की कठिनाइयाँ अन्य सूफी काव्यों में भी पायी जाती हैं। दाऊद ने पाँच कड़वकों (यमकों) के बाद धत्ता का प्रयोग किया है, कुतबन और मंझन ने भी इसी का पालन किया है। जायसी ने अवश्य पाँच के स्थान पर सात कड़वकों के बाद धत्ता का प्रयोग किया है। चन्दायन की भाषा को भी परवर्ती सूफी कवियों ने अपनाया। चन्दायन का नायक लोरिक (लोलार्कसूर्य) और नायिका चाँद (चन्द्र) प्रेममार्ग की साधना के प्रसिद्ध प्रतीक रहे हैं। सूर्य-चन्द्र का मिलन ही समरस या महासुख कहा गया है। ''चन्द्रमा और आदित्य का समरस देखना ही सिद्धि है। चन्द्रमा और सूर्य जहाँ अपना-अपना प्रकाश एक में मिला देते हैं अर्थात् समरस बनकर एक हो जाते हैं, वहीं उज्ज्वल प्रकाश होता है। चन्द्र और सूर्य के प्रतीक में सृष्टि और संहार, स्त्री और पुरुष, सोममयी उमा और कालाग्नि रुद्र, इड़ा और पिंगला आदि के प्राचीन प्रतीक पुन: प्रकट हो उठे।''[६] पद्मावत में भी सूर्य-चन्द्र के प्रतीक अनेक स्थानों पर आए हैं।

सूफी काव्यों के इतना निकट होते हुए भी चन्दायन को नि:सन्दिग्ध शब्दों में सूफी काव्य मानने में संकोच होता है, क्योंकि यह काव्य आध्यात्मिक और दार्शनिक पदावली से सर्वथा मुक्त है। जायसी ने पद्मावती में जिस प्रकार स्थान-स्थान पर समासोक्ति या रूपक के द्वारा सूफी सिद्धान्तों का निरूपण किया है, उसका भी यहाँ अभाव है। जायसी ने पद्मावत के अन्त में रूपक का निर्देश कर दिया है। चन्दायन का अन्तिम अंश अभी तक अप्राप्य है। बहुत सम्भव है कि दाऊद ने भी इसी प्रकार के रूपक का निर्देश किया हो। किन्तु, चाँद को परमात्मा का प्रतीक मानने में सबसे बड़ी बाधा उसका परकीया रूप है। फिर, लोरिक की ओर से चाँद को प्राप्त करने के लिए उतना अधिक प्रयत्नशील नहीं दिखाया गया है, जितना कि चाँद की ओर से लोरिक के लिए। परमात्मा (चाँद), आत्मा (लोरिक) के मिलन के लिए इतना व्याकुल हो, यह कहाँ तक उपयुक्त है? इसके अतिरिक्त; जायसी ने अपनी पूर्ववर्ती सूफी काव्य-परम्परा का उल्लेख करते

समय चन्दायन को नहीं गिनाया है। यह सम्भव नहीं है कि जायसी दाऊद के नाम से परिचित न रहे हों। दोनों एक ही जनपद के निवासी थे और दाऊद काफी लोकप्रिय भी थे। इसलिए निश्चित रूप से; यह नहीं कहा जा सकता कि चन्दायन सूफी सिद्धान्तों के आधार पर ही लिखा गया है। हाँ, काव्य-रूप की एकता और सूफी सम्प्रदाय से दाऊद का सम्बन्ध होने के कारण चन्दायन की गणना प्रथम सूफी काव्य के रूप में अवश्य की जाती है।

चन्दायन सूफी काव्य हो या न हो, एक सरस प्रेम-काव्य अवश्य है। इसका प्रभाव न केवल परवर्ती प्रेमकाव्यों (सूफी और लौकिक– दोनों प्रकार के) पर रहा है, अपितु लोक-कथा के रूप में लोरिक-चाँद की प्रेम कहानी पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश आदि में अब भी प्रचलित है। मिर्जापुर, भागलपुर, मिथिला, छत्तीसगढ़ और संथाल परगना में यह कथा, किञ्चित अन्तर से आज भी विद्यमान है।

चन्दायन शृंगार रस का श्रेष्ठ काव्य है। उसके दोनों पक्षों– संयोग-वियोग के वर्णन में कवि को काफी सफलता मिली है। काव्य में विरह-वर्णन के दो अवसर आए हैं। किन्तु चाँद की अपेक्षा मैना-विरह-वर्णन में कवि को अधिक सफलता मिली है। यद्यपि दोनों अवसरों पर कवि ने परम्परा का ही अधिक पालन किया है और कवि-जगत् में प्रचलित उपमानों के सहारे, बारहमासा के माध्यम से, दोनों वियुक्ता नारियों की अन्तर्दशा का निरूपण किया है, किन्तु जायसी के समान यहाँ पर ऊहा अथवा दूरारूढ़ कल्पना का प्राधान्य नहीं होने पाया है। फारसी-प्रभाव से भी कवि ने बचने का प्रयास किया है।

चाँद और मैना के विरह में जो परिस्थितिजन्य भेद है, कवि उसके प्रति सावधान रहा है। एक का विरह निराशाजन्य है और दूसरी का ईर्ष्याजन्य। चाँद का बावन से अल्पायु में ही विवाह हो गया था, किन्तु विवाह के बाद बारह वर्ष बीत जाने पर भी वह पति-दर्शन से वञ्चित ही नहीं रही, अपितु सासु द्वारा प्रताड़ित भी हुई। ऐसी विषम परिस्थिति में मातृगृह आकर वह अपनी दशा का निवेदन अपनी सखियों से करती है। प्राप्त प्रतियों में केवल तीन मास– माघ, फागुन, चैत– विरह-वर्णन से सम्बद्ध अंश प्राप्त हो सके हैं, ५७ से ६५ तक के कड़वक अनुपलब्ध हैं। शायद उनमें शेष नौ महीनों का वर्णन रहा होगा।

मैना की स्थिति चाँद से भिन्न है। वह लोरिक की विवाहिता पत्नी है, किन्तु उसका पति उसे छोड़कर चाँद को लेकर अन्यत्र चला गया है। कवि ने यहाँ भी बारहमासा का सहारा लिया है। (प्राप्त प्रति में आठ मास–सावन से फागुन– का वर्णन मिलता है। आगे चलकर जायसी ने लगभग इसी पद्धति को अपनाया है। मैना ने सिरजन के द्वारा अपने पति को वश में करने वाली चाँद के पास जैसा सन्देश भेजा है, लगभग उन्हीं शब्दों में नागमती ने पक्षी द्वारा पद्मावती के पास अपना सन्देशा कहलवाया है।

संयोग शृङ्गार के अन्तर्गत चाँद का रूप-वर्णन, चाँद-लोरिक का मिलन, चाँद-मैना के द्वन्द्व आदि आते हैं। चाँद के नखशिख : वर्णन में कवि परिपाटी में अधिक बँधा हुआ है। माँग, केश, ललाट, भौंह, नेत्र, नासिका, अधर, दाँत, रसना, कर्ण, तिल, ग्रीवा, बाहु, कुच, पेट, पीठ, जानु, पग, गति तथा वस्त्राभूषणों आदि के वर्णन में प्रचलित उपमानों का उल्लेख अधिक हुआ है, किन्तु सरसता में कमी नहीं आने पायी है। यहाँ भी जायसी दाऊद के बहुत ऋणी प्रतीत होते हैं। कुछ पंक्तियाँ तो बहुत कम अन्तर से पद्मावत में पायी जाती हैं।

भाषा– सामान्यतया चन्दायन को अवधी भाषा का काव्य समझा जाता रहा है, लेकिन श्री

परमेश्वरी लाल गुप्त इसे अवधी की रचना नहीं मानते (चन्दायन को अवधी की रचना मानने वालों ने अथवा परमेश्वरी लाल ने कृति की भाषा पर वैज्ञानिक रीति से विचार नहीं किया है)। वैसे उनका कहना है कि– ''हमें आश्चर्य यह देखकर होता है कि हमारे विद्वान् इस बात की तो तर्कपूर्ण कल्पना कर सकते हैं कि दाऊद डलमऊ के थे और डलमऊ अवध में है, अवध की भाषा भी अवधी कहलाएगी, अत: दाऊद की भाषा अवधी ही होगी; पर इस वास्तविक तथ्य को नहीं देख सकते कि चन्दायन की रचना न तो अवधी वातावरण में हुई थी और न उसका आरम्भिक प्रचार अवधी क्षेत्रों के बीच था।''[७] इस सन्दर्भ मेंउन्होंने चन्दायन के पूर्ववर्ती दो ग्रन्थों– उक्ति-व्यक्ति प्रकरण और राउरवेल– का उल्लेख किया है। यहाँ भी उनका मत है कि– ''चन्दायन की भाषा उक्ति-व्यक्ति प्रकरण की भाषा से सर्वथा भिन्न है।''[८] और ''चन्दायन की भाषा को अवधी सिद्ध करने के लिए राउरवेल की भाषा को अवधी के पूर्वरूप का नमूना नहीं माना जा सकता।''[९] इस प्रकार, चन्दायन की भाषा के सम्बन्ध में उनका निर्णय है कि– ''दाऊद ने अपने काव्य के लिए ऐसी भाषा को अपनाया था, जो अपभ्रंश साहित्य की शब्द-परम्परा से विकसित होकर व्यापक रूप से देश के विस्तृत भाग में प्रचलित थी।''[१०]

इस सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट मत है कि चन्दायन अवधी भाषा का काव्य है। हाँ, यह अवधी ठेठ अवधी है, साहित्यिक अथवा संस्कृतनिष्ठ अवधी नहीं। वस्तुत: पूर्वी हिन्दी की बोलियों (जिनमें अवधी भी है) का विकास अर्द्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। अत: इन बोलियों का जो ग्रन्थ जितना ही प्राचीन होगा, उसमें परवर्ती ग्रन्थ की अपेक्षा अपभ्रंश के तत्त्व अधिक मात्रा में विद्यमान होंगे। इसके अतिरिक्त; प्रेममार्गी और सूफी कवि संस्कृत-परम्परा से अपरिचित थे तथा सामान्य जनता के लिए काव्य-रचना कर रहे थे, इसलिए वे जनभाषा का अधिकाधिक प्रयोग कर रहे थे। मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन के जोर पकड़ने के साथ ही; भाषा के संस्कृतीकरण की भावना का भी प्रसार हुआ था। अतएव भक्तकवियों की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ है। इस प्रकार, अवधी के दो रूप मिलते हैं– एक सामान्य ठेठ अवधी और दूसरी; साहित्यिक परिमार्जित अवधी। प्रथम रूप में अपभ्रंश की छाया विद्यमान है और दूसरी संस्कृत शब्दावली-बहुल है। प्रथम वर्ग में दाऊद, कुतबन और जायसी आदि आते हैं और दूसरे के प्रतिनिधि कवि तुलसी हैं।

दाऊद, कुतबन और जायसी की भाषा ही नहीं, भावों में भी कितना साम्य है, यह नीचे दिये हुए उद्धरणों से स्पष्ट हो जायेगा। तीनों कवियों ने विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत बारहमासा का वर्णन किया है। चन्दायन में मैना के वियोग-वर्णन से सम्बद्ध कुछ अंश इस प्रकार हैं–

भादौं मास निसि भयी अँधियारी। रैन डरावन हौं धनि बारी।।
बिजली चमक मोर हियरा भागै। मन्दिर नाह बिनु डहि-डहि लागै।।
संग न साथी न सखी सहेली। देखि फाटि हिय मन्दिर अकेली।।

× × × ×

चढ़ा कुँआर अगस्त चितावा। नीर घटे पै कंत न आवा।।
फूले कांस हांस सिर छाए। सारस कुरलहिं खिडरिज आए।।

'मृगावती' में राजकुँवर के वियोग में रूपमिनि की विरहदशा का वर्णन लगभग इन्हीं शब्दों में हुआ है। जैसे–

भादौं सघन धार बरसाई। बीजु लोय अँधहर ह्वै जाई।।
निस अँधियार भरम डर भारे। है डर के हौं कंत बिसारे।।

पिउ न आह जेहि सरन लगाऊँ। सेज पहुमि किम और डराऊँ।।

× × × ×

आसिन दरिस कांस बन फूले। खंडरिच आए सारस बोले।।
उए अगस्त घटा जग नीरू। हौं भरि गँग न पाऊँ तीरू।।
कुंजर बिरह सरीर बन, दलै बिधंसै खाय।
पिय गलगाजहु सिंघ होइ, कुंजर बिरह पराय।।२८०।।

और जायसी की नागमती की दशा का वर्णन इन शब्दों में हुआ है–

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी।।
मन्दिर सून पिउ अनतै बसा। सेज नागिनी फिरि फिरि डसा।।
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।।

× × × ×

लाग कुँआर नीर जग घटा। अबहु आउ पिउ परभुनि लटा।।
उए अगस्त हस्ति घन गाजा। तुरय पलानि चढ़े रन राजा।।
बिरह हस्ति तन सालै, खाइ करै चित चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु, गाजहु होइ सदूर।।

अर्द्धमागधी अपभ्रंश से अवधी ने कब जन्म लिया, इसकी कोई निश्चित तिथि नहीं बतायी जा सकती। किन्तु अवधी के चिह्न ११वीं-१२वीं शताब्दी की उन्हीं रचनाओं में विद्यमान हैं, जिनका श्री परमेश्वरी लाल गुप्त ने नाम लिया है। रोड़ा कृत 'राउरवेल' ११वीं शती की एक शिलांकित रचना है। इसकी भाषा मध्यदेशीय परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट है। किन्तु पूर्वी हिन्दी-कोसली अथवा अवधी के बीज इसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। जैसे–

अइसी बेटिया जा घर आवइ। ताहि कि तूलिम्बं कोउ पावइ।।

'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' १२वीं शती में काशी कान्यकुब्ज नरेश गोविन्दचन्द्र गाहड़वाड़ के सभा कवि दामोदर द्वारा लिखित व्याकरण-ग्रन्थ है। इसे नव्य भारतीय आर्य भाषा की प्रतिनिधि एवं प्राचीन रचना माना जा सकता है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने इसकी भाषा का विस्तार से विश्लेषण करते हुए इसे कौसली या पूर्वी हिन्दी की रचना सिद्ध किया है।[११] वस्तुत: यह ग्रन्थ १२वीं शती के जनमानस में अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी या अवधी के जन्म लेने की प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब है। यहाँ हम इस पर विस्तार से विचार न करके चन्दायन पर आते हैं।

किसी रचना की भाषागत विशेषताओं की जानकारी के लिए, उसके व्याकरणिक विवेचन की आवश्यकता होती है। व्याकरण के अन्तर्गत मुख्य रूप से संज्ञा, सर्वनाम, क्रियापद, काल, कारक, विशेषण, अव्यय, वाक्य-रचना आदि का विश्लेषण करना होता है। चन्दायन में कतिपय विदेशी शब्द, जैसे– हजमाना (अरबी-हज्जाम=नाई), पीर (फारसी=सिद्ध) अथवा एकाध भोजपुरी प्रयोग जैसे 'तैस बा देस' (२६।७) आदि भले ही मिल जाएँ, किन्तु मूल रूप में वह शुद्ध अवधी का ग्रन्थ है। विदेशी शब्दों अथवा अन्य बोलियों के शब्दों का प्रयोग अत्यल्प है।

संज्ञा– अवधी मध्य और अन्त्य उकार बहुला भाषा है। चन्दायन में यह प्रवृत्ति प्रधान रूप से पायी जाती है। सुरुज (१।३), सीउ (१।४), नाउं (६।१), तुरुक (१२।३), गउब (१२।४), वजीरु (१७।२), दारिउं (१८।३), जीउ (२८।१), निउता (३५।१), आदि उकार प्रधान शब्दों की यहाँ भरमार मिलती है। संज्ञा रूपों के निर्माण में अवधी के नियमों को ही ध्यान में रखा गया

है। संज्ञा-शब्दों के बहुवचन के निर्माण में शब्द के अन्त में 'न्ह' या 'हिं' का योग मिलता है, जैसे– मोतिन्ह (३७।२) अथवा कुँवरहिं (१११।१)।

उकारान्त संज्ञाओं के अन्तिम व्यंजन के साथ 'ऐं' को जोड़कर भी बहुवचन बनाये गये हैं, जैसे– 'अधरैं (८१।६)' मनुसैं (८१।१)।

ईकारांत संज्ञाओं के बहुवचन का निर्माण अन्तिम ध्वनि के साथ अनुस्वार के योग से हुआ है, जैसे– पनवारीं (१०२।२)।

भाववाचक संज्ञाओं के निर्माण के सम्बन्ध में अवधी में कई प्रकार के प्रयोग चलते हैं। भाववाचक संज्ञाएँ भी विशेषणमूलक, क्रियामूलक, जातिमूलक आदि कई प्रकार की होती हैं। दाऊद ने क्रियामूलक भाववाचक संज्ञाओं के निर्माण के लिए मूल धातु में 'आइ', 'आई' 'आउ' आदि को जोड़ दिया है। जैसे–

(क) धातु के मूल रूप में 'आई' जोड़कर भाववाचक संज्ञाओं का निर्माण–

(i) धुँधुवाई (५३।२) (ii) उड़ाई (८५।३) (iii) रिरियाई (१०३।३)

(ख) मूलधातु में ''आई'' ''आउ'' के योग से निर्मित संज्ञाएँ–

(i) पछताउ (१२४।७) (i) लुकाई (११६।७)

(ii) पैराउ (१४२।७) (ii) पसाइ (१५८।६)

(iii) चढ़ाउ (१४४।७) (iii) उड़ाइ (१५९।६)

(iv) दिखाउ (१४६।७)

(v) जिवाउ (१४९।७)

गुणवाचक एवं परिणामवाचक विशेषणों के साथ 'आई' के योग से विशेषणमूलक भाववाचक संज्ञाएँ बनायी गयी हैं, जैसे–

(i) बड़ाई (१४।१) (ii) लजाई (३९।६)

(iii) बुराई (४५।५) (iv) चिकनाई (८४।४)

कारक– संज्ञा या सर्वनाम के जिस रूप से उसका सम्बन्ध वाक्य के किसी दूसरे शब्द के साथ प्रकाशित होता है, उस रूप को 'कारक' कहते हैं। कारक चिह्नों के अतिरिक्त विभक्ति, परसर्ग आदि के द्वारा भी संज्ञा, सर्वनाम और शेष वाक्य का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। चन्दायन में कारक चिह्नों के प्रयोग के अतिरिक्त कहीं-कहीं पर संज्ञाएँ अपने मूल रूप में ही प्रयुक्त हुई हैं अथवा उनमें 'हि' 'हिं' आदि विभक्ति सूचक प्रत्यय जोड़ दिये गये हैं, जैसे–

चांदहि (५०।१), राजदुआरहिं (६६।२), नौहारहिं (६६।५), परहितहिं (३७०।३), लोरहिं (३७०।४)।

कर्त्ता कारक– कर्त्ता कारक का चिह्न 'ने' है। इसका प्रयोग केवल पश्चिमी हिन्दी की सकर्मक क्रिया के साथ होता है। अवधी ही नहीं, पूर्वी हिन्दी की सभी बोलियों में इसका सर्वथा अभाव है। चन्दायन में भी 'ने' गायब है। उसमें पुलिंग एकवचन संज्ञा रूपों का व्यवहार प्राय: मूल रूप में हुआ है, जैसे–

(i) सेख जैनदी हौं पथिलावा। (९।१)

(ii) सुरुज कहा मैं चाँद बुलाउब। (२९०।१)

पुलिंग बहुवचन संज्ञारूपों में 'न्ह' 'न' आदि को जोड़ा गया है और स्त्रीलिंग बहुवचन के लिए 'इन' का प्रयोग हुआ है। जैसे– चाँद सहेलिन पूछिं रस, धौरहरा लाई (५२।६)

कर्म कारक– अवधी में 'को' परसर्ग नहीं मिलता है। उसके स्थान पर 'हि', 'कहँ' आदि विभक्तिसूचक प्रत्ययों को काम में लाया जाता है या संज्ञा शब्दों का मूल रूप में व्यवहार होता है। चन्दायन में दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, जैसे–

(क) परसर्ग तथा विभक्तिसूचक प्रत्यय से रहित पुलिंग एकवचन संज्ञा के रूप–
गोबर तजि हौं जाउँ पराई। (७०।१)

(ख) परसर्ग तथा विभक्तिसूचक प्रत्यय से रहित बहुवचन विकारी रूप–
(१) तेल फुलेल दुवउ अन्हवाए। (४१।१)
(२) एक घाट दुहुं पानि पियावइ। (१२।३)

(ग) विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के योग से बना हुआ स्त्रीलिंग रूप–
चांदहि गरुव भयउ घरबारू (५०।१)

(घ) 'कह' परसर्ग के योग से बने हुए कर्मकारक रूप–
(i) एक खम्भ में दिनि कहँ दीन्हा (१२।१)
(ii) सत जो हाइ दुहुन्ह कहँ भाखै (१२।३)
(iii) देश कै डाँड़ आउ महरे कहँ (२७।७)
(iv) तो कहँ वरहि न आवइ काऊ (४०।२)

करण कारक– इस कारक के रूपों का निर्माण 'सों' परसर्ग द्वारा हुआ है, जैसे–

(१) कहहु महर सों मोर जुहारू। (३७।२)
(२) कही महर सों जाइ। (४६।६)

अथवा संज्ञा रूपों का प्रयोग बिना किसी विभक्तिसूचक प्रत्यय अथवा परसर्ग के हुआ है, जैसे– एक दीठि देखइ संसारू। (१२।५)

सम्प्रदान कारक– इस कारक के रूपों का निर्माण प्राय: 'कहँ', 'लागि' आदि परसर्गों द्वारा हुआ है, जैसे–

(१) महरि देखि हौं दही कहँ आयउँ। (४४१।३)
(२) काहि लागि तूं ढाँकसु, उठू आपुन घर आउ। (४४९।६)

अपादान कारक– इस कारक के रूप निर्माण में प्राय: 'हुत' का योग मिलता है–

(१) सरगहुत चाँद उतरि जनु आई। (३५८।६)
(२) कहु पंडित फिर कितहुत आवा। (४२५।३)

सम्बन्ध कारक– इस कारक के रूपों का निर्माण 'क', 'का', 'के', 'कै', 'कइ', 'कर', 'केर' आदि अनेक परसर्गों की सहायता से हुआ है। इनके अतिरिक्त; विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' के द्वारा भी सम्बन्ध कारक के रूप बनाये गये हैं, जैसे–

'क' परसर्ग का प्रयोग–
(१) मलिक मुबारिक दुनिक सिंगारू। (१३।१)
(२) कहाँ क पुरुख कहाँ कै जोई। (३९।४)
(३) दूज क चाँद जान संसारू। (३३।२)

'का' परसर्ग का प्रयोग–
(१) तू का जानसि पुरुख अंढारी। (४७।२)
(२) तू अचेत पुरुख का जानसि। (४७।३)

'क' परसर्ग का प्रयोग–

(१) एक एक के तर चेरि अकासी। (३२।१)

'कै' परसर्ग का प्रयोग–

(१) फेरि नहिं घरै सीझ कै पाऊ। (१३।५)

(२) मलिक मुबारिक तहाँ कै मीरू। (१७।५)

(३) रायमहर कै बारी, देवस होइ अँधियार। (१८।७)

'कइ' परसर्ग का प्रयोग–

(१) ईगुर पानि ढार कइ राता। (३१।१)

'कर' परसर्ग का प्रयोग–

(१) जिन्ह सर दइ मुदकर कर घाऊ। (१३।५)

(२) गोबर कहौं महर कर ठाऊँ। (१८।१)

(३) बावन मोर दूध कर धोवा। (४९।३)

'केर' परसर्ग का प्रयोग–

(१) पुरिस पचास केर गहराई। (२४।१)

विभक्तिसूचक प्रत्यय 'हि' का प्रयोग–

(१) अब कस देवतहिं दोस। (४४८।६

अधिकरण कारक– इस कारक के रूपों का निर्माण 'पहँ', 'महँ', 'माँझ', आदि परसर्गों और विभक्तिसूचक प्रत्यय 'एँ' द्वारा हुआ है, जैसे–

'पहँ' परसर्ग का प्रयोग–

(१) सुनि के महरि चाँद पहँ आई। (४७।१)

(२) चला बीर राजा पहँ आवा। (४३२।२)

'महँ' परसर्ग का प्रयोग–

(१) फिर लोर मंदिर महँ भावा। (४३१।४)

(२) परी रात महँ पँवर बँधाई। (४३७।२)

'माँझ' परसर्ग का प्रयोग–

(१) सपने माँझ जो देखेउँ आवा। (४४०।२)

विभक्तिसूचक प्रत्यय ''ऐं'' का प्रयोग–

(१) भले घरैं भयउ अवतारू। (३३।२)

(२) सोने थार हीयें चुन धरे। (८८।१)

सर्वनाम– चन्दायान में सर्वनामों का प्रयोग प्राय: अवधी की प्रवृत्ति के अनुरूप ही हुआ है, यद्यपि सर्वनाम के कई रूपों का प्रयोग हिन्दी की कई बोलियों में समान रूप से होता है। अत: कभी-कभी यह निश्चय कर सकना काफी कठिन हो जाता है कि मूल रूप में वे किस विशिष्ट बोली के हैं। इसके अतिरिक्त; कुछ रूप ऐसे भी हैं, जो पूर्वी हिन्दी में नहीं पाये जाते हैं, किन्तु दाऊद और तुलसीदास– दोनों ने उनका प्रयोग किया है। जैसे– अवधी में उत्तमपुरुष वाचक सर्वनाम– 'एकवचन तथा बहुवचन' दोनों के लिए 'हम' आता है। अवधी या पूर्वी हिन्दी में 'मैं' का अभाव है। दाऊद ने हम (३७।५) के अतिरिक्त 'मैं' (९।२), (४५।५) का भी प्रयोग किया है। रामचरितमानस में भी 'मैं' विद्यमान है ('मैं बैरी सुग्रीव पियारा' 'अथवा अंगद कहाँ जाऊँ मैं

पारा')। इसके अतिरिक्त; पुरुषवाचक सर्वनामों के विभिन्न कारक रूपों, जैसे– हौं (९।२), (३१।१), मोरैं (३६।६), मोर (३७।३), मुँहि (३७।७), तोकों (४९।१), तुम्ह (४७।६, ते (२१।४), तूं (३७।३) आदि के प्रयोग पाए जाते हैं।

सम्बन्धवाचक सर्वनामों के लिए दाऊद ने 'जे' (७।७), 'चिह' (९।२), 'जो' (१२।७), 'जिन्ह' (१३।५) का प्रयोग किया है। इसी प्रकार, निश्चयवाचक सर्वनाम के लिए 'इह' (१।१), 'तिन्ह' (१३।३), प्रश्नवाचक सर्वनाम के लिबए 'को' (२६।५), अनिश्चयवाचक के लिए 'काउ' (३२।६), 'कासों' (३६।६), निजवाचक के लिए 'आपुन' (२४।७) और नित्य सम्बन्धी के लिए 'सो' (४२।४) आदि प्रयोग मिलते हैं।

क्रिया– प्राचीन कवियों की रचनाओं में क्रियारूपों का विवेचन सरल कार्य नहीं है, क्योंकि इन कवियों ने संस्कृत और अपभ्रंश की परम्परा से प्राप्त धातुओं को मूल रूप में भी स्वीकार किया है और विकृत रूप में भी। इसके अतिरिक्त; इन कवियों ने संज्ञा, विशेषण आदि अन्य शब्द-भेदों से भी नये क्रियारूपों को गढ़ लिया है। चन्दायन में संस्कृत की धातुएँ मूल रूप में बहुत कम पायी जाती हैं। प्राय: उनमें अवधी के अनुरूप विकार आ गये हैं। प्राकृत-अपभ्रंश से गृहीत धातुओं में कहीं-कहीं पर उनका प्राचीन रूप सुरक्षित है। कुछ क्रियाएँ ठेठ जन-भाषा से ली गयी हैं।

धातुओं की निर्माण-पद्धति का संकेत कर देने के बाद, अब हम चन्दायन में प्रयुक्त सहायक क्रियाओं और कृतंदों का संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

सहायक क्रिया– सहायक क्रियाओं का विधान ठीक अवधी के अनुरूप हुआ है। मुख्य सहायक क्रिया 'होना' के चंदायन में विविध रूप पाये जाते हैं। वर्तमान निश्चियार्थक अन्यपुरुष एकवचन के लिए– 'है', 'आह', 'अहै', 'होइ' आदि रूपों के प्रयोग पाये जाते हैं, जैसे–

(१) है– पुरिस साठ कै है चौड़ाई। (२५।२)

(२) आह– हाथ तीस कर आह ऊँचाई। (२५।२)
उहौ आह तुम्हारेहु आई। (३८।१)

(३) अहै– सबै सचेत वह अहै अयानी। (३२।३)

(४) होई– देवस होइ अँधियार। (१८।७)
होइ रजायसु आनौ सोई। (७२।२)
बभन परदेसी (४२५।५)
तु न होइ भूतनिश्चयार्थ के अन्तर्गत चन्दायन में 'भा', 'भई' 'भई', 'भये', 'भयी', 'रहा', 'रहे' आदि अनेक रूप पाए जाते हैं, जैसे–

(१) भा– सातो चन्दर नखत भा माँगा। (३३।३)
अगिन बरक भा चाँदा। (३५।६)

(२) भइ– पाँचों दिवस छठी भइ राती। (३५।१)

(३) भई– धरती सरग भई उजियारी। (३३।१)

(४) भये– भये सपूरन चौरस राती। (३३।४)
भये असवार राइ औ राने। (४२।५)

(५) भयी– भयी जेउनार फिर आए पाना। (४३।४)

(६) रहा– मानुस बहुत सो देखत रहा। (४३।५)

(७) रहे– अलत समुंद मानिक भर रहे। (७९।४)

कृदन्त– कृदन्तों के अन्तर्गत क्रियार्थक संज्ञाएँ, कर्त्तावाचक संज्ञाएँ, वर्तमानकालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, भविष्यकालिक कृदन्त आदि आते हैं। चन्दायन में इनके रूप प्राय: अवधी के ही मिलते हैं। क्रियार्थक संज्ञा के निर्माण में 'ना', 'ने', 'बा' आदि प्रत्ययों को जोड़ा गया है। वर्तमानकालिक कृदन्त प्राय: 'त', 'ता' के योग से बने हैं। भूतकालिक कृदन्तों के लिए मूल धातु में 'आ', 'ई', 'ए' को जोड़ दिया गया है। भविष्यकालिक कृदन्त के लिए 'उब'' को जोड़ा गया है। प्रेरणार्थक क्रियारूपों का निर्माण मूल धातु में 'आ', 'वई' प्रत्ययों के योग से हुआ है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं–

(क) क्रियार्थक संज्ञा–

(१) देखि लुभाने ठाऊं। (२०।६)

(ख) वर्तमानकालिक कृदन्त–

(१) देखत मोतीचूर सुहावइ। (२१।३

(२) कहत सुनत अस जानै। (२०।७)

(ग) भूतकालिक कृदन्त–

(१) जिन सिरजा इह देवस बयारा। (१।१)

(घ) भविष्यकालिक कृदन्त–

(१) सुरुज कहा मैं चाँद बुलाउब।
सगुन बाँचि दै पुरुष चलाउव।। (२९०।१)

(ङ) प्रेरणार्थक क्रिया–

(१) थकैं पैरैं लोग चढ़ावइ। (१२।२)

(२) एक घाट दुहुँ पानि पियावइ। (१२।४)

(३) काँध तोरइ रकत बहावइ। (१३।३)

काल– सामान्य रूप से काल तीन माने जाते हैं। फिर इनके कई भेदोपभेद किए जाते हैं। खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रज या अवधी में उपभेदों का स्पष्ट विभाजन करना काफी कठिन है। चन्दायन में काल-रचना में जिन नियमों का अनुसरण किया गया है, उन्हें मोटे तौर पर इस प्रकार रक्खा जा सकता है–

सामान्य वर्तमान काल उत्तमपुरुष एकवचन के अन्तर्गत मूलधातु के साथ '' ', 'औं' प्रत्यय को जोड़ दिया गया है, जैसे–

(१) पहिले गावउं सिरजरहारा। (१।१)

(२) गोबर कहौं महर कर ठाऊं। (१८।१)

सामान्य वर्तमान काल मध्यपुरुष एकवचन के लिए मूल धातु में 'सि' का प्रयोग हुआ है, जैसे–

(१) जै तू जैहसि मैके, अभौ पठौं संदेस। (४९।६)

(२) कहसि न चाँद कहाँ ते आई। (४४७।२)

सामान्य वर्तमान काल अन्यपुरुष एकवचन के लिए प्राय: मूल धातु का प्रयोग हुआ है और बहुवचन के लिए 'हिं' को जोड़ा गया है, जैसे–

(१) कीनर गावहिं होइ पँवारा। नट नाचहिं औ बाजहिं तारा।। (२९।५)

सामान्यभूत काल में अन्यपुरुष के लिए मूल धातु के साथ 'असि', 'न्ह' का योग हुआ है। मध्यम पुरुष के लिए 'आ', 'ई' का योग हुआ है, उत्तम पुरुष के लिए 'एउँ' का योग हुआ है तथा अपूर्णभूत के लिए 'रहै' आया है, जैसे–

(१) सिरजसि चाँद सुरुज उजियारा। (१।३)

(२) झाँखत हिये कीन्ह डर आनू। (२४।४

(३) कहेउँ एक सो गाइ। (१।६)

(४) देखत रहै न लागै भूखा। (१८।२)

अव्यय– अव्यय कई प्रकार के होते हैं। सम्बन्धवाचक, स्थानवाचक, रीतिवाचक, कालवाचक, दिशावाचक और कारणवाचक आदि उनके मुख्य भेद हैं। चन्दायन में अव्ययों का प्रयोग इस प्रकार हुआ है–

(क) सम्बन्धवाचक–

(१) जहिं लगि सबै पिरथमी सिरी। (६।२)

(२) बिन पानी सातू कस सानसि। (४७।३)

(३) जस मछरी देखी बिनु पानी। (५१।२)

(ख) स्थानवाचक–

(१) नरियर गोवा कै तहँ रूखा। (१८।२)

(२) जानौं सूर दिपै जिंह आँगा। (३३।३)

(३) जहाँ महर बतसार सँवारी। (४३।१)

(ग) रीतिवाचक–

(१) चहूँ भुवन अस बात बखानी। (३६।२)

(२) औ जस जान कहसि सँवारी। (३७।४)

(३) जइसन बर घर सुनी सँकारी। (३७।४)

(घ) कालवाचक–

(१) झेलस करे राज नित, भूंजहि सासन गाँउ। (२७।६)

(२) जो तुम्ह रायि महर के बेटी, आजहुँ कुर न लजाइ। (४६।६)

(ङ) दिशावाचक–

(१) जिन चाहे सब आह। (२८।७)

(२) चहूँ भुवन अस बात बखानी (३६।२)

(३) इत कहि के बाँभन नाऊ, दोऊ दीन्हि चलाइ (३७।६)

(च) कारणवाचक–

(१) काहे बहु रजलस खाई। (४७।१)

(२) कहहुँ च.ँद कस कीन्ह बिलासा। (५२।५

(छ) समुच्चयबोधक–

(१) सिरजिसि छाँह सीउ औ धूपा।
सिरजिसि किरतन और सरूपा।। (१।४)

(२) अउर जो साथ गाँठ है मोरे। (३५७।२

(३) बसहिं गँधाई औ बनजारा। (३६।३)

चन्दायन की भाषा के इस संक्षिप्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि मौलाना दाऊद अवधी के प्रथम श्रेष्ठ कवि हैं। उन्होंने ठेठ जनभाषा में काव्य-रचना करके न केवल अपने भाषा-अधिकार का प्रमाण दिया, अपितु परवर्ती अवधी भाषा के कवियों के लिए एक आदर्श भी प्रस्तुत किया। यदि यह कहा जाए कि ब्रजभाषा के विकास में जो स्थान सूरदास का है, अवधी के प्रसार में वही स्थान मौलाना दाऊद का है, तो अतिशयोक्ति न होगी।

सन्दर्भ-सूची

१. श्री परमेश्वरी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित– चन्दायन, पृ. ८४

२. ७८१ हिजरी के पहले यानी मुहर्रम की पहली तारीख २८ अप्रैल, सन् १३७९ ई. को पड़ी थी।

३. (i) "Khan-i-Jahan Maqbul was originally a Hindu of Telangana, but had latterly embraced Islam. ...When he died in 1370 A.D. his son Juna Shah, who was born at Multan during the reign of Muhammad Tughluq, was confirmed in his office and the title which his father had so long enjoyed, was bestowed upon him."
(ii) "Sham-i-Siraj Afif says that Khan-i-Jahan died in 770 A.H. (1368 A.D.) and was succeeded by his son, but in another place he says that he was alive in 772 A.H. (1370 A.D.). The latter date is correct. It is supported by an inscription in the, black mosque, near the tomb of Shaikh Nijamuddin Aulia, in which the date of the son's entry in office is given as 772 A.H."
Dr. Ishwari Prasad : History of Mediaevel India, p. 282

४. चन्दायन, पृ. १९

५. श्री रामपूजन तिवारी– सूफी मत : साधना और साहित्य, पृ. ४५४

६. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सम्पादित 'पद्मावत' की भूमिका, पृ. ९-१०

७. श्री परमेश्ववी लाल गुप्त द्वारा सम्पादित 'चन्दायन' की भूमिका, पृ. ३१-३२

८. वही, पृ. ३४

९. वही, पृ. ३५

१०. वही, पृ. ३५

११. देखिये– उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण सम्पादक– जिनविजय मुनि : प्रकाशक– भारतीय विद्या भवन, बम्बई

●

कामायनी : एक बहुआयामी काव्य

(अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास का त्रिवेणी संगम)

डॉ. जैस्मीन पटनायक*, डॉ. हिमांशु शेखर सिंह**

प्रस्तावना : 'कामायनी' जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित एक अनुपम महाकाव्य है, जो भारतीय काव्यधारा में अपनी विलक्षण बहुआयामिता के कारण अद्वितीय स्थान रखता है। यह काव्य न केवल सौन्दर्य-बोध की पराकाष्ठा है, अपितु भारतीय चिन्तन की गहराइयों में उतरने वाला एक महनीय प्रयास भी है।

'कामायनी' अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास– इन तीनों विमर्शों का त्रिवेणी संगम प्रस्तुत करता है, जहाँ मानव की आन्तरिक यात्रा, उसकी मानसिक अवस्था और सभ्यता की ऐतिहासिक गाथा एक समग्र दर्शन में रूपायित होती है। अध्यात्म की दृष्टि से यह काव्य मनुष्य की चेतना की विकास-यात्रा का प्रतीक है, जिसमें श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया जैसे मानस-तत्त्वों के माध्यम से आत्मानुभूति का पथ प्रशस्त होता है। मनोविज्ञान के धरातल पर 'कामायनी' मानवीय भावनाओं, अन्तर्द्वन्द्वों और स्वभावगत प्रवृत्तियों का बारीक विश्लेषण करती है। मनु और श्रद्धा के सम्वाद में मानव-मन के विविध आयाम उद्घाटित होते हैं। वहीं, इतिहास के आलोक में यह काव्य प्रलय के बाद के नवीन सृजन की रूपकात्मक गाथा है, जिसमें आर्य सभ्यता की उत्पत्ति, विकास और सांस्कृतिक चेतना का चित्रण किया गया है। इस प्रकार, 'कामायनी' एक काव्य न रहकर भारतीय दर्शन, संस्कृति और मानवीय मनोभूमियों की प्रतिनिधि बन जाती है, जो साहित्य और चिन्तन की परम्परा में अमिट छाप छोड़ती है।

बीज शब्द : अध्यात्म, मनोविज्ञान, इतिहास, श्रद्धा, मनु, चेतना।

'कामायनी' भारतीय साहित्य का एक अद्भुत महामंत्र है, जो जीवन के गहरे रहस्यों का उद्घाटन करता है। यह केवल कविता का संग्रह नहीं, बल्कि आत्मा की पुकार है। यह मानव-जीवन के तीन महान आधार– अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास– के अद्भुत संगम का प्रतीक है। इस त्रिवेणी का प्रवाह मानव-हृदय में शान्ति, शक्ति और जागरूकता का संचार करता है, जिससे जीवन का अदृश्य अर्थ उजागर हो उठता है। हिन्दी साहित्य में महाकाव्यात्मक कृतियों की परम्परा में जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' एक अनूठा मील का पत्थर है। यह न केवल एक काव्य-रचना है, बल्कि दर्शन, मनोविज्ञान और इतिहास का एक सशक्त समागम भी है। कामायनी वैदिक मिथकों की पृष्ठभूमि में आधुनिक युग की चेतना को समाहित करती है और मानव-मन की जटिलता, आध्यात्मिक यात्रा तथा सभ्यता के विकास की गाथा को काव्यात्मक सौन्दर्य में पिरोती है। कामायनी का आध्यात्मिक पक्ष अत्यन्त गूढ़ एवं दार्शनिक है। इसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से आत्मा की यात्रा, चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ और जीवन के रहस्यों की गहराई को उजागर किया गया है।

श्रद्धा और इड़ा– श्रद्धा जहाँ भक्ति और आत्मिक तत्त्व की प्रतीक है, वहीं इड़ा बुद्धि और तर्क की प्रतिनिधि है। इन दोनों का संतुलन अध्यात्म की ओर ले जाता है।

मनु का द्वन्द्व– मनु का संघर्ष भौतिक और आध्यात्मिक तत्त्वों के बीच झूलता है, जो योग

* सहायक प्रोफेसर- हिन्दी, कलिंग इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंस, भुवनेश्वर, उड़ीसा
** अध्यक्ष- हिन्दी विभाग, नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

और तत्त्वज्ञान के उच्चतम सिद्धान्तों की ओर संकेत करता है।

उपनिषदों और वेदों का प्रभाव– काव्य में सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की गूँज सुनाई देती है। 'तत्त्वमसि', 'अहम् ब्रह्मास्मि' जैसे वैदिक सूत्रों की छाया रचना में प्रत्यक्ष है। सबसे पहले, इस कविता में अध्यात्म का स्वरूप दिव्य और विराट् है। यहाँ काम, कामना और कामायनी का प्रतीकात्मक प्रयोग मानव-आत्मा की उस अनन्त यात्रा का संकेत है, जो परमात्मा से मिलन का साक्षात्कार कराती है। कविता में 'काम' केवल इच्छाओं का नाम नहीं, बल्कि वह शक्ति है, जो मनुष्य को उसकी परम मंजिल– आत्मा का परमात्मा से मिलन– की ओर ले जाती है। इस तरह, 'कामायनी' का व्यक्तित्व उस दिव्य शक्ति का प्रतीक है, जो मानव को उसकी आत्मिक उन्नति का मार्ग दिखाती है और जीवन को आध्यात्मिक आलोक से प्रकाशित कर देती है। कामायनी मानव-मन की गहराइयों में उतरने का प्रयास है। जयशंकर प्रसाद ने मनोवैज्ञानिक स्तर पर पात्रों के मानसिक द्वन्द्व, अवचेतन भावनाओं और आत्मसंघर्ष को चित्रित किया है।

मनु का आत्मसंघर्ष– यह एक मनुष्य का अपने ही भीतर के आवेगों, निर्णयों और पछतावों से जूझना है।

भावनात्मक अवस्थाएँ– रचना में आनन्द, श्रद्धा, स्मृति, काम, ईर्ष्या, आशा आदि १५ अध्याय हैं, जो प्रत्येक एक मनोवैज्ञानिक अवस्था का चित्रण करते हैं।

जुंग और फ्रायड के सिद्धांत– मनु का स्वप्न, भ्रम, मोह आदि अवस्थाएँ विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की अवधारणाओं से मिलती-जुलती हैं। दूसरे, मनोविज्ञान के प्रकाश में यह काव्य मानव-मन की जटिलताओं का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें इच्छाओं का द्वन्द्व, भय और आशाओं का संघर्ष, अन्तर्मन की जटिलता और उसकी विविध अनुभूतियों का चित्रण है। कविता के पात्र अपने मनोभावों के साथ संघर्ष करते हैं, जिनमें मानव-जीवन के विविध रंग उभरते हैं। यह मनोविज्ञान का अध्ययन है, जो मानव के आन्तरिक द्वन्द्वों को समझाने का माध्यम है। यहाँ मनोवृत्तियों की विविधता, आशंकाएँ और आकांक्षाएँ मानव-जीवन के यथार्थ का दर्पण हैं, जो हमें आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रेरित करते हैं। कामायनी का ऐतिहासिक आधार प्रलय और मनु की कथा से जुड़ा हुआ है, जो वेदों एवं पुराणों में वर्णित है। इस ऐतिहासिक मिथक को लेखक ने सांस्कृतिक और दार्शनिक आयामों के साथ पुनर्निर्मित किया है।

वैदिक सभ्यता का पुनर्पाठ– यह महाकाव्य वैदिक काल की सांस्कृतिक चेतना, मानव-मूल्यों और सामाजिक संरचना की पुनर्व्याख्या करता है।

सभ्यता के पुनर्निर्माण की चिंता– मनु द्वारा नये समाज की स्थापना का प्रयास, इतिहास को पुन: गढ़ने का प्रतीक है।

पुरातत्व और संस्कृति का संवाद– रचना में ऐतिहासिक तथ्यों के साथ प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग कर सभ्यता के उत्थान और पतन को दर्शाया गया है। इतिहास का सन्दर्भ इस कविता में उस कालखण्ड का चित्रण करता है, जब मानवता ने अपनी परम्पराओं, संघर्षों, विजय और पराजयों का सामना किया। प्रसाद ने विभिन्न युगों का उल्लेख कर, मानव जाति के उत्कर्ष और पतन की कथा को अभिव्यक्त किया है। यह कविता न केवल व्यक्तिगत यात्रा है, बल्कि मानव-सभ्यता के इतिहास का भी एक विराट् स्वरूप है– उस संघर्षमय यात्रा का, जिसने मानवता को ऊँचाइयों और गिरावट की अनुभूतियों से परिचित कराया। इस प्रकार, 'कामायनी' का यह त्रिवेणी संगम मानव-जीवन की गहराइयों का एकाकार है, जो जीवन की विविधता और उसकी अनन्त यात्रा का उद्घाटन करता है। कामायनी न केवल विचारों में बहुआयामी है, अपितु अपनी भाषा, प्रतीक और शैली में भी अद्वितीय है।

प्रतीकात्मकता– मनु, श्रद्धा और इड़ा प्रतीक हैं– मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों के।

सम्वेदनशील भाषा– प्रसाद की शैली गहन, काव्यात्मक और सौन्दर्यपूर्ण है, जो भाव और दर्शन– दोनों को अभिव्यक्त करती है।

छन्दों और अलंकारों का प्रभाव– महाकाव्य की गरिमा को बनाए रखते हुए प्रसाद ने विविध छन्दों के साथ ही; अनुप्रास और उपमा अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया है। यद्यपि कामायनी का आधार पौराणिक है, लेकिन इसके मूल प्रश्न आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं कि– मनुष्य कौन है? जीवन का लक्ष्य क्या है? भावनाओं और तर्क का संतुलन कैसे सम्भव है?

आध्यात्मिक संकट और उत्तर-आधुनिक जीवन– आज के समाज में आस्था, तर्क, भावना और भौतिकता के बीच संघर्ष साफ दिखता है, जिसकी जड़ें कामायनी में खोजी जा सकती हैं।

मानवता की सार्वभौमिक व्याख्या– यह काव्य समूची मानवता की आन्तरिक यात्रा और आत्मविकास की खोज है। कामायनी एक ऐसा महाकाव्य है, जो साहित्य की सीमाओं को लाँघकर दर्शन, मनोविज्ञान और इतिहास को एक साथ पिरोता है। जयशंकर प्रसाद की यह कृति एक त्रिवेणी संगम है, जहाँ अध्यात्म जीवन की ऊँचाइयों की ओर ले जाता है, मनोविज्ञान मानव-हृदय की गहराइयों में उतरता है और इतिहास सभ्यता की यात्रा को पुन: स्मरण कराता है। यह काव्य न केवल पढ़ा जाता है, बल्कि आत्मा में उतरकर अनुभव किया जाता है। 'कामायनी' आधुनिक हिन्दी साहित्य की वह अद्वितीय काव्यकृति है, जिसमें श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त सांस्कृतिक चेतना, आधुनिक मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिकता-बोध की त्रयी संगमित होकर एक नवीन काव्य-तीर्थ की सृष्टि करती है। जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित यह महाकाव्य वस्तुत: मानव-अस्तित्व के आध्यात्मिक उत्कर्ष, मानसिक संघर्ष और सभ्यता के उत्थान-पतन की त्रिस्तरीय व्याख्या है। जैसा कि भारतीय काव्यशास्त्र में कहा गया है– 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'– अर्थात् वह वाणी, जो रस को उद्भासित करे, वही काव्य है।

कामायनी इसी परिभाषा को मूर्त्त रूप देती है, जहाँ शृंगार, करुण, शान्त और अद्भुत रसों की अंत:धारा बहती है। अध्यात्म के क्षेत्र में कामायनी वैदिक चिन्तन और उपनिषदों की आत्मान्वेषी दृष्टि को आधुनिक काव्यभाषा में रूपायित करती है। 'श्रद्धा' और 'मनु' के माध्यम से यह मानव आत्मा के 'अविद्या से विद्या की ओर' गतिशील होने की प्रक्रिया का काव्यात्मक अन्वेषण है। जैसा कि 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है–

'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतमश्नुते।'

(जो अविद्या और विद्या– दोनों को एकसाथ जानता है, वह अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करता है और विद्या द्वारा अमृत को प्राप्त करता है।)

कामायनी में यही बोध 'आस्था और विवेक' के समन्वय के रूप में उद्भासित होता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से, यह काव्य मानव-मन की अतल गहराइयों में उतरता है। श्रद्धा, इड़ा, स्मृति, ज्ञान, क्रोध, वासना, चिन्ता आदि भावनात्मक प्रतीक केवल चरित्र नहीं, अपितु मन के विविध स्तरों के मनोवैज्ञानिक रूपान्तरण हैं। प्रो. नंददुलारे वाजपेयी लिखते हैं– ''कामायनी एक मनुष्य के आत्मान्वेषण का महाकाव्य है, जिसमें बाह्य घटनाओं की अपेक्षा अंत:स्थितियों का सौन्दर्यपूर्ण आख्यान अधिक है।'' ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में कामायनी प्रलय एवं सृजन के मिथकीय वृत्तान्त के माध्यम से न केवल अतीत की व्याख्या करती है, वरन् सभ्यता की पुनर्नवा दिशा का संकेत भी देती है। यह काव्य भारतीय इतिहास-बोध को प्रतीकात्मक भाषा में सामने लाता है, जहाँ जलप्रलय, सभ्यता का पतन और पुनर्निर्माण मानवीय मूल्य और वैज्ञानिक दृष्टि के अंत:संघर्ष

के प्रतीक हैं। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा– ''कामायनी न तो केवल इतिहास है, न केवल दर्शन– वह मानव-मन की यात्रा का काव्य है, जो अंधकार से प्रकाश, मोह से मुक्ति और एकाकीपन से समरसता की ओर गमन करता है।'' कामायनी का यह त्रिवेणी संगम– अध्यात्म की गहराई, मनोविज्ञान की सूक्ष्मता और इतिहास की व्यापकता को समेटे हुए– हिन्दी साहित्य की एक कालजयी उपलब्धि है। यह काव्य न केवल आधुनिक युग की चेतना को सम्बोधित करता है, वरन् सनातन भारतीय चिन्तन की अजस्र धारा को भी प्रवाहित करता है। 'कामायनी' एक संस्कृतिनिष्ठ, मानव-केन्द्रित तथा दार्शनिक काव्य है, जो रस, भाव, अर्थ और अनुभूति के माध्यम से पाठक को आत्मचिन्तन की ओर प्रवृत्त करता है। इसकी बहुआयामी संरचना और सांद्र अनुभूतियाँ इसे साहित्यिक साधना का सर्वोच्च उदाहरण बनाती हैं, जहाँ 'काव्य' न केवल मनोरंजन, अपितु मोक्ष का माध्यम बन जाता है। 'कामायनी' का यह त्रिवेणी संगम– अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास– मानव-जीवन के जटिलतम पहलुओं का एक दिव्य समागम है। यह कविता हमें अपने अन्दर झाँकने और जीवन के सत्य को समझने का अवसर प्रदान करती है। यह वह दीपक है, जो जीवन के अंधकार को चीर कर, हमें उच्चतम आदर्शों और आत्मिक ऊँचाइयों की ओर अग्रसर करता है। प्रसाद की यह रचना मानव-हृदय में नवीन ऊर्जा, जागरूकता और प्रकाश का संचार करती है, जो हमें जीवन के वास्तविक अर्थ को प्रकट करने की प्रेरणा देती है।

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय काव्यकृति है, जो न केवल छायावादी युग का शिखर-बिन्दु मानी जाती है, अपितु भारतीय दर्शन, मनोविज्ञान और इतिहास को समेटे हुए एक गहन सांस्कृतिक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। यह काव्य मनुष्य की चेतना, आत्मबोध और जीवन की विविध अवस्थाओं का प्रतीकात्मक और दार्शनिक चित्रण प्रस्तुत करता है। 'कामायनी' एक ऐसा काव्य है, जिसमें अध्यात्म की गहराई, मनोविज्ञान की जटिलता और इतिहास की मौन धारा त्रिवेणी की भाँति प्रवाहित होती है। कामायनी का मूलत: अध्यात्म से सम्बन्ध उस ऋग्वैदिक आख्यान से जुड़ा है, जिसमें प्रलय के बाद मनु का जीवन आरम्भ होता है। यह आरम्भ केवल भौतिक नहीं, वरन् आत्मिक यात्रा का प्रतीक है। मनु मानव-चेतना का प्रतिनिधि है, जो श्रद्धा (भक्ति) और इड़ा (बुद्धि) के मध्य संतुलन खोजता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह काव्य वेदांत दर्शन के अनेक तत्त्वों को समेटे हुए है।

अद्वैत का प्रभाव– मनु की आत्मचिन्तन-यात्रा ब्रह्म और आत्मा के एकत्व को रेखांकित करती है।

श्रद्धा और भक्ति का प्रतीकवाद– श्रद्धा, केवल एक नारी पात्र नहीं, अपितु आत्मा की आस्था और प्रेम की प्रतीक है।

प्रलय और सृष्टि का चक्र– यह ब्रह्माण्डीय दृष्टि, सृष्टि के चक्र को दर्शाती है, जहाँ हर अन्त एक आरम्भ है। कामायनी का अध्यात्म व्यक्ति को आत्मा के रहस्य में प्रवेश कराने का माध्यम बनता है, जहाँ व्यक्ति अपने भीतर के यथार्थ से साक्षात्कार करता है। 'कामायनी' में मनोविज्ञान एक केन्द्रीय तत्त्व के रूप में उभरता है। मनु की आन्तरिक यात्रा उसकी भावनाओं, आशंकाओं, सन्देहों और निर्णयों के माध्यम से, मानव-चेतना के गहन स्तरों का उद्घाटन करती है।

इड़ा और श्रद्धा का द्वन्द्व– इड़ा बुद्धि का प्रतिनिधित्व करती है और श्रद्धा भावना का। मनु का संघर्ष इसी द्वैत के मध्य है। यह संघर्ष मानव-मन के द्वैत– तर्क और भाव, विचार और सम्वेदना– को दर्शाता है।

अहं मन और आत्मा– मनु का आत्मसंकल्प और पश्चाताप उसके अहं और आत्मा के बीच के द्वन्द्व को उद्घाटित करता है।

फ्रायडियन विश्लेषण की सम्भावनाएँ– मनु का व्यक्तित्व अचेतन, प्राक्चेतन और चेतन की त्रयी के अनुरूप विश्लेषित किया जा सकता है। उसका व्यवहार अनेक बार उसकी दबी हुई इच्छाओं और भय के कारण प्रभावित होता है। प्रसाद की यह काव्यकृति मनुष्य की मानसिक संरचना को समझने का प्रयास करती है और इस प्रकार, साहित्य और मनोविज्ञान के मध्य सेतु का कार्य करती है। कामायनी केवल एक कल्पनात्मक आख्यान नहीं है, वह इतिहास की मौन धारा से जुड़ी हुई है। ऋग्वैदिक युग की पृष्ठभूमि में रचित यह काव्य उस काल के सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक सन्दर्भों को रूपायित करता है।

वैदिक जीवन और सभ्यता– अग्निहोत्र, यज्ञ, नदी-संस्कृति, तप और ज्ञान– ये सभी तत्त्व वैदिक सभ्यता की झलक देते हैं।

प्रलय और नवसर्जन का बिम्ब– प्रलय के पश्चात् मनु द्वारा नए जीवन की कल्पना, सभ्यता की पुनर्रचना का प्रतीक है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से सभ्यता के क्रमिक विकास का संकेत है।

स्त्री और समाज– श्रद्धा, इड़ा, कुमारिका आदि पात्रों के माध्यम से उस युग की स्त्री-चेतना, भूमिका और संघर्ष को भी कवि ने रेखांकित किया है। इतिहास यहाँ शुष्क तथ्य नहीं, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति और आत्मबोध की यात्रा का अंग बन जाता है। कामायनी की सबसे सशक्त विशेषता उसकी प्रतीकात्मकता है। यह काव्य एक अर्थ में बिम्बों और प्रतीकों की विस्तृत परम्परा का सम्वाहक है।

प्रतीकों का संसार– मनु– मानव चेतना, श्रद्धा– आस्था, इड़ा– तर्क, प्रलय– आत्मिक शून्यता, सृष्टि– पुनरागमन का प्रतीक हैं।

काव्यभाषा की संगीतात्मकता– प्रसाद की भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी अत्यन्त सरस, संगीतात्मक और भावपूर्ण है।

छन्द और लय का सौन्दर्य– 'कामायनी' छन्द की दृष्टि से भी एक सशक्त काव्य है, जहाँ कवि ने मनोभावों के अनुसार भाषा का प्रवाह चुना है। कामायनी का दर्शन आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना उसके रचनाकाल में था। यह मनुष्य को बाह्य समाधान के स्थान पर आत्मावलोकन और आत्मविकास की प्रेरणा देता है।

आधुनिक मानव का संकट– आज का मनुष्य भी मनु की भाँति श्रद्धा और इड़ा के बीच उलझा हुआ है– भावना और तर्क, प्रेम और विज्ञान, भक्ति और बुद्धि के द्वन्द्व में।

आत्म-चिन्तन की आवश्यकता– प्रसाद का सन्देश यही है कि बाह्य प्रगति के साथ-साथ आन्तरिक विकास भी आवश्यक है।

सर्वधर्म समभाव और मानवतावाद– कामायनी का दर्शन किसी एक मत या पंथ तक सीमित नहीं; यह सार्वभौमिक मानव-मूल्यों का उद्घोष करता है। 'कामायनी' केवल एक महाकाव्य नहीं, अपितु भारतीय मनीषा, आत्मचेतना और सांस्कृतिक विरासत की त्रिवेणी है। इसमें अध्यात्म की ऊँचाई, मनोविज्ञान की गहराई और इतिहास की स्थायित्वशीलता एक साथ प्रतिध्वनित होती है। जयशंकर प्रसाद ने इस काव्य के माध्यम से न केवल साहित्य को समृद्ध किया, वरन् मानव-आत्मा के सूक्ष्मतम स्तरों तक पहुँचने का मार्ग भी प्रशस्त किया। यह काव्य आज भी आत्मबोध, संतुलन और आंतरिक शान्ति की खोज में लगे मानव के लिए एक दीपस्तम्भ की भाँति है। कामायनी न केवल एक महाकाव्यात्मक कृति है, अपितु यह मानव-चेतना के विविध पहलुओं का समृद्ध विवेचन भी प्रस्तुत करती है। यह काव्य अध्यात्म, मनोविज्ञान एवं इतिहास के गहन मेल का एक अनुपम प्रतीक है, जो मानव-जीवन की अनुभूतियों एवं संघर्षों को त्रिवेणी सदृश संगम स्थल प्रदान करता है। अध्यात्म के विमर्श में कामायनी जीवन के गूढ़ सार की खोज करती है, जहाँ आत्मा

का विकास एवं परिपक्वता प्रमुख भावार्थ के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह काव्य मानव-मन की द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं एवं संकल्पों का सूक्ष्म चित्रण है, जो व्यक्तित्व के विविध आयामों को उद्घाटित करता है। वहीं, इतिहास के सन्दर्भ में, कामायनी समय के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करती हुई कालजयी सन्देश प्रदान करती है, जो वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होती है। कामायनी न केवल साहित्य के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व रचना है, अपितु यह मानव-जीवन के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक आयामों के समन्वय का अनमोल स्रोत भी है। इसकी बहुआयामी संरचना एवं समग्रता ने इसे हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान किया है, जो आज भी अध्ययन एवं चिन्तन के लिए प्रासंगिक एवं प्रेरणादायक है।

कामायनी केवल एक महाकाव्यात्मक रचना नहीं, अपितु हिन्दी साहित्य में अध्यात्म, मनोविज्ञान और इतिहास का त्रिवेणी संगम है, जैसा कि प्रसिद्ध काव्य-आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी मान्यता दी है– ''कामायनी मानव-मन की गूढ़तम मनोस्थितियों और जीवन की आध्यात्मिक अनुभूतियों का काव्यात्मक विमर्श है।'' इस कृति में मानव-चेतना के विविध पहलुओं का यथार्थ चित्रण समाहित है, जो न केवल व्यक्तिगत, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों के दायरे में भी विचरता है। मनोज्ञ भाषा और दार्शनिक गहनता के समन्वय से कामायनी जीवन की त्रासदियों, आशाओं और संकल्पों को एक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत करती है। प्रो. हृदयेश मिश्र के अनुसार– ''कामायनी मनोविज्ञान का काव्यशास्त्र है, जो अन्तर्मन के द्वन्द्वों को अभिव्यक्त करने में सक्षम है।'' इतिहास के सन्दर्भ में भी यह काव्य कालजयी सन्देश समेटे हुए है, जो समय के परिवर्तनशील सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य को प्रतिबिम्बित करता है। भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुरूप, जहाँ 'रस' और 'अर्थ' की भूमिका सर्वोपरि होती है, कामायनी में न केवल प्रेम और वीर रसों का सुगठित प्रवाह मिलता है, अपितु इसमें 'ज्ञान' और 'भय' जैसे भावों की समृद्धि भी दृष्टिगोचर होती है, जो इसे त्रिविध रसात्मक अनुभव प्रदान करते हैं। विद्वान् आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे हिन्दी साहित्य की 'सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक काव्य-रचना' बताया है, जो आधुनिक भारतीय काव्य की अभिव्यंजना में नवीन आयाम स्थापित करती है। कामायनी का यह बहुआयामी स्वरूप न केवल साहित्यिक सौन्दर्य की पराकाष्ठा है, बल्कि यह मानव-जीवन के आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक विमर्श का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भी है। इसकी गूढ़ता और व्यापकता आज भी हिन्दी साहित्य के अध्ययन एवं चिन्तन के लिए प्रासंगिक है और यह विद्वानों तथा पाठकों– दोनों के लिए सतत् प्रेरणा का स्रोत बनी रहेगी।

इस प्रकार, कामायनी त्रिवेणी संगम के रूप में एक ऐसा कालजयी काव्य है, जो जीवन की जटिलताओं और आध्यात्मिक अन्वेषण की अनुभूति को यथार्थ एवं सौन्दर्यपूर्ण रूप में प्रस्तुत करता है। कामायनी का यह त्रिवेणी संगम हमें यह सन्देश देता है कि मानव-जीवन की जटिलताओं को समझने एवं उनके समाधान की खोज में काव्यशक्ति एक सशक्त माध्यम हो सकती है।

निष्कर्ष– 'कामायनी' न केवल एक काव्य-ग्रन्थ है, अपितु भारतीय मनीषा की त्रैमासिक चेतना का सशक्त प्रतीक है, जिसमें अध्यात्म की गूढ़ता, मनोविज्ञान की गहराई और इतिहास की प्रतीकात्मक पुनर्रचना एकात्म भाव से समाहित है। जयशंकर प्रसाद की यह सृजनात्मक कृति मानव-जीवन की विविध अवस्थाओं, मानसिक उत्कण्ठाओं एवं दार्शनिक जिज्ञासाओं का कलात्मक अनुवाद है, जिसमें श्रद्धा, इड़ा और मनु जैसे पात्रों के माध्यम से आत्मा की चिरन्तन खोज, कर्म और ज्ञान के द्वन्द्व तथा भाव-बोध की पराकाष्ठा प्रस्तुत की गयी है। 'कामायनी' की मूल सम्वेदना मानवीय चेतना के उत्कर्ष और पतन के मध्य झूलते उस सेतु के समान है, जो व्यक्ति को

आत्मनिरीक्षण, संतुलन और समरसता की ओर ले जाता है। यह काव्य मनुष्य की अंत:प्रवृत्तियों का आख्यान है, जिसमें प्रत्येक सर्ग (Canto) एक विशिष्ट मनोभाव या अनुभव का ध्वन्यात्मक व चित्रात्मक प्रकटीकरण करता है। अत: कहा जा सकता है कि 'कामायनी' केवल एक साहित्यिक कृति नहीं, वरन् एक दार्शनिक यात्रा है, जहाँ कवि नायक के माध्यम से मानव-जीवन की गूढ़तम परतों को उद्घाटित करता है। यह काव्य भारतीय काव्य-परम्परा की सर्वोच्च उपलब्धि है, जो समयातीत होकर आज भी पाठक को आत्मचिन्तन और मानस-परिवर्तन के पथ पर प्रेरित करता है।

सहायक-ग्रन्थ

१. जयशंकर प्रसाद– कामायनी (२०२१), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. १–२३२
२. रामविलास शर्मा– निराला की साहित्य-साधना (भाग-३), (१९९५), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ७५–१०२
३. रामचन्द्र शुक्ल– हिन्दी साहित्य का इतिहास (२०१२), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. ३५१–३६८ (कामायनी का उल्लेख विशेष रूप से इस खण्ड में है)।
४. नामवर सिंह– आलोचना और विचारधारा (२००६), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. १२१–१३९ (प्रसाद और कामायनी सम्बन्धी चर्चा)।
५. हजारी प्रसाद द्विवेदी– हिन्दी साहित्य : परम्परा और प्रवृत्ति (२००४), साहित्य भवन, इलाहाबाद, पृ. ८९–१०८ (आध्यात्मिक विमर्श पर आधारित विश्लेषण)।
६. रामनारायण पाण्डेय– कामायनी : एक समन्वित दृष्टिकोण (२०१०), साहित्य निकेतन, वाराणसी, पृ. ३३–६१
७. विद्यानिवास त्रिपाठी– भारतीय काव्य-परम्परा और आधुनिक बोध (१९९८), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. २४१–१६०
८. विश्वनाथ मिश्र– कामायनी का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन (२००१), गंगा पब्लिकेशन, पटना, पृ. २७–७९ (मनोविज्ञान की दृष्टि से सविस्तार अध्ययन)।
९. मथुरानाथ चतुर्वेदी– जयशंकर प्रसाद की काव्य-चेतना (२००७), जनभारती प्रकाशन, दिल्ली, पृ. ५५–८८
१०. शंभुनाथ झा– आधुनिकता और प्रसाद का काव्य-दर्शन (२०१३), संवाद प्रकाशन, लखनऊ, पृ. १०४–१२७
११. भगवत शरण उपाध्याय– हिन्दी काव्य का स्वरूप (१९९९), साहित्य सदन, वाराणसी, पृ. १९१–२१२
१२. गिरिजा शंकर ओझा– कामायनी : प्रतीक और भाव-बोध (२००२), साहित्य लोक, भोपाल, पृ. ६६–९३ (प्रतीकात्मकता पर केन्द्रित)।
१३. रवीन्द्रनाथ सिन्हा– कामायनी : चिन्तन और सम्वेदना (२००५), काव्य भारती, पटना, पृ. ५१-७६
१४. हरिनारायण अवस्थी– आधुनिक हिन्दी काव्य की रूपरेखा (२०१०), भारत पुस्तक भवन, लखनऊ, पृ. १८३–२०४
१५. रामजी तिवारी– जयशंकर प्रसाद और आधुनिक चेतना (२०१६), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ९७–१२०

●

आज का भारत और जयशंकर प्रसाद का साहित्य

प्रो. श्रद्धा सिंह*

चिन्तन के इस असमंजस के दौर में कभी-कभी लेखक के बहुत महत्त्वपूर्ण विचार अनदेखे ही रह जाते हैं। विचार निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाते। जयशंकर प्रसाद के साहित्य में चिन्तन के ऐसे अनेक वैचारिक सूत्र हैं, जिन्हें आज के भारत के समय में रेखांकित किया जा सकता हैं। जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में भारतीय संस्कृति और इतिहास के प्रति गहरी आस्था दिखलाई देती है, जो आज भी भारत की पहचान का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। आज का भारत जयशंकर प्रसाद के साहित्य से प्रेरणा लेता है। उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त राष्ट्रीयता, प्रेम और मानवीय सम्वेदनाएँ उनको एक अलग पहचान देती हैं।

प्रसाद की अधिकांश रचनाएँ अतीत की पृष्ठभूमि पर लिखी गयीं, किन्तु उनकी दृष्टि व्यापक थी। वास्तव में; रचना की प्रासंगिकता विषय की पुरातनता या नवीनता में नहीं होती, अपितु उसके प्रति रचनाकार के सर्जनात्मक आचरण में होती है। इसके पीछे अन्तर्निहित लेखक के विचार, दृष्टि, सर्जन-विवेक महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेखक युग-बोध को सम्प्रेषित करने के लिए इतिहास का कोई भी प्रसंग ले, किसी भी कालखण्ड को औजार बनाए या कहीं से भी विषय चुने, देखना यह होगा कि दो कालों, दो भूमियों और दो विषयों को जोड़ने की क्षमता कितनी है? इसके लिए रचनाकार का सम्वेदनशील होना जरूरी है। प्रसाद अतीत से सन्दर्भों को लेते अवश्य हैं, किन्तु उनके मन में दो नहीं; तीनों काल थे। उनकी सम्वेदनशीलता के दायरे में अतीत, वर्तमान और भविष्य– तीनों एक साथ चलते हैं। उन्होंने इतिहास का पुनर्लेखन नहीं किया, बल्कि उसमें से ऐसे युगों और चरित्रों को उठाया, जो वर्तमान को भी दृष्टि और दिशा देते हैं। प्रसाद अतीत में जाकर एक उदार, सहिष्णु और धर्मनिरपेक्ष भारत की जमीन तैयार करते हैं। इसीलिए प्रसाद की ऐतिहासिक रचनाओं की प्रासंगिकता आज भी ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला या यशोधरा से श्रद्धा और इड़ा की तुलना करने से तथा 'भारत-भारती' से 'चंद्रगुप्त' या 'स्कंदगुप्त' नाटक की राष्ट्रीयता की तुलना करने पर हमें एक ही समय के दो रचनाकारों की काव्य-दृष्टियों में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। औपनिवेशिकता से प्रसाद की लड़ाई बुनियादी और गहरी है, जबकि राष्ट्रीय काव्यधारा के अन्य कवियों की रुचि तात्कालिक भावोद्वेग की अभिव्यक्ति मात्र है। यही कारण है कि जहाँ अन्य राष्ट्रीय काव्यधारा के कवियों की कृतियों का मात्र ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है, वहीं प्रसाद की कृतियाँ काल का अतिक्रमण करते हुए आज भी उतनी ही प्रासंगिक और सन्दर्भवान बनी हुई हैं। प्रसाद ने इतिहास को इतिहास-दृष्टि में प्राचीन दर्शनों को जीवन्त तत्त्व-बोध में बदलने का जो दुस्तर कार्य किया है, वह साधारण प्रतिभा के वश का नहीं है, क्योंकि पुरातन सामग्री तथा घटना को नवीन बोध और स्थिति के सर्जनात्मक उपकरण में बदलना गहरी अन्तर्दृष्टि और रचनात्मक कौशल की अपेक्षा रखता है, जिसमें जयशंकर प्रसाद खरे उतरते हैं।

प्रसाद के समस्त ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों की प्रेरणा इतिहास या पुराण न होकर समकाल में उपस्थित राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक व पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ

* आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००५

हैं। प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक निरन्तर राष्ट्र की धड़कनों के समानान्तर अपनी गति और दिशा पकड़ते हैं। स्वाधीनता-संग्राम के दौरान क्रान्तिकारियों के आत्मबलिदान से इतिहास के पृष्ठ जब लाल हो रहे थे, गाँधी जैसा धीर पुरुष अपने तरीके से देश के लिए संघर्षरत था। ऐसे समय में, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों की रचना होती है। आततायी आक्रामकों से निष्काम कर्मयोगी की तरह युद्धरत स्कन्दगुप्त हों या अपने ध्रुवलक्ष्य की ओर प्रखरता से बढ़ता वीर चन्द्रगुप्त– इनको हमें राष्ट्रीय स्वाधीनता-संघर्ष के बरक्स देखना होगा। उत्तर स्वयं मिल जाएगा कि प्रसाद इतिहास में मग्न थे या वर्तमान में चौकन्ने? इनके ये पात्र दिखाते हैं कि राष्ट्र-मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाला व्यक्तित्व कितना साहसी, निष्कपट और संकल्पशील होना चाहिए। इन नाटकों का उद्देश्य गुप्तकाल के ब्यौरे देना या वैभव दिखाना नहीं है। लेखक भली भाँति जानता है कि राष्ट्र के अन्तर्विग्रह का रूप हर युग में बदलता रहता है– कभी गणराज्यों के बीच संघर्ष है, तो कभी जातियों, राज्यों व क्षेत्रों का होगा, परन्तु प्रकृति कमोबेश एक जैसी होती है। प्रसाद इन नाटकों के माध्यम से इन्हीं परिस्थितियों का संकेत कर रहे होते हैं। आज के भारत में हम देखें, तो कट्टर साम्प्रदायिकता, क्षेत्रीयता और जातिवाद उग्रवाद का जामा पहनकर पुन: देश की अखण्डता को मुँह चिढ़ा रहा है। देश की एकता के लिए आज भी चाणक्य जैसी चातुरी, चन्द्रगुप्त जैसी तेजस्विता और पर्णदत्त जैसे आत्मबलिदान की आवश्यकता है। सिंहरण की उद्घोषणा कितनी प्रासंगिक है– ''मेरा देश मालवा ही नहीं, गान्धार भी है, बल्कि समस्त आर्यावर्त है।'' क्या ऐसे वाक्य सार्वकालिक नहीं?

प्रसाद के साहित्य में मनुष्य और प्रकृति का केन्द्रीय महत्त्व है। हिन्दी का पाठक प्रसाद के चिन्तन और दर्शन को एक खास फ्रेमवर्क और परिपाटी से देखने का अभ्यस्त रहा है, जिसके कारण प्रसाद की पहचान एक दार्शनिक रचनाकार की बनी। निराला आत्मा से बाहर की किसी अन्य दैवीय शक्तियों के प्रति आस्थावान हैं। 'राम की शक्ति पूजा' में दैवीय शक्तियों के प्रति शरणागत का भाव है, जबकि प्रसाद के साहित्य में कहीं भी मनुष्य के बाहर की किसी शक्ति की चर्चा नहीं है। यद्यपि वे प्रकृति को एक बड़ी सत्ता अवश्य मानते हैं– मनुष्य से भी बड़ी। यही प्रसाद की आधुनिक दृष्टि है। मनुष्य को महत्त्वहीन मानने वाली भक्तिवादी जीवन-दृष्टि का निषेध कर प्रसाद एक स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर और मनुष्य-केन्द्रित भारत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर रहे थे। धर्म के सम्बन्ध में 'स्कंदगुप्त' नाटक के धातुसेन का यह कथन देखना प्रासंगिक है– ''जिस धर्म के आचरण के लिए पुष्कल स्वर्ण चाहिए, वह धर्म जन-साधारण की सम्पत्ति नहीं।'' प्रसाद ने प्रेम-सम्बन्धों का जातियों, धर्मों, देशों के कटघरों से निकालकर इतिहास की आदर्शवादी दृष्टि को रोमानी संस्पर्श दिया। प्रसाद ने अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय और अन्तरराष्ट्रीय विवाहों के ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण दिए– चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का विवाह अन्तरराष्ट्रीय है, अजातशत्रु और वाजिरा का विवाह अन्तर्प्रान्तीय (अजातशत्रु), जनमेजय और मणिमाला, सरमा और वासुकि (जनमेजय का नाग यज्ञ), चन्द्रलेखा और विशाखा (विशाखा नाटक) का विवाह आर्यों व नागों के बीच का अन्तर्जातीय विवाह है। भारत में 'सिविल मैरिज ऐक्ट' १९२१ में बना, किन्तु प्रसाद की चन्द्रलेखा और विशाखा तो उससे पूर्व ही प्रेम-विवाह बंधन में बँध गए थे।

प्रसाद के विचारों का बड़ा हिस्सा स्त्री-सन्दर्भों से भी जुड़ा हुआ है। 'कामायनी' की श्रद्धा अपनी वैचारिक निर्मितियों के कारण आचार्य शुक्ल और मुक्तिबोध– दोनों की आलोचना की पात्र

बनती है, जबकि श्रद्धा जैसी बौद्धिक पात्र बहुत कम रचनाकारों के पास है। मनु के जीवन की वह प्रेरणा भी है, जीवन-संगिनी और मार्ग-निर्देशिका होने के साथ-साथ प्रकृति का भी संरक्षण करने वाली है। उसमें प्रतिवाद की भी शक्ति है, प्रबोधन की भी। जिस तरह गीता में विरक्त अर्जुन को कृष्ण उपदेश के माध्यम से प्रबोधित करते हैं, ठीक उसी प्रकार विरक्त मनु को श्रद्धा कृष्ण की भाँति प्रबोधित करती है। श्रद्धा और इड़ा नामक पात्रों को सृजित करके प्रसाद स्त्री की इसी भूमिका का स्वप्न देख रहे थे। एक बौद्धिक स्त्री का स्वप्न, जो सामाजिक स्तर पर पुरुष के बराबर खड़ी हो, जिसकी नेतृत्वकारी भूमिका हो। ध्रुवस्वामिनी की प्रेरणा से चन्द्रगुप्त अपनी लौह शृंखलाओं को तोड़कर अपने अधिकारों की माँग करता है।

मुक्तिबोध ने 'कामायनी : एक पुनर्विचार' में श्रद्धा को जड़ता का प्रतीक माना है। श्रद्धा की मानवीयता में द्वन्द्व के स्थान पर समरसता के आध्यात्मिक स्वरूप को निखारने के प्रसाद जी के लक्ष्य की घोर निन्दा की गयी है। किन्तु, वस्तुत: कामायनी की ज्वलंत पात्र है– श्रद्धा। श्रद्धा मंगल कामना, बुद्धि और सौन्दर्य से युक्त है। यही आज की स्त्री की पहचान है। केवल सौन्दर्य से स्त्री की पहचान सम्भव नहीं। वह जब बुद्धि से काम कर जन-कल्याण की ओर प्रवृत्त हो जाएगी, तब समाज में स्त्री सम्बन्धी अवधारणा बदल जाएगी। स्त्री-मुक्ति से तात्पर्य है– अपनी देह से मुक्ति तथा अपनी प्रतिभा के बलबूते पर अपने कर्तव्य को पहचानना। श्रद्धा ने यही काम किया। नयी मानवता की सृष्टि और समय की माँग है, जो वह मानवता को अब तक की गयी गलतियों और खामियों से शुद्ध कर नए ढंग से सँवारने के लिए मनु के परिष्कार के साथ इड़ा का भी परिष्कार करती है। व्यक्ति-सुख को प्रमुख माानने वाले मनु का परिष्कार करते हुए श्रद्धा कहती है–

'अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।
सुख को सीमित कर अपने में केवल दुख छोड़ोगे
इतर प्राणियों की पीड़ा लख अपना मुँह मोड़ोगे?'

'आकर्षण से भरा विश्व यह केवल भोग्य हमारा'– के भाव को श्रद्धा मानवता के लिए हानिकारक मानती है। एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं। सब एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। कामायनी के 'संघर्ष सर्ग' में प्रसाद ने दो-तीन बिन्दुओं पर बल दिया है– यह कि मनुष्य और प्रकृति एक है। प्रकृति से मिल-जुलकर, प्रकृति के ताल-लय के साथ मनुष्य को जीना चाहिए। प्रकृति के ऊपर मनुष्य का जो आधिपत्य चल रहा है, वह अनुचित है। मनुष्य केवल मनुष्य के बारे में सोचता है– यह नजरिया गलत है। उसे मनुष्येतर प्राणियों के आन्तरिक मूल्यों को भी मानना चाहिए। इन संकल्पनाओं से जो मूल्य-व्यवस्था जन्म लेती है, वही भारतीय मूल्य-व्यवस्था है। आज इसी मूल्य-व्यवस्था की आवश्यकता है।

'कामायनी' हमारी स्मृति में जलप्लावन की स्मृति जगाती है। यह जलप्लावन-प्रसंग आज के सन्दर्भ में इसलिए प्रासंगिक है, क्योंकि आज हम एक प्रलय के कगार पर खड़े हैं। गाँव, जंगल और पहाड़– शहरों में तब्दील हो रहे हैं। शॉपिंग मॉल, बाँध, खदान, उद्योग, पाँच सितारा होटल बढ़ रहे हैं और हिरण, गौरैया, तितलियाँ, कौवे, हाथी, पीपल, पलाश, सागौन, शाल और तमाम वनस्पतियाँ समाप्ति के कगार पर हैं। आज हम उस महा जलप्लावन की या सर्वव्यापी-सर्वभक्षी दावाग्नि की तलाश में हैं। अतीत की 'इति' और भविष्य के 'आदि' के

युगान्तकारी पल की प्रतीक्षा करने वाले हम जैसे पाठकों के सामने 'कामायनी' नई आकांक्षाएँ पैदा करती है। वह अपने समय के द्वन्द्वों, शंकाओं और पीड़ाओं का नया अर्थ जता देती है।

'कामायनी' के प्रलयपूर्व की स्थिति बिल्कुल आज की स्थिति है। पूँजीवादी, उपभोगवादी संस्कृति का सर्वनाश 'कामायनी' में अभिव्यक्त है। उपभोग संस्कार की अति में महाप्रलय 'कामायनी' में वर्णित है। आज की संस्कृति में भी भौतिकता का अतिरेक हुआ है। जिस तरह से सभी जीव-जन्तुओं और प्रकृति को अपने उपभोग का साधन मात्र समझकर भौतिकतावादी संस्कृति कायम की है, उसका पूर्व रूप है– वह देव संस्कृति। भौमताप, वायु-प्रदूषण, जल-प्रदूषण, समुद्र-प्रदूषण, जंगलों का नाश आदि के सामने आज के मनुष्य को असहाय होकर खड़े हो जाना ही पड़ता है, क्योंकि मनुष्य ने अपनी शक्ति के प्रभुत्व में प्रकृति और मनुष्य के बीच सहसम्बन्ध को अनदेखा कर दिया है। देव संस्कृति का जो चित्र प्रसाद जी ने प्रस्तुत किया था, वह इससे भिन्न नहीं है–

'शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी, पद-तल में विनम्र विश्रांत।
कंपती धरणी, उन चरणों से, होकर प्रतिदिन ही आक्रांत।।' (चिंता-सर्ग)

प्रकृति को वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक उपकरणों से मनुष्य ने अपने कब्जे में कर लिया है। अपने को प्रतिष्ठित करने के मोह में, अपने को बनाने में, हमारी जिन्दगी के लिए जरूरी चीजें प्रदान करने में काबिल प्रकृति का अनावश्यक उपभोग हो रहा है। इस आधुनिक उपभोग संस्कृति को ही जयशंकर प्रसाद ने देव संस्कृति के नाम से अभिव्यक्त किया है। यह देव संस्कृति, वास्तव में; पूँजीवादी, साम्राज्यवादी शक्ति है। इसे एक ओर हम प्रथम विश्वयुद्ध की स्थितियों के साथ मिलाकर देख सकते हैं, तो दूसरी ओर; ब्रिटिश साम्राज्य एवं जर्मनी, इटली की संयुक्त शक्ति के बीच के संघर्ष से उत्पन्न महाप्रलय के प्रतीक के रूप में। विज्ञान के विकास से आविष्कृत औद्योगिक उपकरणों से प्रथम विश्वयुद्ध में जो नाश हुआ, वही भविष्य के महाप्रलय का कारण बना– इसकी सूचना देने के साथ ही इस महाप्रलय से बचने के मार्ग की तलाश भी 'कामायनी' में है। दूसरी ओर; भारत में ब्रिटिश साम्राज्य, उपनिवेशवादी ताकत का उपभोगवादी संस्कार और तानाशाही स्वरूप भी कामायनी में प्रतीक बनकर समसामयिकता की झलक देता है। जयशंकर प्रसाद अपनी इस कृति के माध्यम से पूँजीवादी यन्त्रयुग की भर्त्सना करते हैं। कामायनी में यन्त्रों की यन्त्रणा से बार-बार सचेत किया गया है–

'आज शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर।
प्रकृति संग संघर्ष निरंतर! फिर कैसा डर।।'

उन्होंने 'शक्ति का खेल खेलने में आतुर नर' को भावी बुद्धिवाद, विज्ञापनवाद, यान्त्रिकता के विधि-निषेधों के प्रति सचेत करते हुए घोषित किया कि मानव-जीवन की सुख-शान्ति न एकान्त आध्यात्मिक साधना से मिलेगी और न मात्र भौतिक भोग से। वह मिलेगी श्रद्धा-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व के सामंजस्य से–

'मस्तिष्क हृदय के हो विरुद्ध, दोनों में हो सद्भाव नहीं।' इस विषमता का कारण है– अति बौद्धिकता, जो अहं को बढ़ावा देती है। वह मनुष्य को स्वार्थ-केन्द्रित बनाती है। मनु इसी बौद्धिकता और अहंकार-ग्रस्तता का शिकार है–

'विश्व में जो श्रेष्ठ सुन्दर हो....
सभी मेरी हो, सभी करती रहें प्रतिदान।'

आत्मसाक्षात्कार के पलों में मनु सोचता है–

'मेरा सबकुछ क्रोध मोह के उपादान से गठित हुआ।
यह सब अति बौद्धिकता का अवश्यम्भावी कुफल है।।'

प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक दोहन ही प्रलय या महाविनाश के मूल में है। प्रसाद जी ने इस वास्तविकता को 'कामायनी' में व्यक्त किया है– जब मनु श्रद्धा को समझाने का प्रयत्न करता है कि सभी प्रकार के आकर्षणों से युक्त यह विश्व हमारे भोग के लिए है, जैसा कि आज के व्यक्ति-केन्द्रित उपभोगी मनुष्य का विचार है कि वह पूरा संसार केवल अपने लिए समझता है, तब श्रद्धा कहती है–

'प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।'

गहन परिस्थितिवाद मानता है कि प्रकृति में आध्यात्मिकता है, इसलिए मनुष्य यद्यपि अपनी शक्ति पर मदमाता है, तथापि वह प्रकृति के सामने आश्रयहीन, दुर्बल हो जाता है। देव संस्कृति की उन्मुक्त भोगलिप्सा के परिणामस्वरूप जो प्रलय हुआ, उससे मानव-निर्मित सब समाप्त हो जाता है। उसके सारे भौतिक सुख-साधन पल भर में विलीन हो गये। मानव का प्रतीक मनु आश्रयहीन, दुर्बल और भयभीत होकर प्रकृति की प्रचण्ड शक्ति के सामने किंकर्तव्यविमूढ़ खड़ा हो जाता है। आज का मनु (मनुष्य) समकालीन उपभोग संस्कृति, शहरीकरण तथा उससे जुड़े सौन्दर्यीकरण से उत्पन्न पर्यावरण-संकट की चुनौतीपूर्ण स्थितियों का सामना कर रहा है। कामायनीकार ने चेतावनी दी थी–

'प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित / हम सब थे भूले मद में।
भोले थे, हाँ तिरते केवल / सब विलासिता के मद में।।'

फिर भी; हम अपने मद में, विलासिता के मद में मूर्ख बनकर तैरते थे और तैर रहे हैं। सर्वसंहारी प्रलय से मनु बच जाते हैं, क्योंकि प्रकृति कभी भी जीवों का सर्वनाश नहीं करती। नये सृजन के लिए एक बीज छोड़ देती है, क्योंकि जर्जर संस्कृति का अन्त कर नये का निर्माण चाहती है।

प्रसाद जी प्रकृति से अलग हुए मनुष्य को पुन: प्रकृति की ओर वापस लाने का दायित्व स्त्री पर सौंप देते हैं। यही पारिस्थितिक स्त्रीवाद है, अर्थात् स्त्री के जरिए प्रकृति-पुरुष और स्त्री का अद्वैत। श्रद्धा के माध्यम से अचेतन में भी चेतनता उत्पन्न हुई– समरस्य के विराट् रूप हिमालय में। वहाँ पाषाणी प्रकृति भी चेतन्यवत् बन गयी–

'मांसल सी आज हुई थी, हिमवती प्रकृति पाषाणी;
उस लासरास में विह्वल, थी हँसती सी कल्याणी।' (आनन्द सर्ग)

स्त्री और प्रकृति की अनन्यता भारतीय विश्वास में पहले से ही विद्यमान है। प्रकृति प्रेरणा है, जन्मदात्री है, समस्त चराचरों की पोषक है, क्षमा का पर्याय है। स्त्री भी इन सभी विशेषणों की अधिकारी है। सम्पूर्ण विश्व के रक्षारूप जिनमें विद्यमान हैं, उन्हीं का शोषण अनादिकाल से चला आ रहा है। इन दोनों को बचाने का दायित्व स्त्री के ऊपर है– यही पारिस्थितिक स्त्रीवादी दर्शन है। स्त्री के इस दायित्व को आधुनिकता के आरम्भिक दशकों में ही प्रसाद ने पहचान लिया था और श्रद्धा के जरिये 'कामायनी' में अभिव्यक्त किया। प्रकृति से पूर्णत: मिल-जुल कर रहने वाली है– श्रद्धा। जब मनु देवताओं को प्रसन्न करने के लिए जानवरों की बलि चढ़ाना चाहते हैं,

तो श्रद्धा कहती है–

'वे प्राणी जो बचे हुए हैं, इस अचला जगती के,
उनके कुछ अधिकार नहीं क्या, वे सब ही हैं फीके!' (कर्म सर्ग)

पारिस्थितिक दर्शन की दृष्टि से संसार में जन्म लेने वाले जीवों को इस धरती पर जीने का अधिकार प्रसाद जी श्रद्धा के द्वारा व्यक्त करते हैं। एक-दूसरे को खा जाने के आधार पर बनी हुई सभ्यता में श्रद्धा को विश्वास नहीं है। वह कहती है। अगर कलियाँ सारा सौरभ अपने अन्दर बन्द कर लें, अपना मकरन्द-बिन्दु सरस होकर वितरित न करें, तो क्या होगा? वे स्वयं भी खिल नहीं सकतीं–

'ये मुद्रित कलियाँ दल में सब सौरभ बन्दी करे लें;
सरस न हो मकरन्द बिन्दु से खुलकर तो ये भर लें!
सूखे, झड़े और तब कुचले सौरभ को पाओगे,
फिर आमोद कहाँ से मधुमय वसुधा पर लाओगे।।'

व्यक्ति-केन्द्रित आधुनिक मानव इस संसार की सारी चीजों को अपने उपभोग एवं विकास के लिए समझता है। इस उपभोगी स्वभाव को मनु यों प्रकट करता है–

'आकर्षण से भरा विश्व यह, केवल भोग्य हमारा।'

श्रद्धा इस भाव को मानवता के लिए हानिकारक मानती है। प्रकृति के जीव-जन्तु और मनुष्य के बीच सह अस्तित्व को भूल कर मनुष्य जीव-जन्तुओं की अनावश्यक हत्या करता है। श्रद्धा इसका घोर विरोध करती है–

'पर जो निरीह जीकर भी कुछ, उपकारी होने में समर्थ।
वे क्यों न जिएँ, उपयोगी बन, इसका मैं समझ सकी न अर्थ।।''

श्रद्धा विश्वमित्र है। दर्शन सर्ग में स्वयं मनु ने देखा–

'मनु ने देखा कितना विचित्र / वह मातृ मूर्ति थी विश्वमित्र।'

आनन्द सर्ग का वातावरण प्रकृति का है। प्रकृति की अवस्थिति में सभी चराचरों से मिल-जुल कर रहने से उत्पन्न होने वाला वह सुख हरित आध्यात्मिकता का है। मनु और श्रद्धा के उस आनन्द में भागीदार बनते हैं– सम्पूर्ण सारस्वत प्रदेश के लोग। धवल धर्म के प्रतीक वृषभ को लेकर गए, अर्थात् मनुष्य के समान धर्मा हैं– मनुष्येतर जीव। सभी के परस्पर सहयोग में है संसार का संतुलन। एक संतुलित संसार एवं जीवन का गान है– 'कामायनी' का लक्ष्य और वह श्रद्धा के द्वारा सम्भव हो जाता है। सारस्वत नगर का निर्माण होता है, जिसमें श्रद्धायुक्त बुद्धि का प्रयोग किया गया है। इसलिए वह एक आदर्श नगर बनता है। सहज प्रकृति के इस सुन्दर माहौल से युक्त, जिससे हम वंचित हो चुके हैं–

'वह मंजरियों का कानन / कुछ अरुण पीत हरियाली।
प्रतिपर्व सुमन संकुल थे / छिप गई उन्हीं में डाली।।
यात्री दल ने एक देखा / मानस का दृश्य निराला।
खग मृग को अति सुखदायक, / छोटा सा जगत उजाला।।'

सारस्वत नगर के माध्यम से प्रसाद जी दिखाना चाहते हैं कि सहजता शहर में भी सम्भव है– विकास और पोषण का अनुपात एक हो, तभी।

स्त्री व प्रकृति का अद्वैत– इकोफेमिनिज्म का मुख्य बिन्दु है– धरती जिसको माँ माना गया।

धरती व स्त्री– दोनों समान धर्मा हैं। धरती चर-अचरों को जन्म देती है, उनका पोषण करती है– यही कार्य स्त्री करती है। प्रकृति पर लगने वाली चोट का सबसे अधिक प्रभाव स्त्री पर पड़ता है– प्रदूषण, वायु, सूखा, युद्ध। इकोफेमिनिज्म के अनुसार– एक स्त्री के द्वारा दूसरी स्त्री और उसके द्वारा तीसरी स्त्री के समान शृंखला की एक-एक कड़ी को जाग्रत और परिमार्जित कर अपने लिए तथा औरों के लिए समर्थ बनाना है– यही करण 'कामायनी' में श्रद्धा के द्वारा हुआ। श्रद्धा के सर्वमंगलकारी रूप की अनुकृति में इड़ा अपने को परिष्कृत करती है और एक समाज को भी। प्राकृतिक संसाधनों का अनावश्यक शोषण पर्यावरण संतुलन को बिगाड़ देगा। पुन: प्रलय की ओर मानव-समुदाय को उन्मुख होना पड़ेगा।

श्रद्धा मनु की उपभोग-संस्कृति के स्थान पर सादगी के परिष्कृत संस्कार का गठन करती है। कामायनी में प्रसाद जी भारतीय मूल्य-व्यवस्था के अनुकूल मनुष्य और प्रकृति के तादात्म्य और सहजीवन पर बल देते हैं। प्रकुति के साथ मिल-जुलकर जीने की बात करते हैं। केवल मनुष्य को ही इस धरती पर रहने का अधिकार नहीं है, मनुष्येतर प्राणियों का भी उतना ही अधिकार है। सभी मिलकर एक इकोसिस्टम बनाते हैं। भारतीय विश्वास में भी पृथ्वी माता है। पृथ्वी ईश्वर द्वारा निर्मित है और उसी ईश्वर का अंश है– जीव। पृथ्वी पर सभी को रहने का अधिकार है। सभी जीव-जंतुओं की स्थिति से ही पृथ्वी-सन्तुलन सम्भव है–

'पशुन पाहि, गां मा हिंसी; अजां मा हिंसी;
अविं मा हिंसी; इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्,
मा हिंसिरेकशफं पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।' (ऋग्वेद)

× × × ×

'संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।' (ऋग्वेद)

●

उर्मिला शिरीष की कहानियों में किशोरों का गाँव से शहर की ओर पलायन

डॉ. जयश्री बंसल*, माया चौरसिया**

संक्षेप– सुप्रसिद्ध कहानीकार सुश्री उर्मिला शिरीष एक ऐसी जागरूक कहानीकार हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी गाँव से शहर की ओर पलायन कर रहे बालकों पर चलाई है। उन्होंने गाँव से शहर की ओर पलायन को सूक्ष्मता व सम्वेदनशीलता के साथ अन्वेषण कर, अपनी कहानियों में अभिव्यक्त किया। गाँव से शहर आने वाले किशोरों के जीवन से जुड़ी कठिनाइयों, परेशानियों तथा उनके संघर्षमय जीवन को उन्होंने पाठकों के समक्ष उजागर किया है।

मुख्य-शब्द– गाँव, शहर, किशोर, मानव-जीवन, उर्मिला शिरीष की कहानियाँ।

भूमिका– कथ्य की दृष्टि से जितना आम जन देखते हैं, उससे कहीं अधिक साहित्यकार देखता है। जब मनुष्य की परिस्थितियाँ बद-से-बदतर हो जाती हैं, तब लेखक अपने मानस पर अंकित त्रासदी भरे यथार्थ को सामने लाता है और स्वयं को लोगों के सुख-दु:ख से जोड़कर रचनाओं में व्यक्त करता है। कथ्य की दृष्टि से यह मनन करना भी जरूरी है कि हमारे जीवन में जितना घटित होता है, जिसे हम देख पाते हैं, उससे कहीं अधिक साहित्यकार की दृष्टि परख लेती है। लेखक आन्तरिक और बाह्य स्तर पर उथल-पुथल की परिस्थितियों को जान लेता है।

समीक्षा : (अ) अपनी दुनिया– कहानी का मुख्य पात्र मोहन है, जो अपने गाँव से श्रेष्ठ जीवन की तलाश में शहर आता है। किन्तु शहर में उसे अलग तरह की दुनिया देखने को मिलती है, जहाँ लोग रोजी-रोटी के संघर्ष में अपना अस्तित्व बनाए रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। स्टेशन पर मोहन कुछ ऐसे युवकों के साथ रहने लगता है, जिनका धर्म मिल-बाँटकर जीना है। एक दिन मोहन की मुलाकात दया प्रकाश नामक बूढ़े व्यक्ति से होती है, जो उसे काम दिलाने का आश्वासन देकर एक रईस घर में नौकर बना देता है। यहाँ उसका शोषण होता है। उसे उसके परिश्रम का कोई उचित मूल्य नहीं मिलता। धीरे-धीरे मोहन को ज्ञात होता है कि दया प्रकाश ने उसके साथ छल किया है और उसे बेच दिया है। अन्तत: अपने स्वाभिमान और स्वतन्त्रता के लिए मोहन इस गुलामी से मुक्त होने का फैसला करता है और उस दुनिया में लौट आता है, जहाँ वह अपने साथियों के साथ एक स्वतन्त्र जीवन जी सके। उर्मिला शिरीष ने गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले लड़कों की कथा-व्यथा, उनकी दास्ताँ पाठकों के समक्ष उपस्थित कर कटु यथार्थ के पट खोले हैं।

(ब) हरजाना– कहानी में उर्मिला शिरीष समाज के उन गरीब बच्चों की दुर्दशा को उजागर करती हैं, जो रोजी-रोटी के लिए खतरनाक करतब करते हैं। गणेश एण्ड कम्पनी के तीन कार्यकर्ता– विजय, राजू और नरेश झुग्गी-झोपड़ी के बच्चों के माता-पिता को मामूली रकम का लालच देकर, बच्चों से जानलेवा खेल का प्रदर्शन करवाते हैं। ये बच्चे रस्सी पर चलना, आग के करतब और अजगर के साथ खेल दिखाते हैं। इस प्रदर्शन के दौरान कभी-कभी उन्हें गम्भीर चोटें भी लग जाती हैं। एक घटना का लेखिका ने उल्लेख किया है, जब एक लड़का जल जाता है और भगदड़ मचती

* प्रोफेसर एवं असिस्टेण्ट डायरेक्टर– मानव संसाधन विकास केन्द्र, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (म.प्र.)

** शोधार्थी– तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति अध्ययनशाला, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इंदौर (म.प्र.)

है, तो कम्पनी के मालिक फरार हो जाते हैं। कहानी इस बात को रेखांकित करती है कि गरीबी और भूख से जूझ चुके ये कार्यकर्ता भी प्रसिद्धि और प्रशंसा के लालच में बच्चों का शोषण कर रहे हैं, जो उनकी संकीर्ण मानसिकता को दर्शाता है। ये समाज के उस छोर पर रह रहे दबे-कुचले लोग हैं, यह वह श्रेणी है, जिनके पास परिवार और समाज के नाम पर भूख, गरीबी और अशिक्षा है। कहानी के पात्र व्यक्ति की चेतना को झकझोरते हैं। कहानी बाल्य जीवन के यथार्थ की कई परतें खोलने में सफल सिद्ध हुई है।

(स) निगाहें– कहानी में गरीब मजदूर पिता-पुत्री की कठिनाइयों का चित्रण है। ठेकेदार उनके परिश्रम का उचित मूल्य देने के स्थान पर हर बार उन्हें टाल देता है और अपमानित भी करता है। वह विवश पिता और दस साल की बेटी से दिन-रात काम करवाता है, किन्तु पैसे नहीं देता। एक दिन पिता के बार-बार पैसे माँगने पर ठेकेदार की मालकिन सौ रुपये और अष्टमी का भोजन दे देती है। अगले दिन पिता-पुत्री गायब हो जाते हैं। ठेकेदार ने उन्हें बिना पैसे दिए ही भगा दिया था। मालकिन को अपनी सहानुभूति का दिखावा करने के बावजूद मलाल होता है कि उसने उस बच्ची को बचाने के लिए कुछ ठोस नहीं किया। कहानी गरीबी, शोषण और मानवीय असम्वेदनशीलता की गहराइयों में उतरती है और एक कड़वी सच्चाई को सामने लाती है। उर्मिला शिरीष ने दु:ख और अर्थाभाव को कहानी में ऐसे गूँथ दिया है कि पाठक पूरी तरह से पिता-पुत्री के दर्द को महसूस करते हैं।

(द) उसका अपनापन– कहानी में राकेश के संघर्ष और दु:ख को दर्शाया गया है। राकेश का पिता एक प्रभावशाली पद पर होने के बावजूद; परिवार को छोड़कर दूसरी शादी कर लेता है, जिससे परिवार का भार राकेश पर आ जाता है। उसे अपने पिता का तिरस्कार और दुर्व्यवहार प्रति पल टीसता है। वह पिता की फैक्ट्री में काम करके माँ, दादी और छोटे भाई का पेट पालने का प्रयत्न करता है, लेकिन पिता न केवल उसे काम करने से रोकते हैं, बल्कि उसे अपमानित भी करते हैं। एक दिन भूख से तड़पता जब वह घर लौटता है, तो देखता है कि दिन की बची तीन रोटियाँ भी चूहों ने कुतर दी हैं। यह दृश्य उसके जीवन की कठिनाइयों का प्रतीक बन जाता है, जिससे उसका मन भारी पीड़ा और बेचारगी से भर उठता है। उर्मिला शिरीष की कृतियों में पिछड़े, उपेक्षित, अर्थाभाव से ग्रस्त चरित्रों की भरमार है। उनके बीच के सम्बन्ध मानवीय पीड़ा को आत्मसात् कर उसको अपने में समाहित कर लेने की बुनियाद पर टिके हैं।

(य) वे कौन थे– कहानी तीन ग्रामीण युवकों– नासिर, किशोर और नन्दी के संघर्षों को दर्शाती है, जो बेहतर भविष्य की तलाश में गाँव से शहर आए हैं। वे सस्ते किराये के कमरे में रहते हैं और छोटी-मोटी मजदूरी करके जीवन-यापन करते हैं। सभी का जीवन कठिनाइयों से भरा है। नासिर के पिता का इन्तकाल हो जाता है, किन्तु गरीबी के कारण वह गाँव नहीं जा पाता। नन्दी का बच्चा हैजा और पीलिया से मर जाता है, लेकिन मालिक उससे इतनी कठोरता से पेश आता है कि वह विवश होकर चोरी करने का प्रयास करता है और पकड़ा जाता है। अन्तत: मार खाकर गायब हो जाता है। हड़ताल के दौरान नासिर हादसे में मर जाता है और किशोर को पुलिस गिरफ्तार कर लेती है। अन्तत: सभी अलग-अलग विपत्तियों में फँसकर एक-एक कर बिछड़ जाते हैं और उनके अधूरे सपने और पत्र ही पीछे रह जाते हैं, जिन्हें वे कभी नहीं पढ़ पाएँगे। उर्मिला शिरीष की गाँव से शहर की ओर पलायन पर लिखी गयी कहानियों में जीवन की सच्चाई उभर कर सामने आयी है। भूख, गरीबी और जीवन की त्रासदियों को झेलते हुए बालकों को अपनी मंजिल नहीं मिल पाती। परिवार और समाज के नाम पर संघर्ष, भूख और पीड़ा नजर आती है,

जो उनके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। 'वे कौन थे'– कहानी में भूख, पीड़ा, संघर्ष और मृत्यु को खुलकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है।

समस्याएँ : (क) गाँव में किशोरों की सबसे बड़ी समस्या अशिक्षा, गरीबी, भूख, बेरोजगारी और मृत्यु है। **(ख)** गाँवों से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों का आश्रय अधिकतर रेलवे स्टेशन, बस स्टैण्ड और फुटपाथ ही होता है। कई बार ये दुर्घटना के शिकार भी हो जाते हैं। **(ग)** सामाजिक संस्थाओं का ध्यान इन किशोरों की ओर अपेक्षाकृत कम है। इन्हें इनके जीवन की त्रासदियों से मुक्त करने की अपेक्षा वे स्वयं इनसे मुक्त हो जाती हैं। **(घ)** जिस उम्र में इन किशोरों को पढ़ाई करनी चाहिए, उस उम्र में ये आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए पेट की खातिर अपनी जान पर खेल कर, विभिन्न प्रकार के जानलेवा खतरनाक खेलों का प्रदर्शन कर, अपने परिवार की जीविका चलाते हैं। **(ङ)** गाँव से शहर की ओर ये किशोर पढ़ाई के साथ-साथ रोजी-रोटी की तलाश में आते हैं, किन्तु यहाँ भी इन्हें इनके परिश्रम का समय पर उचित मूल्य नहीं मिलता। इनको अपमानित किया जाता है तथा काम निकल जाने पर इनको भगा दिया जाता है। **(च)** अधिकांश स्थलों पर मालिक इन किशोरों को बन्धक बनाकर रखते हैं और अपने हिसाब से इनका उपयोग करते हैं। **(छ)** समाज के दबे-कुचले किशोरों के जीवन से जुड़ी अनेक ज्वलन्त समस्याओं को उजागर किया गया है।

प्रेरणा एवं चयन– उर्मिला शिरीष के कहानी-संग्रहों में गाँव से शहर की ओर किशोरों के पलायन पर आधारित अलग-अलग धरातल पर लिखी गयी कहानियों का अध्ययन करके व विभिन्न प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों और अन्य सामग्रियों के माध्यम से शोध-विषय की प्रेरणा मिली और समाज में चहुँ ओर गाँव से शहर की ओर किशोरों के पलायन की परिस्थितियों को दृष्टिगत रखकर शोध-विषय का चयन किया।

उद्देश्य– इस शोध के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

१. उर्मिला शिरीष की गाँव से शहर की ओर किशोरों के पलायन पर लिखी गयी कहानियाँ प्रासंगिक हैं। प्रत्येक कहानी अलग-अलग धरातल पर लिखी गयी है।

२. गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों के त्रासदी भरे जीवन एवं उसके पीछे छिपे सत्य का पता लगाना है कि वास्तव में; वे जो स्वप्न लेकर आते हैं, वे पूरे नहीं होते। जिन समस्याओं के कारण उन्होंने पलायन किया था, उनका समाधान मिलने के स्थान पर अन्य कई समस्याएँ भी जन्म ले लेती हैं।

३. किशोरों के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों– पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक जीवन के कड़वे सत्य का उद्घाटन अनेक प्रकार से किया गया है।

अनुसन्धान की पद्धति– शोध हेतु समाजशास्त्रीय अध्ययन, मनोवैज्ञानिक एवं समस्यामूलक पद्धतियों का उपयोग किया गया।

निष्कर्ष एवं चर्चा– उर्मिला शिरीष ने पात्रों के माध्यम से गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों का यथार्थ उघाड़कर रख दिया। जिन्दगी की जटिलताओं, अभाव, संघर्षों, गरीबी और त्रासदियों को साधा है। इनकी कहानियाँ पाठक के मानस पर असर डालती हैं। जीवन का यथार्थ केवल इनके भौतिक धरातल पर ही नहीं घटता-उपजता, बल्कि उनकी आत्मा में भी प्रवेश करता है। जिन पीड़ाओं और विपत्तियों का साक्षात्कार उर्मिला शिरीष ने किया है, वैसा सजीव अनुभव अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ये अनूठे अनुभव उनके दिल-हृदय की गहराइयों तक छिपे हुए हैं। उन्होंने वर्तमान युग के मानवीय मूल्यों की सम्वेदनाओं, भावनाओं और जीवन की त्रासदियों

को खुलकर अभिव्यक्त किया है। उर्मिला शिरीष की कहानियाँ काल्पनिक नहीं, बल्कि यथार्थपरक हैं, जो पाठक को सतह के नीचे की कठोर जिन्दगी का सामना करवाती हैं। यथार्थ के अँधेरे गड्ढों एवं खाइयों में उतरकर जिन्दगी में आने वाली परिस्थितियों को उजागर करती हैं, जिसमें जीवन के संघर्षों और जटिलताओं का यथार्थ झलकता है।

योगदान– इस शोध-विषय का निम्नलिखित योगदान है–

१. गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों के जीवन पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

२. किशोरों पर लिखा गया शोध शोधार्थियों के ज्ञान में वृद्धि करेगा और उन्हें वैचारिक दृष्टि से नयी दिशा प्रदान करेगा।

३. गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों पर किया गया यह शोध पूर्वाग्रह-निदान और समस्या-निवारण में सहायक होगा।

४. शोध में शोधकर्ता के सामने जो तथ्य उपस्थित होते हैं, उन्हें वह विकसित एवं परिमार्जित करता है।

लाभ एव कमियाँ :

(क) लाभ– १. शोध विश्वसनीय एवं मौलिक है, जिससे अन्य शोधार्थी लाभ ले सकेंगे।

२. गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों के जीवन पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए लाभकारी है।

३. नयी पीढ़ी के युवा शोधकर्ताओं के लिए प्रेरणादायक होगा।

४. कथा साहित्य पर शोध करने वाले शोधार्थियों के लिए भी यह शोध अनुकरणीय एवं लाभकारी होगा।

(ख) कमियाँ– १. वर्तमान में परिवार व समाज में गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों के प्रति जो हेय दृष्टिकोण है, उसे दूर करने में शोध सक्षम नहीं है।

२. समाज के दबे-कुचले, उपेक्षित और तिरस्कृत होकर गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों की समस्याओं का उल्लेख मात्र करता है, समाधान प्रस्तुत नहीं करता।

३. गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाले किशोरों की आर्थिक समस्याओं पर ध्यान अधिक केन्द्रित किया गया है।

भविष्य– हिन्दी कथा साहित्य में किशोरों के मनोविज्ञान का अध्ययन करने वाले शोधार्थियों के लिए यह शोध-पत्र एक नवीन वैचारिक धरातल प्रस्तुत करेगा। इस विषय पर भविष्य में कई कथाकारों के साहित्य का अध्ययन कर शोध-ग्रन्थ की रचना की जा सकेगी। शोध-पत्र उर्मिला शिरीष के साहित्य में मनोविज्ञान विषय पर शोध करने की प्रेरणा बन सकता है।

सन्दर्भ-सूची

१. उर्मिला शिरीष– 'दीवार के पीछे– अपनी दुनिया', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. संस्करण-२०१५

२. उर्मिला शिरीष– 'हरजाना', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१३

३. उर्मिला शिरीष– 'कुर्की और अन्य कहानियाँ– निगाहें', भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्र. सं.–२००३

४. उर्मिला शिरीष– 'मुआवजा– उसका अपनापन', दिशा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.-१९८५

५. उर्मिला शिरीष– 'वे कौन थे', मीनाक्षी पुस्तक, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-१९८५

●

समकालीन हिन्दी और मलयालम उपन्यासों में पर्यावरण-दृष्टि

लेफ्टिनेण्ट (डॉ.) शबाना हबीब*

शोध-सार : पर्यावरण का सीधा सम्बन्ध प्रकृति से है। अपने परिवेश में हम तरह-तरह के जीव-जन्तु, पेड़-पौधे तथा अन्य सजीव-निर्जीव वस्तुएँ पाते हैं। ये सब मिलकर पर्यावरण की रचना करते हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं, जैसे– भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा जीव विज्ञान आदि में विषय के मौलिक सिद्धान्तों तथा उनसे सम्बद्ध प्रायोगिक विषयों का अध्ययन किया जाता है। परन्तु आज की आवश्यकता यह है कि पर्यावरण के विस्तृत अध्ययन के साथ-साथ इससे सम्बन्धित व्यावहारिक ज्ञान पर बल दिया जाए। आधुनिक समाज को पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याओं की शिक्षा व्यापक स्तर पर दी जानी चाहिए। साथ ही; इससे निपटने के बचावकारी उपायों की जानकारी भी आवश्यक है। आज के मशीनी युग में हम ऐसी स्थिति से गुजर रहे हैं, जहाँ प्रदूषण एक अभिशाप के रूप में सम्पूर्ण पर्यावरण को नष्ट करने के लिए हमारे सामने खड़ा है। सम्पूर्ण विश्व एक गम्भीर चुनौती के दौर से गुजर रहा है।

बीज शब्द : पर्यावरण, संतुलन, परिस्थितिवादी, हरिताभ.....

मूल आलेख : भारतीय संस्कृति में वन और वनस्पति का बहुत अधिक महत्त्व है। वेदों, उपनिषदों में मनुष्य के स्वस्थ जीवन के लिए पर्यावरण को खास महत्त्व दिया गया है। हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कुटज' निबन्ध में लिखा है– ''यह धरती मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ।'' लेकिन आज-कल मानव जाति के एकपक्षीय विकास ने प्रकृति को बहुत नुकसान पहुँचाया है। आज हमारे चारों तरफ महामारी फैली हुई है। न साँस लेने के लिए शुद्ध वायु, न पीने के लिए शुद्ध जल मिल पा रहा है। ओजोन होल लगातार फैल रहा है, ग्लेशियर पिघल रहा है, पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है, खाद्य वस्तुएँ विषाणु युक्त हो गयी हैं। हमारे लिए पर्यावरण को बचाने की बड़ी जिम्मेदारी आ पड़ी है। यही पर्यावरण-विमर्श की आधारभूमि है।

समकालीन हिन्दी– मलयालम उपन्यासों के माध्यम से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि पर्यावरण का बचाव ही हमारा बचाव है।

२०११ में सारा जोसफ द्वारा मलयालम में रचित उपन्यास है– 'आति'। २००५ में नासिरा शर्मा द्वारा हिन्दी में रचित उपन्यास है– 'कुइयाँजान'। दोनों उपन्यासों का प्रमुख विषय जल ही है। 'आति' झीलों से घिरे प्रदेश में रहने वालों की कथा है। मानव के अत्याग्रह और लालच का बुरा असर प्रकृति पर पड़ रहा है।

झीलों-नदियों को प्रदूषित करने से और खेतों का विनाश करके बड़े-बड़े कॉम्प्लेक्स बनाने से मानव अपने ही पैरों पर कुल्हाडी मार रहे हैं। प्रकृति पर मानव का हस्तक्षेप तथा मन-मस्तिष्क और शरीर में परमाणु विकिरण का असर इतना बढ़ गया कि अब उधर से भागकर सुकून से जीने के लिए कोई जगह ही नहीं बची है।

सारा जोसफ ने 'आति' में ऐसा कहा कि– ''पानी चाहे कितना भी गन्दा हो जाए, वह साफ़ ही रहेगा। पानी एक गोद की गद्दी है। यह शरीर की तंत्रिकाएँ हैं। नदियाँ, कुएँ, झरने,

* सह आचार्या– हिन्दी विभाग, राजकीय महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल

तालाब। पानी से लबालब खेत सबसे कम ज्वार वाली आर्द्र भूमियाँ भी यहीं हैं। जब ये सब विकास के कारण नष्ट हो जाएँगे, जब भोजन, वस्त्र या आश्रय नहीं होगा, तब जल एक चमत्कार के रूप में खड़ा रहेगा; जीवन का ऐसा स्रोत, जो कभी समाप्त नहीं होगा।''[१]

'कुइयाँ' का मतलब ही है– जलस्रोत, जो मनुष्य की प्यास आदिम युग से बुझाता है। जल की ज्वलन्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को लेकर 'कुइयॉजान' उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है। जल-समस्या को लेखिका आँकड़ों तथा तथ्यों के साथ कथावस्तु में पिरोती हैं। भारत में गाँव, कस्बे और शहरों में लोग कुओं, तालाबों और नदियों से जो पानी लेते हैं, वह भी अधिकतर गन्दा और कीटाणुयुक्त होता है। नासिरा शर्मा सम्वेदनशील होकर पर्यावरण के साथ हो रहे खिलवाड़ का पुरजोर विरोध करते हुए लिखती हैं– ''जाओ देखो उन जंगलों को, जो तुमने काट दिए... जाओ देखो उस ज़मीन को, जिसके स्तनों को तुमने निचोड़ दिया है और अपनी सत्ता दिखाने के लिए परमाणु बमों का प्रयोग किया है.. उन हिमशिखरों को देखो, जिन्होंने अपने वजूद को पिघला तुम्हें नदियाँ दीं और तुमने उन्हें बर्बाद कर दिया। यही नदियाँ थीं, जिनके किनारे तुम आकर बसे थे.. आज तुम उनसे मुँह मोड़ चुके हो।''[२]

२०१४ में विनोय तोमस द्वारा रचित उपन्यास है– 'करिक्कोट्टक्करी'। विस्थापन से जूझती जनता की कहानी। विस्थापित होकर आए लोगों ने एक सुन्दर-सा गाँव बनाया है। पुराने ज़माने के गाँवों से ये गाँव बिलकुल अलग हैं। शहरीकरण के कारण गाँव के नाक-नक्शा एक-दम बदल गए हैं। यह गाँव अलग किस्म के ग्रह जैसा दिखाई देता है। ट्रैक्टर और अन्य यन्त्रों के प्रयोग से धरती की छाती में जो घाव लग जाते हैं, यह आज के करिक्कोट्टक्करी की अवस्था को दिखाता है। इससे यह ज़ाहिर हो जाता है कि शहरीकरण का शिकार गाँव और वहाँ के रहने वालों और आदिवासी लोगों को होना पड़ता है। शहरीकरण प्राकृतिक सुषमा को तबाह कर देते हैं। इसी समस्या को उजागर करते हुए यमदरण मिश्र ने १९९६ में 'बीस बरस' उपन्यास की रचना की है। रिपोर्ताज शैली में लिखे इस उपन्यास के माध्यम से लेखक ने बीस बरस पहले के गाँव को खोजा है, जो विकास के नाम पर तहस-नहस हो गए हैं। आमों से भरा पेड़, पीपल सब आज नष्ट हो गए। गाँव में मोटरसाइकिलें आ गई हैं। सड़कें बनना शुरू हो गयीं। नदी में पुल बनाने की योजना चल रही थी। सियासतदानों के हस्तक्षेप के कारण गाँव के प्रति लोगों का रवैया बदल गया। गाँव वाले शहरों में पलायन करना चाहते हैं। उपन्यास के केन्द्र में शिवपुरा गाँव है।

२०१७ में पी. सुरेन्द्रन द्वारा रचित उपन्यास है– 'जिना शलभंगलुड़े वीडु'। यह बहुत ही चर्चित उपन्यास है। ग्लोबल वार्मिंग अनियन्त्रित रूप से बढ़ने पर लेखक चिन्तित है। सुविधाएँ बढ़ाने के चक्कर में विकास का नारा लगाकर, सामने आने वाले कॉरपोरेट माफिया से बचकर रहने की चेतावनी देता है। प्रकृति पर मानव के हस्तक्षेप का जिक्र करते हुए भविष्य में पृथ्वी पर होने वाली पारिस्थितिक चुनौतियों पर हमारा ध्यान खींचता है। उपन्यास में ऐसा लिखा है– ''नया आदमी प्रकाश के स्थान पर बत्तियाँ जलाकर तथा हवा के स्थान पर पंखे चलाकर, मानव निवास-स्थानों से पर्यावरण को पूरी तरह से हटाने का प्रयास कर रहा है।''[३]

ग्लोबल वार्मिंग को आधार बनाकर २०१७ में रत्न शेखर सिंह ने हिन्दी में 'रेखना मेरी जान' उपन्यास की रचना की है। वैज्ञानिक तत्त्वों को आधार बनाकर इसका कथानक आगे बढ़ता है। उदाहरण देखिए– ''पृथ्वी पर नौ विशिष्ट सीमाओं को चिह्नित किया गया है, जिनमें हमें हस्तक्षेप से बचने की सलाह दी गयी थी। पर हमने तीन सीमा रेखाओं का अतिक्रमण पहले ही

शुरू कर दिया है। वे हैं– जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता और भूमण्डलीय नाइट्रोजन चक्र।'' इन तत्त्वों को पेश करते हुए ग्लोबल वार्मिंग के बुरे असर की ओर हमारा ध्यान खींचना लेखक का उद्देश्य है।

२०१६ में प्रकाशित सोफिया रफीक का उपन्यास है– 'हर्बेरियम'। इसमें फ्लैट में जीने वाले नौ साल के बच्चे के माध्यम से कथा आगे बढ़ती है। बच्चों में प्रकृति के प्रति लगाव लाना ही उपन्यास का उद्देश्य है। पारिस्थितिक राजनीति, जाग्रता और बच्चों के मनोव्यापार आदि पर भी लेखिका चिंतित है। पुराने ज़माने के इल्लम, कावु इन सबसे आज की पीढ़ी वाकिफ नहीं है। इस उपन्यास की पृष्ठभूमि में एक 'कावु' उसको तहस-नहस करके रिपोर्ट बनाने की योजना बनाती है। ऐसा करने से बहुत सारे जीव-जन्तुओं का प्राकृतिक वासस्थान नष्ट हो जाएगा। लेखिका लिखती हैं– ''यह उपन्यास उन बच्चों को समर्पित है, जो ईश्वर के बारे में सोचते हैं, जो बंजर भूमि, मृत वृक्षों, डूबती नदियों आदि में कुछ भी पुनर्जीवित कर सकता है।''[४]

इसी बात की ओर इशारा करने वाला एक और मलयालम उपन्यास है– सादिक काविल का 'खुशी' (२०१७)। विकास की गति में हम बहुत कुछ खो रहे हैं। इसमें प्रमुख है– प्रकृति और हरियाली। विकास के प्रति एक चेतावनी है यह उपन्यास। हमसे छीनी जा रही या दूर हो जा रही बातों की ओर हमें याद दिलाना लेखक का उद्देश्य है। आने वाली पीढ़ी को प्रकृति के बारे में जागरूक कराना भी वह चाहते हैं। खुशी उन बच्चों को प्रकृति की विविधता की जानकारी दिलाता है, जिनकी किस्मत में फ्लैट की चार दिवारों के भीतर कैद होना लिखा है। उनको याद दिलाता है कि प्रकृति सिर्फ बालकनी पर लगे एक गमले के पौधे नहीं हैं और आकाश सिर्फ एक खिड़की का दृश्य नहीं है।

२००४ में एस.आर. हरनोट द्वारा प्रकाशित उपन्यास है– 'हिडिम्ब', जो पर्वतांचल के एक भूखण्ड, वहाँ की स्थानिक संस्कृति और उसकी समकालीन सामाजिक वस्तुस्थिति को रेखांकित करता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण देखिए– ''ज़मीन काफी उपजाऊ थी। उम्दा किस्म की मिट्टी से सनी हुई। नीचे थोड़ी दूर एक पौराणिक नदी बहती थी। ज़मीन के आगे एक बड़ा चशांद था, जिसमें घाटी के कई गाँवों के पशु और भेड़-बकरियाँ चरा करते थे... ऐसे सुरम्य प्रदेश में अचानक धमाका हो गया। जंगलों और पहाड़ियों को डाइनामाइट से उड़ाना और उजड़ जाने के गम में शाक्णु जैसे प्रकृति-स्नेही उदास हो जाते हैं। प्रकृति पर मानव का हस्तक्षेप बढ़ गया, तो प्रकृति सबको निगल जाएगी। इसी का चित्रण इसमें है। शाक्णु द्वारा दान दी गयी ज़मीन पर अस्पताल बनाने की घोषणा करने वाले की जनता ने तारीफ की, पर उसी रात वर्षा अपना प्रकोप दिखाती है। बादल फट जाते हैं, कयामत आ जाती है और नदी के किनारे बसे गाँव, उद्योगपतियों-राजनेताओं के बड़े-बड़े आलीशान बंगले और होटल नदी में बह गए।

२०१५ में प्रकाशित मनोज कुरूर का उपन्यास है– 'निलम पूत्तु मलर्नाल'। उपन्यास की शुरूआत ऐसी है– ''उत्तर में वेंकडा पर्वत, दक्षिण में कुमारी मुनम्बा, पूर्व और पश्चिम में पेरूम सागर और इनके बीच विभिन्न रूपों में पर्वत, घाटियाँ, पहाड़ियाँ, पठार, मैदान, रेगिस्तान, नदी के किनारे और समुद्र तट हैं।''[५]

आगे, हम देखते हैं कि जो ज़मीन उसने पहले देखी थी, वह ज़मीन आज ऊसर बन गयी। बदलते मौसम की वजह से खेतों में अनाज नहीं उगते।

२०१६ में प्रकाशित पी. सुरेन्द्रन का उपन्यास है– 'जैवम'। यह उपन्यास हमें यह सोचने

को बाध्य कर देता है कि कवि एवं परिस्थितिवादी पर्यावरण की सुरक्षा के लिए बहुत सारी काल्पनिक योजनाएँ बनाते हैं। असल में; प्रायोगिक पद्धतियों की आवश्यकता है हमें। वैगा जैसे ऊसर भूमि को कैसे हरिताभ बना सकते हैं– इसी सोच से उपन्यास आगे बढ़ता है–

'मैं भी वैगई आऊँगा।
भले ही वह सूख गया हो,
वहाँ एक नदी है।
मैं एक कवि के रूप में पैदा हुआ हूँ।
मैं नदी को अपनी उँगली से छूऊँगा।
फिर नदी बहने लगेगी।'[६]

कुसुम कुमार का उपन्यास है– 'मीठी नीम' (२०१२), जिसका आरम्भ ओमना के हरित प्रेम से शुरू होता है। वह अपने आस-पास की हरियाली को प्रसारित करने के लिए निरन्तर नए-नए प्रयोग करती रहती है। सुविधाएँ बढ़ाने और शहरीकरण के लिए प्राकृतिक संसाधनों का विनाश किया जाता है। दिल्ली मेट्रो सेवा शुरू हुई, तभी दिल्लीवासियों को राहत मिली। लेकिन लेखिका की दृष्टि प्रकृति की ओर रही है। एक ओर ओमना के भीतर गाड़ी में बैठने की उत्सुकता थी, तो दूसरी ओर; जिन रास्तों से होकर मेट्रो जाती है, वह उसकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सका है। यहाँ कुसुम कुमार यह लिखे बिना नहीं रह पातीं कि– ''इस गाड़ी की सफलता की पृष्ठभूमि में शहर के कुछ वयोवृद्ध वृक्षों का योगदान है।''[७]

इको-फेमिनिज्म में स्त्री और प्रकृति– दोनों को केन्द्र में रखकर विचार-विमर्श किया जाता है। आज स्त्री और प्रकृति– दोनों शोषण का शिकार बनी हुई हैं। दोनों की तुलना इसमें होती है। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और स्त्री की गुलामी को सम्बद्ध करके देखने की प्रवृत्ति है। इको-फेमिनिज्म का जिक्र 'ग्लोबल गाँव के देवता' (२००९) में है। झारखण्ड के भौरापाट इलाके में स्थान-स्थान पर बाक्साइट की खुली खदानें हैं। जहाँ से बाक्साइट खोदकर ले जाया जाता था, वहाँ बड़े-बड़े गड्ढे दिखाई देते थे। इसे देखकर लेखक को ऐसा लगता है कि– ''मानो माँ के चेहरे पर चेचक के बड़े-बड़े धब्बे हों।''[८]

२०१४ के 'गायब होता देश' झारखण्ड के मुण्डा आदिवासियों की संकट की गाथा है। पूँजीवादी विकास की दौड़ में शामिल लोग किस कदर घास की तरह मानव समुदाय को चरते जा रहे हैं? बाज़ारवाद, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद आदिवासियों को ज्यादा प्रलोभन देते हैं। विकास का प्रलोभन देकर उनके इलाके पर कब्जा कर लेते हैं। विकास का विकराल हस्तक्षेप इतना बढ़ गया कि–

'सरना वनस्पति जगत गायब हुआ,
मरंग बुरा बोंगा, पहाड़ देवता गायब
हुए गीत गाने वाली, धीमे बहने वाली,
सोने की चमक विखेरने वाली, हीरों से भरी
सारी नदियाँ जिनमें जल देवता का वास था,
गायब हो गई, मंडाओं की बेटियाँ भी गायब
होनी शुरू हो गईं, सोना लेकर दिसुम
गायब होने वाले देश में तब्दील हो गए।'[९]

प्रकृति पर मानव का हस्तक्षेप बढ़ने के कारण जंगल में रहने वाले लोगों का पलायन होता है। इस पर विचार करनेवाला उपन्यास है– शीलाटॉमी का 'वल्ली'। पहाड़, नदी, जंगल– सब शोषण का शिकार हो रहे हैं। एक ओर जंगल का नाक-नक्शा बदलने के लिए आगे आने वाले लोग, दूसरी ओर अपनी जान की परवाह किए बिना उसकी सुरक्षा के लिए आगे आने वाले प्रकृति-स्नेही को हम इसमें देख सकते हैं। जंगली जीवन की रूपरेखा लेखिका यों प्रस्तुत करती हैं– ''हाथी और उसका साथी, जो झील से पानी पीने आए थे, बाँस के झुरमुट के पीछे बहुत देर तक इंतज़ार करते रहे। जैसे-जैसे उन्होंने धरती को प्रेम से भरते, झील को तालाब में बदलते और तालाब को नदी बनते देखा, दोनों हाथियों के मन में मानव के प्रति गहरा स्नेह उमड़ पड़ा।''[१०]

२००३ में प्रकाशित अभिमन्यु अनत का उपन्यास है– 'एक उम्मीद और'। इसमें बढ़ते शहरीकरण ने प्रकृति की सुन्दरता का विनाश करने की ओर इशारा किया है। सियासतदानों की स्वार्थता और लालच के कारण प्रकृति की सुन्दरता को भी बेचने के लिए वे तैयार हैं। लोगों के मन में मजहब के नाम पर नफरत पैदा करते हैं। साम्प्रदायिक ताकतों को समझने में आम आदमी असमर्थ हो जाता है और वे इस साम्प्रदायिकता की आड़ में अपनी धरती को बेचने वालों को नहीं पहचान पाते। ऐसे अहम मुद्दों पर लेखक अपनी राय बताता है।

१९९१ में वीरेन्द्र जैन ने 'डूब' नामक उपन्यास लिखकर पर्यावरण-चेतना को जगाया है। 'डूब' तीन तरफ पहाड़ों से और एक तरफ नदी से घिरी लडाई गाँव की कहानी है, जहाँ सरकार बाँध बनवाना चाहती है। बाँध बनवाने के चक्कर में सरकार ग्रामीण लोगों का उचित प्रबंध किए बिना उन्हें विस्थापित करना चाहती है। मानव की स्वार्थता का चित्रण यों किया है– ''आदमी की फितरत ऐसी है कि शरीर की बुनियादी ज़रूरतें पूरी होते ही मन में तरह-तरह की तरंगें उठने लगती हैं।''[११]

२००९ में अम्बिकासुतन मंगाद द्वारा मलयालम में रचित 'एनमकाजे' और २०१२ में महुआ माजी द्वारा लिखित 'मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ'– ये दोनों उपन्यास इस मायने में तुलना करने योग्य हैं कि दोनों प्रदूषण और विस्थापन से जूझते आदिवासियों की गाथा हैं। इन दोनों उपन्यासों का विषय प्रदूषण है। 'मरंग गोड़ा' में यूरेनियम खनन से उत्पन्न प्रदूषण का जिक्र है, तो एनमकाजे में 'एण्डोसल्फान' से उत्पन्न प्रदूषण है।

'मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ' का परिवेश झारखण्ड के निकट स्थित मरंग गोड़ा नामक गाँव है। यह गाँव जहाँ जंगलों से भरा हुआ है, वहीं भूगर्भ में यूरेनियम, ताँबा और अयस्क है। इसके खनन से ही जल, जंगल, घर, झोपड़ी आदि सब कुछ उजड़ गया। इसके समान 'एनमकाजे' में कहा गया कि काजू की खेती के नाम पर कई एकड़ ज़मीन आदिवासियों से छीनी गयी। यूरेनियम खनन के नाम पर अपनी ज़मीन पर किए जाने वाले अत्याचार का चित्रण 'मरंग गोड़ा नीलकण्ठ हुआ' में महुआ माजी ने यों खीचा है– ''नई खदान कम्पनी के लोग कई पुलिसकर्मियों के साथ खड़े होकर उसकी झोपड़ी को गाड़ी से तुड़वा रहे हैं। 'अधिकासुतन विलयिडानावात्त, जैववैविध्यंगलाल समृद्धमाय कोडून काउ बेष्टितेलिविच्चाणु एकविलयूडे कृत्रिम काडु निमिच्चत। चुरुक्कम स्थलमल्ला। एनसकजेयिन मात्र अरुजूरोलम हेक्टरा,' इसका मतलब यह है कि काजू की खेती के लिए जैव वैविध्य से युक्त घनघोर जंगल को काटकर काजू लगा दिया। ६०० हेक्टर जमीन इसके लिए हड़प लिया गया।

'एमनकाजे' कासरगोड़ जिले में एक सुन्दर गाँव है। 'एनमकाजे' शब्द का अर्थ है– आठ संस्कृतियों का संगम स्थल। यह जगह छोटे-छोटे पहाड़ों से युक्त है। एक या दो नहीं, दस हज़ार पहाड़ों का गाँव। इसी प्रकार, मरंग गोड़ा का निकटवर्ती जंगली इलाका है– सारंडा। यह तो सात सौ पहाड़ों का देश है। यूरेनियम खनन से निकलने वाले अल्फा, बीटा, गामा जैसे विकिरण शरीर के अन्दर पहुँचकर जेनेटिक व्यवस्था को बदल डालते हैं। नई-नई बीमारियों से लोग बेचैन होते हैं। बच्चों के सिर अस्वाभाविक रूप से बड़े हो जाते हैं। कुछ बच्चों के सिर धड़ की तुलना में छोटे थे। कुछ बच्चों के दाहिने हाथ और पैर का विकास मंथर गति से होता है। लोगों के चेहरे, कंधे और पैरों पर काले-काले धब्बे थे। पेट या गर्दन में बड़ी-बड़ी गाँठें लिए घूमते थे। जानवरों पर भी इसका असर हम देखते हैं। गाय-बकरी विकलांग पैदा होते हैं। कुछ तो पैदा होते ही मर जाते हैं। कुछ बकरियों का जबड़ा और मसूड़ों सहित सारे दाँत सड़-गलकर गिर चुके थे। इसी प्रकार की विचित्र बीमारियों का चित्रण 'एनमकाजे' में भी है। पच्चीस वर्षों के लगातार एण्डोसल्फान के प्रयोग से लोग तड़प रहे थे।

संक्षेप में; कह सकते हैं कि हिन्दी और मलयालम के उपन्यासों में पर्यावरण सजग होकर सामने आते हैं। लेखकों के पर्यावरण सम्बन्धी दृष्टिकोण से आजकल के प्रदूषण सम्बन्धी मामलों में भी विचार-विमर्श होते हैं। भाषा जो भी हो, पर्यावरण की सुरक्षा हमारी सुरक्षा है। इन तमाम उपन्यासों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि परिस्थिति से लगाव रखना हमारा कर्तव्य है।

सहायक ग्रन्थ

१. सारा जोसफ– आति, डी. सी. बुक्स-२०११, पृष्ठ संख्या १७
२. नासिरा शर्मा– कुइयॉ जान, सामयिक प्रकाशन– २००६, पृष्ठ संख्या ३७
३. पी. सुरेन्द्रन– जिना शालाभंगलुड़े वीडु, मातृभूमि बुक्स-२०१७, पृष्ठ संख्या ३३
४. सोफिया रफीक– 'हर्बेरियम', मातृभूमि बुक्स-२०१६, पृष्ठ संख्या २८
५. मनोज कुरूर– निलम पूत्तु मलर्नाल, डी. सी. बुक्स-२०१५, पृष्ठ संख्या ४३
६. पी. सुरेन्द्रन– जैवम, लोगोस बुक्स-२०१६, पृष्ठ संख्या १९
७. कुसुम कुमार– मीठी नीम, किताबघर प्रकाशन-२०१२, पृष्ठ संख्या ५४
८. रणेन्द्र– ग्लोबल गाँव के देवता, भारतीय ज्ञानपीठ-२००९, पृष्ठ संख्या १६
९. रणेन्द्र– गायब होता देश, भारतीय ज्ञानपीठ-२०१५, पृष्ठ संख्या ७१
१०. शीला टोमी– वल्ली, डी. सी. बुक्स-२०१९, पृष्ठ संख्या ४३
११. वीरेन्द्र जैन– डूब, वाणी प्रकाशन-१९९०, पृष्ठ संख्या २३

●

'जब-जब होहिं धरम की हानी' में नसबन्दी की पीड़ा

डॉ. अशोक कुमार ज्योति*

प्रस्तावना : लोकनायक जयप्रकाश नारायण के आह्वान पर देशभर में व्याप्त 'सम्पूर्ण क्रान्ति' के प्रतिरोध-स्वरूप और माननीय इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा रायबरेली लोकसभा चुनाव को रद्द कर दिए जाने पर, तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अनुशंसा पर, भारत के राष्ट्रपति ने २५ जून, १९७५ को देश में आपातकाल लागू कर दिया। अगले दिन, २६ जून को इन्दिरा गाँधी ने आकाशवाणी से इसकी घोषणा की। २१ मार्च, १९७७ तक चले आपातकाल के इक्कीस महीने के उस कालखण्ड में देश के साहित्यकारों, प्राध्यापकों, पत्रकारों, समाजसेवियों, राजनीतिज्ञों, छात्र-छात्राओं और लाखों आम जन पर अनेक जुल्म किए गए। निर्दोष लोगों को कारागार के सींखचों में इसलिए बन्द कर दिया गया था, क्योंकि वे इन्दिरा-शासन में देश में व्याप्त भ्रष्टाचार, चोरी, शिक्षा में गिरावट, महँगाई, बेरोजगारी, पुलिस-प्रशासन के जुल्म इत्यादि के विरोध में अपना स्वर मुखर कर रहे थे। देश के बन्दीगृहों में उन्हें अनेक प्रताड़नाएँ दी गयीं। उन दिनों अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। समाचार-पत्रों पर सेंसरशिप लागू कर दी गयी थी। कोई भी समाचार बिना सरकारी अधिकारी को दिखाए प्रकाशित नहीं होता था। देश के हर वर्ग में दो समूह बन गए थे, एक आपातकाल के समर्थक और दूसरे आपातकाल-विरोधी।

मुख्य शब्द : प्रधानमन्त्री, सम्पूर्ण क्रान्ति, आपातकाल, प्रतिबन्ध, जनसंख्या-नियन्त्रण, नसबन्दी, गर्भवती, अस्पताल, मृत्यु, कारागार, अमानवीय, लोकतान्त्रिक, तानाशाही, प्रताड़ना, भयावहता, परिस्थिति, अभिव्यक्ति, स्वतन्त्रता इत्यादि।

आपातकाल और नसबन्दी : सन् १९७५ के आपातकाल के उस कालखण्ड में जनसंख्या-नियन्त्रण के नाम पर आम जन को प्रताड़ित करने के लिए सरकारी स्तर पर 'पुरुष नसबन्दी' का अभियान चलाया गया। इसकी बागडोर प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी के सुपुत्र श्री संजय गाँधी ने पूरे जोश-खरोश से अपने कन्धे पर लिया और सरकारी तन्त्र को इस कार्य में झोंक दिया। यह नसबन्दी कार्यक्रम इतनी तेजी से पूरे देश में सम्पन्न किया जा रहा था कि पुलिस भी जबरन गाँववालों का घेराव कर लोगों की नसबन्दी कर रही थी। शासन और पुलिस-प्रशासन का दुरुपयोग करते हुए, अमानवीय रूप से बलपूर्वक इस कार्यक्रम को अंजाम दिया जा रहा था। बहुत-से साहित्यकारों और पत्रकारों ने अपनी रचनाओं में शासन के ऐसे अनेक दुष्कृत्यों का उल्लेख किया है। वरिष्ठ पत्रकार विनोद मेहता ने अपनी पुस्तक 'द संजय स्टोरी' (प्रकाशन वर्ष–सन् १९७८) में आपातकाल के कालखण्ड की अनेक घटनाओं की चर्चा की है। इसमें उन्होंने दिल्ली में जबरदस्ती की जा रही नसबन्दी और उसमें संलग्न लोगों का उल्लेख किया है, जिसमें लेफ्टिनेण्ट गवर्नर किशन चन्द, नवीन चावला, विद्याबेन शाह और रुखसाना सुल्ताना सम्मिलित थे। रुखसाना को मुस्लिम समुदाय के लोगों की नसबन्दी की जिम्मेदारी दी गयी थी। रुखसाना सुल्ताना उन दिनों एक बड़ी हस्ती बन गयी थीं, जो पुरानी दिल्ली में एक बुटीक संचालित करती थीं। उनका विवाह प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार खुशवन्त सिंह के भतीजे

* सहायक आचार्य– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

सेनाधिकारी शिविन्दर सिंह से हुआ था। इन्हीं दोनों की बेटी हैं– बॉलीवुड की प्रसिद्ध अभिनेत्री अमृता सिंह, जिनका विवाह अभिनेता सैफ अली खान से हुआ था।

वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. देवेन्द्र दीपक ने अपनी एक कविता 'देव (क्रान्ति)-दूत का अवतरण' शीर्षक कविता में संजय गाँधी की तानाशाही प्रवृत्ति के सम्मुख शासन और राजनेताओं के नतमस्तक होने का स्पष्ट उल्लेख किया है। २७ जनवरी, १९७६ को सात पृष्ठों में लिखी यह कविता उनके काव्य-संग्रह 'बन्द कमरा : खुली कविताएँ' में संगृहीत है, जो सन् १९७८ में प्रकाशित हुई थी। इस कविता में डॉ. दीपक ने लिखा है कि किस तरह लोगों को प्रलोभन देकर, ट्रकों में लादकर सभाओं में लाया जाता था और सरकार का हरएक कर्मचारी और अफसर चापलूसी में लगा था। वे लिखते हैं– **''तुम्हारी शोभायात्रा निकली/जो कुछ भी कहा तुमने/ वह बोध की दृष्टि से अबुद्ध था/और भाषा की दृष्टि से सर्वथा अशुद्ध था...तुम्हारे आने से हमने कलक्टर की मशीन का/कमाल देखा है/प्रधानमन्त्री से बढ़कर प्रधानमन्त्री के बेटे का/इकबाल देखा है।''**[१]

इस नसबन्दी के कार्य में सरकार के प्राय: हर विभाग के कर्मचारियों को एक निश्चित संख्या दी गयी थी कि इतने लोगों की नसबन्दी कराना अनिवार्य है, अन्यथा उनकी नौकरी ले ली जाएगी। इस 'नसबन्दी संख्या-पूर्ति-अभियान' में आयु का भी ध्यान नहीं रखा जाता था और १८ से ६० वर्ष तक के आयु-वर्ग के लोगों की नसबन्दी कर दी जा रही थी। इस अभियान की क्रूरता का चित्रण कथाकार पंकज बिष्ट ने अपनी कहानी 'कवायद' में की है। उन्होंने बताया है कि किस प्रकार नैरेटर को सरकार के लोग एम्बुलेन्स में अस्पतालनुमा जगह पर ले जाते हैं और उसकी नसबन्दी कर उसे अर्द्धनग्न अवस्था में बिना पैण्ट के बाहर भेज देते हैं। वह अपनी इज्जत बचाने के लिए सिपाही के सामने गिड़गिड़ाता है कि कम-से-कम उसकी पैण्ट तो दे दी जाए, ताकि अपनी इज्जत ढककर बाहर जा सके, अपने घर पहुँच सके। किन्तु सिपाही उसे धक्के मारकर बाहर कर देता है और कहता है– ''बेकार का हल्ला मत करो। अब तुम्हें पैण्ट की कोई जरूरत नहीं है।''[२]

आपातकाल के दौरान जनसंख्या-नियन्त्रण के इसी नसबन्दी के 'संख्या-पूर्ति-अभियान' से जोड़ दिए गए एक युवा सरकारी कर्मचारी के अन्तर्द्वन्द्व और अन्त:पीड़ा को साहित्यकार मृदुला सिन्हा ने अपनी कहानी 'जब-जब होहिं धरम की हानी' में अभिव्यक्त किया है। २७ नवम्बर, १९४२ को बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के छपरा गाँव में जन्मीं मृदुला सिन्हा के पिता का नाम बाबू छबीले सिंह और माता का नाम अनुपा देवी था। वे बाल्यकाल से ही प्रतिभाशालिनी थीं। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने गाँव के स्थानीय विद्यालय में हुई। उसके पश्चात् वे लखीसराय जिला के बालिका विद्यापीठ से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण हुईं। स्नातक की पढ़ाई पूरी होने से पहले ही उनका विवाह राम कृपाल सिन्हा से कर दिया गया। विवाह के बाद भी मृदुला जी ने अपनी पढ़ाई जारी रखी। उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे मोतीहारी के डॉ. एस.के. सिन्हा महिला कॉलेज में लेक्चरर के पद पर नियुक्त हुईं, लेकिन उनके पति के अंग्रेजी में डॉक्टरेट की उपाधि प्राप्त कर मुजफ्फरपुर में लेक्चरर बन जाने पर उन्होंने अपनी नौकरी छोड़कर अपना स्कूल प्रारम्भ किया। वे जयप्रकाश नारायण की 'सम्पूर्ण क्रान्ति' से जुड़ गयीं। बाद के दिनों में डॉ. राम कृपाल सिन्हा बिहार के केबिनेट मन्त्री और केन्द्र सरकार में राज्यमन्त्री रहे। भारतीय जनता पार्टी में सम्मिलित होकर पति-पत्नी दोनों एक राजनीतिज्ञ और समाजसेवी के रूप में देशसेवा करने लगे।

मृदुला सिन्हा के सहज, सहृदय और सम्वेदनशील मन ने कलम पकड़ी और उन्होंने हिन्दी साहित्य को अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ दीं। उन्होंने राजमाता विजयाराजे सिन्धिया की जीवनी लिखी– 'राजपथ से लोकपथ पर'। उनके उपन्यास हैं– 'नई देवयानी', 'अतिशय', 'ज्यों मेहँदी को रंग', 'घरवास', 'सीता पुनि बोलीं', 'परितप्त लंकेश्वरी'; कहानी-संग्रह हैं– 'देखन में छोटे लगैं', 'स्पर्श की तासीर', 'ढाई बीघा जमीन', 'साक्षात्कार', 'बिहार की लोककथाएँ, भाग-१ एवं २। इनके अतिरिक्त; अन्य विधाओं की उनकी कृतियाँ हैं– 'यायावरी आँखों से', 'मात्र देह नहीं है औरत', 'विकास का विश्वास', 'क ख ग', 'मानवी के नाते', 'पुराण के बच्चे', 'एक दीये की दीवाली' इत्यादि। उन्होंने 'पाँचवाँ स्तम्भ' नामक पत्रिका प्रकाशित कर भी खूब ख्याति अर्जित की और अपने सम्पादकीयों से समाज के प्रति अपने दायित्वबोध और कर्तव्यों से सबको परिचित कराया। वे अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमन्त्रित्वकाल में केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्ष बनायी गयी थीं। बाद में; वे भारतीय जनता पार्टी की कार्यकारिणी की सदस्य भी रहीं। वर्ष २०१४ में वे गोवा की प्रथम महिला राज्यपाल बनीं। गोवा में रहते भी उन्होंने अपनी लेखनी और साहित्यिक गतिविधियों से सम्बन्ध बनाए रखा। वे स्वयं को प्रथमत: एक साहित्यकार, फिर राजनेत्री कहती थीं। १८ नवम्बर, २०२० को दिल्ली में उनका निधन हो गया।

आपातकाल में बिखरता परिवार और तार-तार होते निजी सम्बन्ध : 'जब-जब होहिं धरम की हानी' कहानी के आरम्भ में युवा नायक हरिपद अपने साहब की कोठी के दरवाजे-खिड़कियों से धूल झाड़ते हुए सपना देखने लगता है कि उसका भी एक छोटा-सा घर होगा और उस छोटे-से घर में उसकी पत्नी शाम को खड़ी होकर उसकी प्रतीक्षा कर रही होगी। उसके बच्चे होंगे। उसका भरा-पूरा परिवार होगा।

हरिपद की माँ का देहान्त उसके जन्म के बाद ही हो गया था। किशोरावस्था तक पिता ने ही उसको सँभाला। फिर वे भी चल बसे। पिता के रिक्त स्थान पर हरिपद को हॉस्पिटल में नौकरी मिल गयी। घर के नाम पर बस एक झोपड़ी। उस समय उसकी आयु मात्र अट्ठारह वर्ष तीन माह की ही थी। अपना कहलाने वाले संसार में उसका कोई नहीं है। उसे अपने पिता के मित्र पतिराम का भरा हुआ घर-परिवार बहुत अच्छा लगता है। पतिराम का बेटा धनीराम उसका अच्छा मित्र बन जाता है। मित्रता सम्बन्ध में बदल जाती है और पतिराम की पुत्री सुनयना से हरिपद का विवाह हो जाता है। हरिपद को भरा-पूरा परिवार हमेशा अच्छा लगता है। उसने अपनी पत्नी से भी यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह चाहता है कि उसके ढेर सारे बच्चे हों, ताकि पूरे घर में रौनक बनी रहे। वह अपने रक्त-सम्बन्धों की क्षति-पूर्ति अपनी सन्तानों से करना चाहता है, किन्तु सुनयना साफ मना कर देती है और कहती है– ''एक से अधिक बच्चा चाहिए, तो दूसरी शादी कर लेना। मैं तो एक ही बच्चा जनूँगी।''[३] इस कथन से लेखिका ने जनसंख्या-नियन्त्रण का समर्थन भी किया है।

सुनयना जब गर्भवती हुई, तो हरिपद बहुत प्रसन्न हुआ। वह अपनी प्रसन्नता कोठी की मेमसाहब से भी व्यक्त करता है। मेमसाहब उसे सुनयना को अस्पताल में डॉक्टर से दिखाने और उसकी देख-रेख का परामर्श देती हैं। इस प्रसन्नता के आए अभी अधिक दिन भी नहीं हुए थे कि पूरे वातावरण में सरकार द्वारा लागू नसबन्दी से चहुँओर अफरा-तफरी मच गयी। अधिकारिगण सरकारी कर्मचारियों और आम लोगों को पकड़-पकड़कर नसबन्दी करने लगे। हरिपद अस्पताल की इन विकट परिस्थितियों को देख बड़ा ही बेचैन हो गया। अपनी बेचैनी को

शान्त करने के लिए वह अपने एक परिचित मास्टर जी के घर गया। घर का दरवाजा खटखटाता, इससे पहले उसे अन्दर की आवाज सुनाई दी। मास्टर जी को उनकी पत्नी उन्हें नसबन्दी कराने के कारण डाँट रही थीं– ''तुम्हें शर्म नहीं आई! पचास वर्ष की आयु में नसबन्दी करा आए। अब क्या तुम्हें बच्चा होने वाला था? घर में बहू आ गई है। मुझे तो बोलते भी शर्म आ रही है।''[४] मास्टर जी पत्नी से अपनी विवशता व्यक्त करते हुए कहते हैं– ''मैंने कोई स्वेच्छा से यह सब नहीं किया? तुम तो घर में रहती हो, बाहर क्या हो रहा है, तुझे क्या पता। शिक्षकों, सरकारी कर्मचारियों पर कहर ढाया जा रहा है। नौकरी करनी है, तो सब बर्दाश्त करना होगा।''[५] प्रस्तुत कथन के माध्यम से लेखिका ने आपातकाल की परिस्थितियों पर करारा व्यंग्य किया है। पात्रों के माध्यम से भयावहता और उभरकर सामने आयी है। हरिपद कुछ देर बाहर खड़ा रहने के बाद अन्दर मास्टर जी से मिलने जाता है। वह मास्टर साहब से अपने मन में उठ रही शंकाओं के बारे में बताता है। मास्टर साहब उसे सावधान करते हैं कि अभी समय ऐसा है कि इसमें बोलने की मनाही है। वह कहते हैं– ''देखो और सुनो भर, बोलो मत। सरकारी आदेश है– छापो मत, पढ़ो मत, बोलो मत।''[६]

हरिपद की नसबन्दी : मास्टर जी की बातों से हरिपद को समय की भयावहता का अनुभव हुआ। जब हरिपद घर आता है, तो उसे पता चलता है कि पतिराम के बेटे धनीराम ने कुछ पैसे के लिए नसबन्दी करवा ली। यह सुनते ही वह काफी नाराज होता है। हरिपद चारों ओर की विकट परिस्थिति को देखकर काफी परेशान होता है। वह जब साहब की कोठी और दफ्तर में डॉक्टरों के नसबन्दी के आँकड़े देखता, तो एक अजीब-से दर्द से भर जाता। चारों तरफ आतंक का माहौल और अजीब सन्नाटा छाया हुआ था। बाहरी परिस्थितियों को देख हरिपद के हार्निया का दर्द बढ़ने लगा। दर्द बढ़ता देख उसे मेमसाहब अपने साथ अस्पताल ले गयीं। डॉक्टरों के परामर्श पर उसका ऑपरेशन किया गया। ऑपरेशन के बाद वहीं उसके एक साथी ने उसके कान में आकर बताया, ''तुम्हारी भी नसबन्दी कर दी गई।''[७]

युवा हरिपद अपनी नसबन्दी से कराह उठा। घर आने पर वह सुनयना के पास बैठकर खूब रोया। दबे स्वर में यह बात भी होने लगी कि पतिराम के बेटे धनीराम ने ही अपना कोटा पूरा करने के लिए हरिपद का ऑपरेशन करवा दिया, क्योंकि उसकी तनख्वाह कई महीने से रुकी थी। हरिपद मेमसाहब से और डॉक्टरों से इतना दु:खी हुआ कि उस दिन के बाद फिर अस्पताल नहीं गया। हरिपद ने अस्पताल से भागते वक्त सिविल सर्जन को एक पत्थर भी मारा था। पुलिस जब तक पकड़ती, वह नौ-दो ग्यारह हो गया। अब हरिपद भारत सरकार का विरोध करने लगा, जिसके कारण पुलिस उसके पीछे पड़ गयी। पुलिस से बचने के लिए उसने अपने घर भी जाना छोड़ दिया। अकेले सुनयना जब अपने घरवालों के पास सहायता माँगने आयी, तो धनीराम ने दरवाजा तक बन्द कर लिया, क्योंकि विद्रोही के परिवार से सम्बन्ध रखकर कोई मुसीबत मोल लेना नहीं चाहता था। यहाँ तक कि पड़ोसियों ने भी सुनयना से दूरी बना ली। हरिपद कभी-कभार अर्द्धरात्रि या सुबह से पहले अँधेरे में आकर उसे सान्त्वना देता। परिस्थितियाँ और विकट रूप धारण कर रही थीं। हरिपद अपनी नानी को अपने घर बुलवाकर सुनयना की देखभाल करने की जिम्मेदारी देता है, पर वे आए दिन पुलिस की प्रताड़ना से परेशान रहा करती थीं। तब नानी सुनयना को अपने घर लेकर चली गयीं। सुनयना ने बेटे को जन्म दिया, पर ऐसे समय पर उसे अपने पति की कमी बहुत खली।

एक रात धनीराम की खबर लेने हरिपद उसके घर पहुँचा, तो उसे पता चला कि सुनयना ने बेटे को जन्म दिया है। यह सुनकर हरिपद अपने-आपको रोक नहीं पाया। वह अपने बच्चे को देखने के लिए दौड़ता हुआ नानी के घर पहुँचा। देखते ही वह फूला नहीं समाया। पुलिस भी इसी समय के इन्तजार में बैठी थी। उसे बन्दी बनाकर कारागार में डाल दिया गया। सुनयना का सन्देह उचित ही था कि पुलिस को उसके भाई धनीराम ने ही खबर दी होगी। छह महीने तक हरिपद ने खूब प्रताड़ना सही। एकदम सूखकर काँटा हो गया। कभी-कभी जेल में सुनयना हरिपद से मिलने आती। अकेली सुनयना को देख हरिपद अपने बेटे के बारे में पूछता, पर वह उसे कैसे बताती कि उसका बेटा तो मर गया है! इसलिए हर बार उससे बेटे के बारे में झूठा बहाना बनाती। छह महीने बाद जेल से काफी लोग छूटने लगे, पर हरिपद नहीं छूटा। दूसरी तरफ, पूरे देश में चुनाव का माहौल बन गया। सुनयना चुनाव के प्रचार-प्रसार में बढ़-चढ़कर भाग लेने लगी। इधर वह भी दिन-प्रतिदिन कमजोर होने लगी। चुनाव के दिन जब वह वोट डालने गयी, तब ''मतपत्र और मुहर हाथ में पकड़ते ही उस पर टूट पड़ी सुनयना। मानो पिछले अट्ठारह महीनों के जुल्मों का बदला लेने के लिए ऐसे ही कारगर हथियार का इंतजार था उसे।''[८] वोट देने के बाद सुनयना बेहोश होने लगी। कहीं से भागता हुआ धनीराम बहन के पास आया और उसे अपने साथ ले जाना चाहा। सुनयना ने झड़पकर उसे दूर हटा दिया।

कथाकार मृदुला सिन्हा आपातकाल की उस भयावहता को सुनयना के माध्यम से चित्रित करती हैं– ''सुनयना बेहोशी में भी बड़बड़ा रही थी।...निर्जीव-सी पड़ी सुनयना को स्त्री, युवक और बच्चों की जमात ने घेर रखा था। उसकी आँखें खुलतीं, बन्द हो जातीं। आज बन्द आँखों की दुनिया ही उसे रास आ रही थी। हरिपद के सपने, सपनों को रौंदती नसबन्दी, बच्चा होने की खबर सुनकर अन्धे को आँखें मिलने जैसी उसकी खुशी। उसकी गिरफ्तारी, बच्चे की मृत्यु, उसे अकेले मिट्टी में गाड़ने जाना, फिर धीरे-धीरे लोगों का उसके पास आना, भरी सभाओं में उसे मंच पर खड़ा करना, ये सब तो थे उसकी बन्द आँखों के सामने के दृश्य।''[९]

तभी सुनयना के पास एक व्यक्ति आया और उसने बताया कि हरिपद दो-तीन दिनों में छूट जाएगा। मतगणना शुरू हुई और परिणाम ऐसे आ रहे थे कि मानो नयी सरकार ही बनेगी। जब सुनयना को यह पता चला, तो वह अचानक उठी और उद्विग्न होकर तीव्र गति से सिविल सर्जन के घर के पास जाकर पत्थर उठाकर अपनी पूरी शक्ति से बँगले के शीशों पर फेंकने लगी। उसके अन्तर्मन की पीड़ा को इस विध्वंस से थोड़ी तसल्ली मिल रही थी– ''उनके टूटने के करुण आर्त्तनाद स्वर से दिल्ली के सफदरजंग रोड की कोठी नम्बर वन की नींव तक धराशायी हो गई।''[१०]

सुनयना कमजोर तो थी ही, पत्थर मारते-मारते उसका सारा शरीर शून्य हो उठा। आँखें पथरा गयीं। उसे उठाकर घर लाया गया। उसे अकेला छोड़ सभी जश्न मनाने लगे। दूसरे दिन नयी सरकार बन गयी। हरिपद कारागार से मुक्त हो गया। पर वह जाए तो जाए कहाँ? किसके पास? उसके सारे सपने तो टूट गए थे। वह निढाल हो गया। लेखिका कहती हैं– ''डॉक्टर ने दोनों शवों का परीक्षण किया। उसका गणित शायद ठीक रहा हो– सुनयना के प्राण भी हरिपद के साथ ही छूटे थे। फिर मिलें अगले जन्म में। देखेंगे सपने।''[११] इस जन्म में सत्ता और शासन में बैठे क्रूर कर्मचारियों और शासकों ने यदि सपने पूरे नहीं होने दिए, तो क्या? हम तो अगले जन्म में भी इसकी पूर्ति कर लेंगे! यह भारतीय मानस का संतोष-शिखर है।

कथाकार मृदुला सिन्हा ने देश-काल के अनुकूल कहानी का कथानक लिया और उस काल के सम्पूर्ण सत्य को अपनी कहानी के माध्यम से अभिव्यक्त किया। यह कहानी जीवन्त यथार्थ की प्रतीक है। इसके शीर्षक के माध्यम से कथाकार ने 'महाभारत' के उस महासन्देश का पुनराख्यान किया है, जिसमें कहा गया है कि– ''यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।' इसी भाव को गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है– 'जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।.../तब तब प्रभु धरी विविध सरीरा, हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।''[१२]

आपातकाल के बाद जनता ही इस जनार्दन के रूप में आयी और आततायी सरकार को अपने मत से पराजित कर दिया। आर्ष वाक्य की स्थापना हुई और पीड़ित-प्रताड़ित मनुष्य की जय हुई।

निष्कर्ष : हरिपद और सुनयना जैसे कितने ही लोग आपातकाल के समय अनेक प्रकार से प्रताड़ित और पीड़ित किए गए। उनके सपने मरे, आत्मा मरी और देह भी नष्ट हो गयी। रक्त-सम्बन्धों की मर्यादा तार-तार हो गयी। माता-पिता विहीन हरिपद की एकमात्र इच्छा थी कि वह चैन से अपने परिवार के साथ रहे। उसके घर में बच्चों की किलकारियाँ गूँजती रहे और परिवार को दो वक्त की रोटी मिलती रहे, किन्तु आपातकाल में सर्वत्र व्याप्त अमानवीय कुकृत्यों के बीच उसके सपने मार दिए गए। अकारण उसे कारागार में बन्द कर दिया गया और अन्ततः पति-पत्नी दोनों की मौत हो जाती है। हम कहें कि एक तानाशाही कुव्यवस्था ने उनकी हत्या कर दी! सरकार की गलत नीतियों से देशभर में युवा और बूढ़े नसबन्दी के शिकार हुए। एक आयुवर्ग की पूरी जिन्दगी पड़ी थी और दूसरे को इस नसबन्दी की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। उस अन्धे शासक से क्या इतनी भी अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि नसबन्दी के लिए अपने विवेक का उपयोग करे! सबकुछ विवेकहीन! इसलिए स्वतन्त्र भारत में सन् १९७५ में एक गहन अविश्वसनीयता का वातावरण व्याप्त हो गया। सरकार के भय से आपातकाल-विरोधियों के मित्र, सहकर्मी, आत्मीय जन और सगे-सम्बन्धियों ने भी एक-दूसरे का साथ छोड़ दिया था। ऐसे ही भय से कुछ लोगों ने आपातकाल का समर्थन भी किया, तो कुछ ने पद-पुरस्कार के लोभ-लालच में सरकार का साथ दिया। २५ जून, १९७५ का आपातकाल भारत की लोकतान्त्रिक छवि पर एक कुठाराघात था।

सन्दर्भ-सूची

१. प्रो. अरुण कुमार भगत (सम्पादक)– 'डॉ. देवेन्द्र दीपक का आपातकालीन साहित्य : दृष्टि और मूल्यांकन', ज्ञानवर्धन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-सन् २०१९, पृष्ठ-५२

२. प्रो. अरुण कुमार भगत (सम्पादक)– 'आपातकाल की कहानियाँ', अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण– सन् २०१९, पृष्ठ-४३

३. उपरिवत्, पृष्ठ-७३

४. उपरिवत्, पृष्ठ-७४

५. उपरिवत्, पृष्ठ-७४

६. उपरिवत्, पृष्ठ-७४

७. उपरिवत्, पृष्ठ-७५

८. उपरिवत्, पृष्ठ-७९

९. उपरिवत्, पृष्ठ-७९

१०. उपरिवत्, पृष्ठ-८०

११. उपरिवत्, पृष्ठ-८०

१२. गोस्वामी तुलसीदास– 'रामचरितमानस', बालकाण्ड– १२०/६

थर्ड जेण्डर विमर्श और 'मैं पायल...' उपन्यास

डॉ. गरिमा तिवारी*

'अधूरी देह...
नहीं नारी हूँ मैं और नर नहीं हूँ
विवश हूँ मूक हूँ, पत्थर नहीं हूँ....
बहिष्कृत और तिरस्कृत त्रासदी हूँ
भरी जो पीर से, जीवन नदी हूँ
मिलन सागर को ही कब रास आया
वही एकाकीपन मुझमें समाया
अधूरी देह क्यों मुझको बनाया
बता ईश्वर तुझे ये क्या सुहाया।'[१] (गीतिका वेदिका)

'विमर्श' किसी विशिष्ट मुद्दे, विषय या समस्या पर गहन, तर्कपूर्ण, विचारशील चर्चा या परिचर्चा को कहते हैं, जिसमें सम्बन्धित विषय या समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श किया जाता है। साहित्यकार समाज में व्याप्त किसी विषमता के प्रति हाथ में तलवार लेकर, सड़क पर उतरकर आक्रोशपूर्ण विरोध-प्रदर्शन नहीं करता, अपितु अपनी लेखनी के माध्यम से समाज और सरकार का ध्यान उस विषमता की तरफ आकृष्ट करता है। हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श और थर्ड जेण्डर विमर्श आज चर्चा के केन्द्र में हैं। जाहिर सी बात है, जहाँ समस्या है, वहीं विमर्श की आवश्यकता है। ये समुदाय आज भी समाज में हाशिए का जीवन जीने को अभिशप्त हैं, अत: साहित्य में उन पर चर्चा-परिचर्चा हो रही है, गोष्ठियों का आयोजन किया जा रहा है, प्रचुर मात्रा में साहित्य-लेखन हो रहा है। इन सबमें सबसे दयनीय स्थिति थर्ड जेण्डर की है, जिन्हें उभयलिंगी, हिज़डा या तृतीयाप्रकृति कहा जाता है। स्त्री, दलित और आदिवासी भले ही शोषित, वंचित और तिरस्कृत हैं, लेकिन वे समाज के अंग हैं, उन्हें समाज की स्वीकार्यता प्राप्त है, जबकि उभयलिंगी समुदाय, समाज के लिए 'यमदीप' हैं (दीपावली से ठीक पहले नरक चतुर्दशी को रात में घूर (कचरा फेंकने का स्थान) पर जलाया हुआ वह दीया, जिसकी तरफ मुड़ कर कोई नहीं देखता)। शारीरिक विकलांगता का शिकार थर्ड जेण्डर समुदाय जब जन्मते ही माता-पिता, परिवार और समाज द्वारा त्याग दिया जाता है, तो सरकार द्वारा संवैधानिक संरक्षण न मिलना, कोई बड़ी बात नहीं। जन्म के साथ ही उनके साथ 'कलंक' शब्द (उपाधि) जुड़ जाता है, जो जीवनपर्यन्त रहता है। समाज में शारीरिक विकलांग बच्चे की अस्वीकार्यता और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने के डर से माता-पिता अपने तृतीयाप्रकृति बच्चे को जन्मते ही या तो कुछ समय के पश्चात् त्याग देते हैं या उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते हैं कि वे स्वयं ही घर छोड़ कर भाग जाते हैं। अविकसित जननांग के कारण संतानोत्पत्ति में असक्षम बच्चे को परिवार और समाज द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से वंचित कर दिया जाता है। उससे जीवन जीने का अधिकार छीन लिया जाता है। अपने माता-पिता और परिवार से मिलने वाली सम्वेदनात्मक सुरक्षा से वंचित कर एक ऐसी दर्दनाक स्थिति में छोड़

* सहायक आचार्य– हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी, बिहार

दिया जाता है, जहाँ उसके पास कुसंगति में पड़ने, आत्महत्या करने, नाच-गाना, तमाशा कर भीख माँगने के अलावा कोई विकल्प नहीं रह जाता। परिवार द्वारा परित्यक्त, समाज द्वारा अस्वीकृत, संविधान द्वारा हाशिए पर ढकेल दिए गए इसी उभयलिंगी समुदाय के संघर्ष को, उनकी व्यथा-कथा को महेन्द्र भीष्म ने अपने जीवनीपरक उपन्यास 'मैं पायल..' के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। यह उपन्यास किन्नर गुरु पायल सिंह के जीवन-संघर्षों पर आधारित है।

महेन्द्र भीष्म द्वारा उभयलिंगी समुदाय को केन्द्र में रखकर लिखा जाने वाला यह दूसरा उपन्यास है। उनका पहला उपन्यास 'किन्नर कथा' भी इसी विषय पर केन्द्रित रहा है, जिसमें राजघराने में जन्म लेने वाली जुड़वा बहनों में से एक सोना उर्फ चन्दा के किन्नर हो जाने पर, उसके पिता, उसे एक दीवान को जान से मारने के लिए सौंप देते हैं, लेकिन दीवान उस बच्ची को न मार कर उसे किन्नर गुरु तारा को सौंप देता है। पन्द्रह वर्ष में सोना, चन्दा बन जाती है और लौटकर अपनी ही जुड़वाँ बहन की शादी में अपनी मण्डली के साथ बधाई देने पहुँचती है। भावनाओं के सागर में पाठकों को डुबकी लगवाता यह उपन्यास अपने नाटकीय कथा-प्रवाह से पाठकों को भावुक कर देता है।

थर्ड जेण्डर विमर्श पर हिन्दी साहित्य में बहुत सारे उपन्यास लिखे गए हैं, जिनमें नीरजा माधव का 'यमदीप', पत्रकार निर्मला भुराडिया का 'गुलाम मण्डी', महेन्द्र भीष्म का 'किन्नर कथा', मैं पायल..., प्रदीप सौरभ कृत 'तीसरी ताली', चित्रा मुद्गल कृत 'पोस्ट बॉक्स नं. २०३ नाला सोपारा', अनुसूया त्यागी कृत 'मैं भी औरत हूँ' आदि प्रमुख हैं। ये सभी उपन्यास अपने-अपने तरीके से भारतवर्ष के विभिन्न हिस्सों में संघर्षरत तृतीयाप्रकृति वर्ग की समस्याओं को अभिव्यक्त करते हैं। इन सभी उपन्यासों में लगभग एक समान समस्या दिखाई देती है। किन्नर बच्चे के पैदा हो जाने पर माँ-बाप का लोक-लाज और समाज के भय से उन्हें त्याग देना और फिर उनके हिस्से का संघर्ष। माँ-बाप, भाई-बहन, परिवार से बिछड़े, उनकी याद में तड़पते ये मासूम मरने के लिए छोड़ दिए जाते हैं। इन आधे-अधूरे लोगों की जनसंख्या, २०११ की भारतवर्ष की जनगणना के अनुसार, साढ़े चार लाख बतायी गयी थी। सरकारी आँकड़े से तो इनकी संख्या निश्चित रूप से ज्यादा ही होगी। इतनी भारी तादाद में होने के बावजूद, सन् २०१४ से पहले सिर्फ स्त्री और पुरुष– दो ही लिंग को शिक्षा, रोजगार, मतदान, चुनाव लड़ने, सम्पत्ति, जीवन जीने का संवैधानिक अधिकार प्राप्त था। २०१४ में माननीय सुप्रीम कोर्ट ने ट्रान्सजेण्डर व्यक्तियों को तीसरे लिंग के रूप में मान्यता दी और सरकार को कहा कि ट्रान्सजेण्डर भी इस देश के नागरिक हैं, अत: उन्हें भी शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, मतदान, चुनाव लड़ने का अधिकार मिलना चाहिए।

२०१४ का सर्वोच्च न्यायालय का फैसला, राष्ट्रीय कानूनी सेवा प्राधिकरण बनाम भारत संघ, ट्रान्सजेण्डर लोगों को शैक्षणिक संस्थानों में प्रवेश और नौकरियों में आरक्षण प्रदान करता है। 'ट्रान्सजेण्डर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम–२०१९' एक केन्द्रीय कानून है, जो एक ट्रान्सजेण्डर व्यक्ति को उस व्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है, जिसका लिंग जन्म के समय निर्धारित लिंग से मेल नहीं खाता है। इसके दायरे में ट्रान्समेन और ट्रान्सवुमेन, इण्टरसेक्स भिन्नता वाले व्यक्ति, जेण्डरक्वीर लोग और किन्नर, अरावनी और हिजड़ा जैसी विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक पहचान वाले व्यक्ति शामिल हैं। २०१४ के ऐतिहासिक सुप्रीम कोर्ट के फैसले ने पहली बार ट्रान्सजेण्डर लोगों के अधिकारों को कानूनी रूप से मान्यता दी, जिसमें

ट्रान्सजेण्डर व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा के लिए नौ घोषणाएँ की गयी। इनमें अस्पतालों में चिकित्सा देखभाल और अलग सार्वजनिक शौचालयों के अलावा अन्य अधिकार और सुविधाएँ शामिल थीं। इसके बाद, संसद ने २०१९ में ट्रान्सजेण्डर व्यक्ति (अधिकारों का संरक्षण) अधिनियम पारित किया। यह ट्रान्सजेण्डर लोगों के खिलाफ भेद-भाव को रोकता है और शैक्षणिक संस्थानों और नौकरियों में उनके लिए कल्याणकारी नीतियों और आरक्षण के निर्माण का प्रावधान करता है। इस अधिनियम में ट्रान्सजेण्डर व्यक्तियों के खिलाफ अपराध करने पर दो साल तक की कैद और जुर्माने की सजा का प्रावधान है।[२]

उभयलिंगी वर्ग के लिए सरकार की ये कागजी नीतियाँ सराहनीय हैं, लेकिन वास्तविक समस्या इन नीतियों के व्यावहारिक अनुप्रयोग में है। समाज के लोग आज भी इस तृतीयलिंगी समुदाय को हिकारत, घृणा और सन्देह की नजर से देखते हैं, जैसे ये किसी दूसरे ग्रह के प्राणी हों। इनके प्रति हम तरह-तरह के भ्रमपूर्ण किस्से-कहानियाँ सुनते रहते हैं, जैसे ये लोग पैसे नहीं देने पर बद्दुआ देने लगते हैं, गुस्से में अपनी साड़ी उठा अपने जननांग दिखाने लगते हैं, बच्चों को चुराकर उन्हें हिजड़ा बना अपनी टोली में शामिल कर लेते हैं, ये असली हिजड़े नहीं होते, नकली होते हैं, इनके पास नहीं जाना चाहिए आदि। निश्चित रूप से; ये सारी मनगढ़ंत बातें, कहानियाँ इसीलिए गढ़ी गयीं, ताकि इन्हें समाज से, सम्पत्ति के अधिकार से, शिक्षा के अधिकार से, रोजगार के अधिकार से, नागरिक होने के अधिकार से वंचित किया जा सके। ये प्रजनन नहीं कर सकते, अत: समाज इन्हें अनुप्रयोगी समझ, भ्रमपूर्ण प्रचार से हाशिए पर ढकेल देता है।

'मैं पायल...' उपन्यास को पढ़ने के क्रम में किन्नर गुरु पायल सिंह के विषय में जानने की इच्छा हुई। यूट्यूब पर उपलब्ध उनके एक साक्षात्कार से मुझे यह ज्ञात हुआ कि उनके विषय में उपन्यास में दी गयी एक जानकारी, उस साक्षात्कार में कही गयी बातों से मेल नहीं खाती। जैसे महेन्द्र भीष्म उनके पिता के व्यवसाय के विषय में बताते हैं कि वे कम पढ़े-लिखे थे, फिर भी; उत्तर प्रदेश राज्य परिवहन निगम में ड्राइवर हो गए और रोडवेज की बस चलाने लगे, कालान्तर में उन्नाव के किसी सेठ का ट्रक चलाने लगे। लेकिन पायल सिंह अपने साक्षात्कार में बताती हैं कि उनके पिता आर्मी में थे। महेन्द्र भीष्म द्वारा उनके पिता के व्यवसाय सम्बन्धी गलत जानकारी, निश्चित रूप से; किसी दबाव में या भारतीय सेना के जाबांज सिपाही की सामाजिक प्रतिष्ठा को बचाए रखने के लिए दी गयी होगी, ऐसा मेरा अनुमान है।

उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के छोटे से गाँव 'बहुराजमऊ' में, श्री रामबहादुर सिंह की पाँचवीं सन्तान एक हिजड़ा बच्चे के रूप में संसार में जन्म लेकर जुगनी या जुगनू ने अपनी माता और अपना जीवन तमाम दु:ख, कष्ट और सन्ताप से भर दिया था। हिजड़ा बच्चे को जन्म देने का सारा दोष माँ पर डाल दिया गया। हिजड़ा के रूप में जन्म लेकर जुगनी ने अनजाने ही ऐसा अपराध कर दिया था, जिसकी माफ़ी उसे कभी नहीं मिली। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में पुत्र को पिता का उत्तराधिकारी, उसे मोक्ष दिलाने वाला माना गया है और लड़कियों को 'पराया धन'। उनके जन्मते के साथ ही 'दहेज' शब्द जुड़ जाता है। अत: पुत्र पैदा होने पर त्योहार मनाया जाता है, पुत्री के पैदा होने पर मातम और ऊपर से तृतीयलिंगी संतान तो माता-पिता के लिए शर्मिंदगी के सिवा कुछ नहीं होती। ''जब कभी पिताजी दारू के नशे में कोसते, गाली देते, 'ये जुगनी! हम क्षत्रिय वंश में कलंक पैदा हुई है, साली हिजड़ा है... आदि जाने क्या-क्या वे बकते रहते थे। 'हिजड़ा'– यह शब्द सबसे पहले मैंने उन्हीं के मुख से सुना था, पर तब मैं इस शब्द के

मायने से बिलकुल अनभिज्ञ थी...बस इतना ही समझती थी कि 'हिजड़ा' भी गाली के रूप में प्रयोग लाया जाने वाला कोई शब्द होगा।''[३]

महेन्द्र भीष्म ने इस उपन्यास में ग्रामीण राजनीति का भी चित्रण किया है। सामाजिक सौहार्द्र के लिए जाने-जाने वाले गाँवों में गंदी राजनीति फैल चुकी है, एक दूसरे के प्रति नफरत, ऊँच-नीच की भावना, सिगरेट और शराब के नशे में भटकती युवा पीढ़ी समकालीन ग्रामीण-जीवन का यथार्थ है। महेन्द्र भीष्म युवा पीढ़ी को भटकाने में सरकार के दायित्व पर भी प्रश्न उठाते हैं और उचित ही कहते हैं– ''सरकार गाँव-गाँव में शराब की दुकानें बढ़ा रही है। क्या लोगों को शराबी बनाकर वह देश के विरोध में, समाज के विरोध में कार्य नहीं कर रही है? पूरी तरह से देश में मद्य निषेध लागू हो जाना चाहिए। जरा सी आय के लिए देश के नौजवानों को नशे की लत से बचाना चाहिए।''[४]

उभयलिंगी बच्चे के रूप में, क्षत्रिय कुल में जन्म लेने वाली जुगनी, लड़की जैसी लगती थी और अपने जीवन के आरम्भिक कुछ वर्षों में वह सामान्य बच्चों की तरह जुगनी बनकर स्कूल जाती थी। लेकिन उसके पिता उसे लड़के की आदतें सीखने को कहते, लड़का बनाकर रखने को कहते, क्योंकि– ''लड़की के रूप में बड़ी होने पर समाज के लोग उसकी शादी-रिश्ते की बातें करेंगे और लड़के के रूप में कोई कुछ नहीं कहेगा।''[५] जुगनी हिजड़ा बच्चा है, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में ग्रहण है– यह बात उनके दिमाग से कभी नहीं उतरती। वह जुगनी को जब भी देखते, उनका क्षत्रित्व जाग उठता और वह जुगनी को तब तक मारते, जब तक वह थक नहीं जाते। ''उनका प्रतिरोध करने की किसी में हिम्मत नहीं थी। मुँह से विरोध की आवाज भी नहीं निकलती थी। बस उनकी मार को सहो और चुप रहो, जब तक कि वे स्वयं मार-मारकर थक या बेदम न हो जाएँ। बचपन में मुझे पिताजी से कष्ट, दु:ख, अपमान और मार के सिवाय कुछ नहीं मिला।''[६]

जुगनी के पिता अपने नालायल लड़के के प्रति कटु नहीं थे। उसके आवारापन से भी उन्हें कोई ऐतराज नहीं था। उनका ऐतराज था, सिर्फ क्षत्रिय कुल में सिंह की जगह हिजड़े के पैदा होने से। इस मानसिकता का इलाज जुगनी के पास नहीं था। पिता को मानसिक यन्त्रणा से मुक्ति दिलाने तथा अपनी अम्मा और बहनों की हिफाजत के लिए जुगनी ने घर छोड़ दिया। आत्महत्या के लिए ट्रेन के आगे कूदने ही वाली थी कि पैर में बबूल का काँटा चुभ गया और उसका ध्यान भटक गया। फिर वह मरने की हिम्मत नहीं जुटा पायी। अब जुगनी का सामना समाज के नर हैवानों से था। ट्रेन में उसके अकेलेपन का फायदा उठा, उसकी पिता की उम्र का एक व्यक्ति उसके शारीरिक शोषण का प्रयास करता है, एक पुलिसवाला प्रलोभन देकर और अपने रुतबे का फायदा उठाकर उसके साथ बलात्कार का प्रयास करता है, लेकिन जुगनी इन नर पिशाचों के चंगुल से बच निकलती है। जुगनी को इस बात का एहसास हो गया कि लड़की बनकर वह इन हैवानों से नहीं बच सकती, अत: उसने प्लेटफॉर्म के आउटर सिग्नल पर नहाते एक लड़के का कपड़ा चुराकर पहन लिया। ''घर-परिवार से दूर होते ही बाहर के समाज में लड़की का रूप लिए रहना असुरक्षित है.. हे भगवान्! यह मैं ही जानती हूँ और जानती होंगीं वे सब स्त्रियाँ, जो मेरी जैसी स्थिति से अक्सर दो-चार होती होंगीं.. देह के नरभक्षी भेड़ियों की चुभती नजरों को बड़ी शिद्दत से महसूस किया होगा, जो मादा गंध के उठते ही खूंखार हो उठते हैं और मौका मिलते ही दबोच लेने के लिए उतावले बने रहते हैं।''[७]

अपने पिता और समाज के समृद्ध लोगों से ज्यादा आत्मीयता जुगनी को भिखारियों से मिली, जिनके होते वह कभी भूखी नहीं सोयी। वे आपस में मिल-बाँट कर खाते थे और एक दूसरे के दु:ख-दर्द से प्रभावित होते थे। स्टेशन पर ही जुगनू की दोस्ती अनवर से हुई, जिसके अब्बा नहीं थे और वह बांग्लादेश से आया हुआ शरणार्थी था, जो शरणार्थी बस्ती में रहता था। उसकी माँ देह-व्यापार कर अपने परिवार का पेट पालती थी। आज भी शरणार्थी चोरी, लूट-पाट, नशा, देह-व्यापार जैसे कृत्यों में संलिप्त हैं और भीख माँग कर या दातून बेंच कर अपना पेट पालते हैं। अनवर ट्रेन से ब्रीफकेस चुरा कर भागते समय दुर्घटना का शिकार हो जाता है। उसकी मृत्यु जुगनी को झकझोर कर रख देती है। अब वह पेट पालने के लिए अप्सरा टॉकीज में स्थित संतोष सिंह की कैण्टीन में सौ रूपए महीने पर काम करने लगती है। कानपुर के अप्सरा टॉकीज में चाय-नाश्ता पहुँचाने के क्रम में उसने सिनेमाहाल में प्रोजेक्टर चलाना सीख लिया और सिनेमा से परिचित हुई। अभिनय करना जुगनी को पसन्द था, उसने नृत्य भी सीख लिया। लेकिन सिनेमा के चौकीदार प्रमोद की अश्लील हरकत से जुगनी को कैण्टीन के मालिक संतोष सिंह को अपनी असलियत बतानी पड़ी। जुगनी के जीवन में वे प्रथम पुरुष थे, जिन्हें उसके हिजड़ा होने से कोई ऐतराज नहीं था। वे उसे अपने घर ले गए, अपने परिवार से भी मिलाया।

जुगनी अपनी अम्मा को कानपुर बुलाती और उन्हें अपने पारिश्रमिक में से कुछ पैसे भी स्वाभिमान से देती। लखनऊ घूमने का शौक जुगनी को किन्नर गुरु मोना के चंगुल में फँसा देता है, जो उसे नाचने-गाने के लिए बाध्य करने लगी। ''एक व्यक्ति इस जीवन में अपने अनुसार स्वतन्त्र जी नहीं सकता क्या? मुझे मालूम है कि मैं एक किन्नर हूँ, तो क्या किन्नर होना अपराध है, जो उसे उसके स्वभाव के विपरीत कार्य करने के लिए विवश किया जा रहा है?''[८] मजबूरी में जुगनी इसे अपनी नियति मान स्वीकार कर लेती है, लेकिन– ''बधाई गाने-बजाने के समय अक्सर मिलने वाली दुत्कार, परिहास मुझे व्यथित कर देती थी। किन्नरों द्वारा दी जाने वाली बधाई भी तो एक विधा है, फिर लोग इसे हास-परिहास व अश्लीलता के चश्में से क्यों देखते-परखते हैं? इसे लोक-संस्कृति के अन्तर्गत अन्य गायन विधाओं की तरह मान्यता क्यों नहीं मिलती?''[९] किन्नरों की संस्कृति के प्रति समाज की उपेक्षा द्रष्टव्य है। जुगनी को वहाँ रहने के साथ पता चलता है कि गुरुमाई मोना का डेरा नशा और व्यभिचार का अड्डा था। एक मनचले पप्पू की अश्लील हरकत का प्रतिकार करने पर वह जुगनी को सरेआम नंगा कर देता है। उसकी उस हरकत का प्रतिकार समाज का कोई भी व्यक्ति नहीं करता। सब तमाशबीन बने रहते हैं, यहाँ तक कि उसके साथी किन्नर भी। जुगनी सोचती है– ''हिजड़ा हम लोगों को कहा जाता है, जबकि पुरुष समाज के ये तमाशाई ताली बजाने वाले नामर्द ही 'हिजड़ा' कहलाने के असली हकदार हैं।''[१०] जुगनी समझ जाती है कि उसके प्रति साथी किन्नरों और गुरुमाई को कोई स्नेह नहीं, सिर्फ उससे स्वार्थ है। वह पप्पू से बदला लेने को अपने जीवन का उद्देश्य बना लेती है। वह प्रतिज्ञा करती है– ''किन्नर गुरु बनूँगी और इसी गुरुमाई से पानी मँगाकर पियूँगी। साथ ही; किन्नर समाज में फैली बुराईयों को दूर करूँगी।''[११] वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी करती है, पप्पू से बदला भी लेती है और हजरतगंज इलाके की गुरुमाई भी बनती है। किन्नर गुरु पायल का यह संघर्ष उनके जैसे अनेक किन्नरों का जीवन-संघर्ष है। ऐसे विकट रण-क्षेत्र में अपने अद्‌भुत पराक्रम से अविजित रहना, निश्चित रूप से; प्रसंशनीय है।

जुगनी को जीवन के तृतीय प्रहर में किन्नर जीवन भाने लगा। खाना-पीना, पहनना सब

अपनी मर्जी से चलने लगा। इज्जत भी मिलने लगी। अपने जीवन-संघर्ष के प्रथम पक्ष में उसे 'हिजड़ा' कहा जाना कानों में शीशा की तरह चुभता था, लेकिन कालान्तर में इस शब्द की आदत हो जाती है जुगनी को। आज भी समाज में किन्नरों की सामाजिक स्थिति में कोई खास परिवर्तन लक्षित नहीं होता। २०१४ में सुप्रीम कोर्ट के निर्णय से किन्नरों की इस स्थिति में सुधार की आशा बँधी है। शिक्षा और रोजगार के अधिकार से उनके नैतिक चरित्र के सुधार की भी सम्भावना बलवती होती दिखाई देती है। किन्नरों को अपने परिवार, समाज से बिछड़ने का दर्द नहीं सहना पड़ेगा। ''शिक्षा की कमी, अन्य व्यवसाय में जुड़ने के सीमित अवसर, आर्थिक तंगी व परिवार का भावनात्मक लगाव न होना ही अधिकांश किन्नरों को यौनकर्म की ओर ले जाता है।'[१२] लेकिन किन्नरों को भी उनके समाज की दकियानूसी मान्यताओं का प्रतिकार करना होगा। नाच-गाना, भीख माँगने के स्थान पर मेहनत, मजदूरी, शिक्षा और आत्मविश्वास का मार्ग चुनना होगा। उन्हें नकली किन्नरों की पहचान करानी होगी, जो सार्वजनिक स्थानों पर, ट्रेनों में, बसों में भीख माँगते हैं, पैसा न मिलने पर गालियाँ देते और अश्लील हरकतें करने लगते हैं, तभी असली किन्नरों को सामाजिक स्वीकार्यता प्राप्त होगी।

परिवार और समाज से तिरस्कृत, शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, मनुष्य कहलाने के भी अधिकार से वंचित किन्नरों को ''अपने साथ समाज की मुख्यधारा से जोड़ना होगा, उनका पूरा मान-सम्मान करना होगा। उनके अनुसार, उनके अनुरूप रोजगार प्रदान करने होंगे। वे भी हमारी तरह अपनी माँ की कोख से जन्मे अपने पिता की सन्तान हैं। वे ज्यादा नहीं माँग रहे हैं– 'हमें किन्नर नहीं, इंसान समझा जाए–' बस इतनी सी माँग है उनका वे समाज की मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं। वे समाज में स्वयं की हिस्सेदारी चाहते हैं। देश के विकास में अपना योगदान सुनिश्चित करना चाहते हैं। जरूरत है, उनकी बुनियादी आवश्यकताओं को समझने की। आवश्यकता है जागरूकता की, शिक्षा की और नैतिक समर्थन देने की। उन्हें त्यागने की नहीं, अपनाने की जरूरत है। हम उनका दर्द बाँटें। उन्हें किन्नर नहीं, इंसान समझें।''[१३]

सन्दर्भ-सूची

१. महेन्द्र भीष्म– मैं पायल..., अमन प्रकाशन, कानपुर, चतुर्थ संस्करण, २०२०, पृष्ठ संख्या ९९
२. https://theprint.in/theprint-essential/as-calcutta-hc-orders-1-quota-for-transgender-people-how-sc-ruling-2019-
३. महेन्द्र भीष्म– मैं पायल..., अमन प्रकाशन, कानपुर, चतुर्थ संस्करण, २०२०, पृष्ठ संख्या १९
४. वही– पृष्ठ संख्या १७
५. वही– पृष्ठ संख्या २४
६. वही– पृष्ठ संख्या २२
७. वही– पृष्ठ संख्या ४६
८. वही– पृष्ठ संख्या ८०
९. वही– पृष्ठ संख्या ८२
१०. वही– पृष्ठ संख्या ८७
११. वही– पृष्ठ संख्या ८८
१२. वही– पृष्ठ संख्या १०२
१३. वही– पृष्ठ संख्या १००-१०१

●

स्त्री-चेतना और अभिव्यक्ति : भक्ति के सन्दर्भ में

पल्लवी राय*

वर्तमान समय में स्त्री-अस्मिता का प्रश्न चिन्तन के केन्द्र में है। युगों से संघर्षरत नारी अपने हिस्से की ज़मीन और अपने हिस्से के आसमान को तलाश रही है और आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का शंखनाद कर रही है। परन्तु अभी भी उसके हिस्से की जमीन और आकाश का बहुत सारा हिस्सा बाकी बचा हुआ है, जो उसे हासिल नहीं हुआ। वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक स्त्रियाँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए संघर्षरत हैं। वैदिक साहित्य में स्त्रियों की स्थिति पर विचार करें, तो उस काल में अनेक विदुषी स्त्रियाँ थीं, जिन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के दस्तावेजों को वेदों में सुरक्षित किया है। उन स्त्रियों में अपाला, पौलमी, लोपामुद्रा, रोमशा, सूर्या आदि विदुषियों का नाम शामिल है। ऋग्वेद के १२६वें सूक्त में प्रथम बार रोमशा अपने लिए समान अधिकार की माँग करती है। सुमन राजे ने लिखा है कि– ''यह स्त्री-विमर्श का प्रथम स्वर है, जिसमें पहली बार एक स्त्री ने अपने लिए समान अधिकार के लिए आवाज उठाई है।''[१]

इसी प्रकार, ऋग्वेद के दसवें मण्डल में विदुषी स्त्रियों का स्वर अधिक मुखर होता दिखाई देता है, जिसमें उन्होंने विवाह, परिवार, प्रेम आदि के विषय में अनेक मंत्रों की रचना की है। निश्चित रूप से; देखने में यह प्रगतिशील समाज का उदाहरण लगता है, जिसके आधार पर देवर्षि कलानाथ शास्त्री ने लिखा है कि– ''ऋग्वेद काल में नारियों को समाज में वही प्रतिष्ठा दी जाती थी, जो पुरुषों की थी। नारियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकती थीं। ऋग्वेद की ऋचाओं की रचना करके ऋषि पद प्राप्त करने वाली घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, रोमशा, सूर्या आदि अनेक विदुषियों का उल्लेख मिलता है। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ पढ़ती थीं, पढ़ातीं थीं, गुरुकुल चलाती थीं और शासन करती थीं। स्त्रियों का यह स्थान उपनिषद काल के बाद कट्टरता के कारण बदल गया और मध्यकाल तक आते-आते यह कहा जाने लगा कि स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है। ऋग्वेद में जहाँ पर्दा-प्रथा का नाम तक नहीं है, वहाँ मध्यकाल आते-आते नारी सुरौप्य और सम्पत्ति की तरह छिपाने लायक बना दी गयी।''[२] इस प्रकार की बातों से यह उत्कृष्ठ समाज है, परन्तु वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है। यह कुछ ही स्त्रियाँ हैं, जिनकी वाणी को वेदों में स्थान मिला। इनमें से अधिकतर ऋषि की पत्नियों के रूप में ही जानी जाती हैं। कुछ ऋषिकाओं की रचनाओं के माध्यम से सम्पूर्ण समाज का अंकन नहीं किया जा सकता है।

उत्तर वैदिक काल में थेरी गाथाओं के माध्यम से बौद्ध भिक्षुणियों के जीवन-संघर्षों की गाथा देखने को मिलती है। बौद्ध धर्म में स्त्रियों को भी स्थान मिला। वह 'परिवार' नामक संस्था से बाहर निकलकर निर्वाण-प्राप्ति की तरफ कदम बढ़ाती नजर आती हैं। इस विषय पर रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं कि– ''बुद्धदेव ने चारों वर्णों और स्त्रियों को धर्म का अधिकार समान रूप से दे दिया। यह ब्राह्मण धर्म के खिलाफ सबसे बड़ी बगावत थी।''[३] बुद्ध के समय में पहली बार स्त्री को भी पुरुष के समान अपनी क्षमताओं से परिचित होने का अवसर मिला। जिस ज्ञान और सत्ता पर पुरुष का एकछत्र राज था, बुद्ध के समय में इस वर्जित क्षेत्र में स्त्रियों का प्रवेश एक ऐतिहासिक घटना थी। इन ५२२ गाथाओं में कुल ७३ थेरियों की जीवन का यथार्थ चित्रण

* शोध छात्रा– हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.

मिलता है, जिसमें उन्होंने बौद्ध भिक्षुणी बनने से पूर्व के जीवन का वर्णन किया है। इस सन्दर्भ में, भरत सिंह उपाध्याय लिखते हैं कि– ''अत्यन्त संगीतात्मक भाषा में, आत्माभिव्यंजनात्मक गीति-काव्य की शैली के आधार पर, अपने जीवनानुभवों को व्यक्त करते हुए यहाँ बौद्ध भिक्षुणियों ने अपने जीवन-काव्य को गाया है। नैतिक सच्चाई, भावनाओं की गहनता और सबसे बढ़कर एक अपराजित वैयक्तिक ध्वनि– इन गीतों की मुख्य विशेषताएँ हैं।''[४]

इन बौद्ध भिक्षुणी में अर्धकाशी नामक एक वेश्या भी शामिल थी, जो थेरी बनने से पूर्व काशी की एक प्रसिद्ध वेश्या हुआ करती थी। भिक्षुणी सुमंगला संघ में आकर पहली बार महसूस करती हैं कि वह भी एक इन्सान है। स्वतन्त्र और आत्मसम्मान के साथ जीवन जीने का अधिकार है। उसके भी सुख हैं और वह सुख देह से परे मानसिक बौद्धिक सुख है, निर्वाण-प्राप्ति की ओर अग्रसित होने का सुख है। इस प्रकार, यह थेरी गाथा स्त्रियों की अभिव्यक्ति का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में सामने आता है।

मध्यकाल से पूर्व स्त्री-अभिव्यक्ति के कुछ बिखरे हुए सूत्र मिलते हैं। मध्यकाल, विशेष रूप से भक्तिकाल में स्त्री भक्त-कवयित्रियों के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता, पीड़ा, संघर्षों आदि की अभिव्यक्ति सशक्त रूप से की जाती है, जिसमें दक्षिण भारत से आण्डाल, अक्क महादेवी, उत्तर से ललद्य, पश्चिम भारत से मीराबाई, महाराष्ट्र से जनाबाई, बहिणा बाई आदि भक्त स्त्रियाँ शामिल हैं। भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। यह एक विराट् सांस्कृतिक जन आन्दोलन था। मध्यकालीन भारतीय जीवन पर इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा। दक्षिण में भक्ति की जो विभिन्न धाराएँ उठीं, उसने उत्तर भारत को भी प्रभावित किया। इन धाराओं में आलवार और नायनार भक्त कवि शामिल हैं। भक्ति आन्दोलन समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव को समाप्त कर भक्ति के धरातल पर सबको एक समान मानने के पक्ष में खड़ा दिखाई देता है। दक्षिण भारत से भक्ति की जो लहर आई, उसमें स्त्री और पुरुषों को एक समान स्तर पर रखने की शुरूआत हुई। भक्त कवियों की सबसे बड़ी शक्ति ईश्वर की सर्वव्यापकता व सर्वसुलभता की प्रतिष्ठा कर सामान्य जनता में आत्मगौरव-बोध जगाना है। इसके लिए उन्होंने जनता को सामंती समाज के धार्मिक-सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति सचेत किया। उनके द्वारा भक्ति का जो स्वरूप गढ़ा गया, उसमें सबके लिए एक समान मार्ग है। यही कारण है कि समाज के दलित-वंचित वर्गों की भक्ति आन्दोलन को अखिल भारतीय स्वरूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इन भक्त कवयित्रियों में एक नाम आण्डाल का भी शामिल है।

दक्षिण भारत की मीरा के नाम से जानी जाने वाली, विष्णुभक्ति में लीन रहने वाली भक्त कवयित्री आण्डाल ने सर्वप्रथम भक्ति में स्त्री-स्वर को शामिल किया। उन्होंने विष्णु के अतिरिक्त किसी अन्य लौकिक पुरुष से विवाह करने से इनकार कर दिया। यह स्त्री-स्वतन्त्रता का प्रथम स्वर था, जो आण्डाल के माध्यम से भक्ति साहित्य में आया। आण्डाल पहली महिला कवयित्री थीं, जिन्होंने इस विद्रोह को आवाज दी है। वह लिखती हैं कि– ''यौवन सुषमा से पूरित मेरा यह शरीर उस चक्रधारी पुरुषोत्तम के लिए ही अर्पित है। उस पुरुषोत्तम पतिदेव को लक्ष्य करके उभरे हुए मेरे उरोजों को यदि दूसरे के उपभोग बनाने की बात चली, तो मैं जीवित नहीं रहूँगी।''[५] वह अपनी रचना 'नच्चियारथिरुमोलि' में विष्णु से विवाह करने की कल्पना करते हुए गीतों की रचना करती हैं। वह विष्णु को एक लौकिक पुरुष के रूप में देखती हैं और मेघों से उनका सन्देश लाने

के लिए कहती हैं। यह स्त्री-विद्रोह और अभिव्यक्ति का प्रथम दृश्य माना जा सकता है। वह कालिदास के समान मेघ को दूत की भाँति मानती हैं। उन्होंने लीक से अलग हटकर पहली बार माधुर्य रस की भावना से विष्णु की उपासना की है। दक्षिण भारत की शैव भक्त कवयित्री अक्क महादेवी का भी नाम महत्त्वपूर्ण है। अक्क महादेवी कर्नाटक की प्रसिद्ध वीर शैव सन्त और अनूठी कवयित्री थीं। उनका जीवन विलक्षण और लेखन बदलाव की आहट लिए हुए था। वे प्रेम-भक्ति और आत्मोत्सर्ग के वचन कह रही थीं। दक्षिण भारत में विस्फोटक रूप से भक्ति आन्दोलन हुआ, जिससे काफी उथल-पुथल मची। लगभग दसवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच भारी संख्या में स्त्रियों ने इस आन्दोलन में भागीदारी की। इस आन्दोलन ने सामाजिक जड़ता की दीवारें ढहा दीं और समाज में व्याप्त जातिगत भेदभाव की सभी सरणियों को तोड़ दिया। अक्क महादेवी ने वीर शैव सैद्धांतिकी की स्थापना करते हुए श्रम के महत्त्व को सर्वोपरि रखा। उन्होंने अपने वस्त्रों को त्याग दिया तथा शिव को पाने की इच्छा से घर से निकल पड़ीं। स्त्री-जीवन की त्रासदी का चित्रण करते हुए वह लिखती हैं कि–

'हे माँ, मैं लौ रहित अग्नि में जली
मैंने रक्त रहित जख्मों की पीड़ा सही
हे माँ, मैं बिना किसी आनन्द के उछाली गई
अपने प्रियतम के प्रति अनुरक्त
मैं अनचाहे संसार में भटकती रही।'[६]

एक अन्य शैव भक्त कवयित्री काइकाल अम्मयार का नाम भी महत्त्वपूर्ण है। वह शिव के हाथों में भयंकर अग्नि और पैरों में बँधे घुँघरुओं की सुन्दर कल्पना करती हैं। उन्होंने धर्म के नाम पर चल रहे अधर्म का विरोध अपनी कविताओं के माध्यम से किया है। उन्होंने तन्त्र-मन्त्र के स्थान पर शुद्ध भक्ति के मार्ग को चुना है। इस सन्दर्भ में शम्भुनाथ जी लिखते हैं कि– ''बौद्ध थेरी गाथा में स्त्री के दु:ख और आक्रोश की जो परम्परा है, उसे काइकल अम्मयार ७वीं सदी में आगे बढ़ाती हैं।''[७]

कश्मीरी शैव दर्शन का प्रतिनिधित्व करने वाली भक्त कवयित्रियों में ललद्यद का नाम शामिल है। कश्मीरी शैव भक्त कवियों में ललद्यद को उसी प्रकार देखा जाता है, जिस प्रकार हिन्दी भक्त कवयित्रियों में मीरा को। ललद्यद एक भक्त कवयित्री होने के साथ-साथ साध्वी और योगिनी भी थीं। उनके ऊपर हिन्दू और इस्लाम– दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ललद्यद ने भी तत्कालीन समय में अपने समाज से विद्रोह करते हुए भक्ति की राह को चुना और शिव को अपने प्रीतम के रूप में स्वीकार किया। ललद्यद ने अपने 'वाख' के माध्यम से बाह्याडम्बर और जातिवाद का विरोध किया है। उन्होंने शिव को बाहर ढूँढ़ने के बजाए अन्तर्मन में खोजने पर विशेष बल दिया है। वह लिखती हैं कि– ''थल-थल में बसता है शिव ही, भेद न कर हिन्दू मुसलमाँ।''[८] उन्होंने शिव को किसी एक विशेष आकार में बाँधने का प्रयास नहीं किया। उनके शिव निरंकार रूप में मौजूद हैं। वह कहती हैं–

'भक्त-संन्यासी मंदिर-मंदिर डोले
उस परमेश्वर को पाने के लिए
उसे जो उसके भीतर है!'[९]

भीतर ही ईश्वर का वास है, उसे बाहर ढूँढ़ने का प्रयास निरर्थक होता है। उन्होंने कभी भी

बाह्याचार, व्रत, तप या यज्ञ जैसे अनुष्ठानों का अनुकरण नहीं किया, अपितु इन सब का विरोध वह अपने 'वाख' के माध्यम से करती हैं–

'देव
यह जप, तप, अनुष्ठान
नहीं काम के मेरे
व्रत-उपवास नहीं
सहज विधि कोई।'[१०]

प्रमुख कवि अग्निशेखर के अनुसार– ''संत कवयित्री ललद्यद कश्मीरी साहित्य की आदि कवयित्री ही नहीं, भारतीय भाषाई नवजागरण की प्रणेता, विद्रोही स्त्री-स्वर के अलावा भक्तिकाल की एक कालजयी अधिष्ठात्री भी थीं।''[११] भक्तिकाव्य की यही विशेषता रही है कि उसने किसी भी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं किया। समूचे भारत को एक सूत्र में बाँधने का कार्य भक्तिकाव्य के द्वारा ही सम्भव हो पाया है, जिसमें भक्त कवयित्रियों का स्वर भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसी प्रकार, महाराष्ट्र की भक्त कवयित्री जनाबाई ने भी अपने समय और समाज से विद्रोह करते हुए नारी-मुक्ति की बात की है। वह लिखती हैं–

'सारी शर्म हया फेंककर
बाजार में अपने आप को बेचकर ही
अकेले हम प्रियतम से मिल सकते हैं।'[१२]

अपने प्रियतम से मिलने के लिए किसी भी पर्दे की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए– यही स्त्री-मुक्ति का प्रतीक है।

भक्तिकाल की स्त्री-भक्त कवयित्रियों में मीरा का नाम सर्वाधिक लोकप्रिय है। मीरा ने भक्ति के माध्यम से स्त्री-स्वतन्त्रता के सारे द्वार खोल दिए हैं। उनकी कविता में राजसत्ता और भक्ति की सीधी टकराहट मिलती है। उन्होंने भी श्रीकृष्ण को अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है और माधुर्य रस की भक्ति को हिन्दी साहित्य में लोकप्रिय बनाया है। कृष्ण भक्ति के माध्यम से विद्रोह का बिगुल बजाने वाली मीरा ने रूढ़िवादी मर्यादाओं की कभी परवाह नहीं की है। वह लिखती हैं–

'सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो कांई कर लेसी।
म्हे तो गुण गोबिंद का गास्यां हो माई।।[१३]

मीरा की भक्ति में किसी भी शास्त्रीय परम्परा की जगह नहीं है। उनकी भक्ति लोक संस्कृति से निर्मित है। उन्हें लोकनिन्दा का कोई भय नहीं रहता है। वह कृष्ण की भक्ति के अतिरिक्त; अन्य किसी को स्वीकार नहीं करती हैं–

'राणाजी म्हाने या बदनामी लगे मीठी।।
कोई निन्दो कोई बिन्दो, मैं तो चलूँगी चाल अपूठी।'[१४]

मीरा का दर्द भी अन्य स्त्रियों की भाँति ही है। उनके लिए भी भक्ति का मार्ग सहज और सुलभ नहीं था, परन्तु उन्होंने भक्ति को स्त्री-मुक्ति के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। मैनेजर पाण्डे लिखते हैं कि– ''मीरा की कविता में सामन्ती समाज और उसकी संस्कृति की जकड़न से बेचैन स्त्री-स्वर की मुखर अभिव्यक्ति है। उनकी स्वतन्त्रता की आकांक्षा जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही सामाजिक भी।''[१५]

इस प्रकार, भक्ति काल की स्त्री भक्त-कवयित्रियों ने अपने काव्य के माध्यम से न सिर्फ

अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है, अपितु सम्पूर्ण समाज को स्त्री-मुक्ति का मार्ग दिखाया है। एक स्त्री का जीवन मात्र परिवार तक ही सीमित नहीं होता है। उसके अपने सपने, अपनी आकांक्षाएँ भी होती हैं। स्त्री-अस्मिता के प्रश्नों को भक्ति काल की कवयित्रियों ने ही सर्वप्रथम समाज के समक्ष रखा है, जिसका सिलसिला वर्तमान में भी जारी है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. सुमन राजे– हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, छठाँ संस्करण २०१७, पृष्ठ सं. ६८
२. देवर्षि कलानाथ शास्त्री– संस्कृत साहित्य का इतिहास, साहित्यागार, जयपुर, २००९, पृष्ठ सं. २४
३. रामधारी सिंह दिनकर– संस्कृति के चार अध्याय, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, २०१८, पृष्ठ सं. १४६
४. भरत सिंह उपाध्याय– थेरी-गाथाएँ, सस्ता साहित्य मंडल, १९५०, पृष्ठ सं. १०
५. डॉ. मलिक मोहम्मद– आलवार भक्तों का तमिल-प्रबन्धम और हिन्दी कृष्ण-काव्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, १९६४, पृष्ठ सं. २५८
६. गोपेश्वर सिंह– भक्ति आन्दोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण २०१७, पृष्ठ सं. ६५
७. शम्भुनाथ– भक्ति आन्दोलन और उत्तर धार्मिक संकट, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण २०२३, पृष्ठ सं. १८३
८. शम्भुनाथ– भक्ति आन्दोलन और उत्तर धार्मिक संकट, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण २०२३, पृष्ठ सं. ८८
९. जयलाल कौल– ललद्यद, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, २०१९, पृष्ठ सं. २४
१०. अग्निशेखर– मैं ललद्यद, प्रलेक प्रकाशन, महाराष्ट्र, २०२२, पृष्ठ सं. ८८
११. जयलाल कौल– ललद्यद, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, २०१९, पृष्ठ सं. ७
१२. गोपेश्वर सिंह– भक्ति आन्दोलन और काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१७, पृष्ठ सं. ६६
१३. विश्वनाथ त्रिपाठी– मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१९, पृष्ठ सं. ११२
१४. विश्वनाथ त्रिपाठी– मीरा का काव्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१९, पृष्ठ सं. ११२
१५. पल्लव-मीरा : एक पुनर्मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण, २०१५, पृष्ठ सं. १२०

●

धर्म का सार्वभौम स्वरूप एवं सांस्कृतिक चेतना

डॉ. तरुण कुमार द्विवेदी*

समकालीन भारतीय चिन्तन में 'धर्म' के प्रत्यय के साथ धर्म की सार्वभौमिकता का विशिष्ट अर्थ जुड़ता है, जिस पर प्राचीन चिन्तन में इतना बल नहीं दिया गया। यहाँ ये बात नहीं है कि धर्म में किसी विशिष्ट नये तत्त्वों को समकालीन चिन्तकों ने स्थिर (या सुस्थिर) करने का प्रयास किया है, बल्कि धर्म में निहित उन सार-तत्त्वों को देखने और उस सार-तत्त्व को ही सभी धर्मों का मूलभूत तत्त्व बताने का प्रयास किया है।

ऐसा होना वस्तुत: तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के कारण उस रूप में देखा जाना अनुचित नहीं होगा, क्योंकि 'सार्वभौम धर्म' के सभी समर्थक विचारक विवेकानन्द, राधाकृष्णन्, गाँधी, टैगोर, भगवानदास आदि जातिभेद, धर्मभेद एवं रंगभेद के सामाजिक प्रचलन के समय रहे हैं। इन्हीं भेदभाव को हटाने, वैमनस्य समाप्त करने तथा आपसी सौहार्द्र तथा सद्भाव के लिए ये सभी धर्मों के प्रचलित बाह्य स्वरूप पर अधिक ध्यान न देकर, धर्मों में अन्तर्निहित स्तर पर ही जोर देते रहे हैं। धर्मों में निहित यह सार्वभौम सत्य ही 'सार्वभौम धर्म' है ।

विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में धर्म का विवेचन करते हुए कहा था कि प्रत्येक धर्म के तीन भाग होते हैं– उसका दार्शनिक भाग, पौराणिक भाग तथा आनुष्ठानिक भाग। प्रत्येक धर्म का अपना अलग दर्शन, तत्त्व-विवेचन हो सकता है। धर्मों के पौराणिक आधार तथा क्रिया-कलाप भी स्थिति-परिस्थिति के अनुसार अलग-अलग हो सकते हैं, परन्तु जिस तत्व पर वे जोर देते हैं, वह 'असीम सत्ता' या ईश्वर है। इस दृष्टि से सभी धर्म-मत समान आधार के बतलाए जा सकते हैं। राधाकृष्णन् कहते हैं कि– ''सभी धर्म एक आध्यात्मिक प्रकाश की प्राप्ति में सहायक हैं। हमें अनेक रास्ते दिखायी पड़ते हैं। हो सकता है कि वे कुछ मील आगे जाकर कांक्रीट की एक सड़क बना लें, जो सिद्धि तक जाती है।'' इस प्रकार, सभी धर्मों में ईश्वर को सर्वप्रमुख माना गया है तथापि मार्ग की भिन्नता के सम्बन्ध में विवेकानन्द उन्हें वृत्त की त्रिज्यायों के रूप में देखते हैं, जो कि सभी वृत्त के केन्द्र की ओर जाती हैं। उनके अनुसार– ''ईश्वर सभी धर्मों का केन्द्र स्वरूप है और हममें से प्रत्येक उसकी ओर अग्रसर हो रहा है, तो हम निश्चय ही; उस केन्द्र तक पहुँचेंगे।'' राधाकृष्णन् के अनुसार भी सभी धर्म वस्तुत: अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने का मानवीय प्रयास है। गाँधी जी भी सभी धर्मों में निहित मूलभूत सत्य में विश्वास रखते थे। गाँधी जी धर्म के सम्बन्ध में कहते हैं कि– ''मेरे अनुसार धर्म वह है, जिसके द्वारा व्यक्ति के चरित्र में परिवर्तन होता है, जिससे व्यक्ति सत्य से अभिन्न रूप से बँधता है, जो कि व्यक्ति को परिशोधित करता है। यह मानवीय स्वभाव के शाश्वत स्वरूप की अभिव्यक्ति है।''[१] इस वृद्धि से सत्य का निष्ठापूर्वक अनुशीलन तथा परिपालन ही धर्म को पुष्ट करता है, अन्यथा इसके विपरीत; हम रूढ़ियों में ही उलझ कर रह जाएँगे। परन्तु समकालीन चिन्तक मुख्य रूप से धर्म के सच्चे तत्त्व को समझने पर जोर देते हैं। उनका आग्रह है कि सच्चे धर्म को मताग्रह, ज्ञान और धर्मनिष्ठा से अलग करके ही देखना चाहिए। धर्म वस्तुत: व्यक्तियों को जोड़ने एवं सम्बद्ध रखने के लिए है, विभक्त करने के लिए नहीं। इसीलिए विचारक धर्मों में परस्पर सहयोग तथा सहिष्णुता को आवश्यक मानकर उनमें विश्वास व्यक्त करते हैं। इस

* प्रोफेसर एवं डीन– जी. आई. एल. एस. गाँधीनगर विश्वविद्यालय, गाँधीनगर, गुजरात

परिप्रेक्ष्य में उनका कथन है– ''हमें अपने धर्म में ही सिमटे न रहकर, अन्य धर्मों के सत्य रूप में होने के प्रति सहिष्णु मात्र न रहकर, उन्हें भी सत्य-प्राप्ति के मार्ग का पोषक मानना होगा। अतएव ग्रहण ही हमारा मूल्यांकन होना चाहिए, वर्जन नहीं, केवल परधर्म सहिष्णुता नहीं।''[२]

राधाकृष्णन् धर्म को आन्तरिक परिवर्तन भी कहते हैं। विवेकानन्द भी इसी के अनुरूप धर्म की परिभाषा इस प्रकार देते हैं– ''धर्म अनुभूति की वस्तु है– यह मुख की बात, मतवाद या युक्तिमूलक कल्पना मात्र नहीं है, चाहे वह कितनी ही सुन्दर हो। आत्मा की ब्रह्मस्वरूपता को जान लेना, तद्रूप हो जाना, उसका साक्षात्कार करना– यही धर्म है।''[३]

इस प्रकार, धर्मों में निहित एक तत्त्व को देखना तथा उसकी अनुभूति को ही धर्म का वास्तविक स्वरूप मानना– धर्म को सार्वभौमिकता का रूप प्रदान करता है। विवेकानन्द इस सार्वभौमिक धर्म के आदर्श को भक्ति, ज्ञान, कर्म तथा योग के समन्वय को सार्वभौम धर्म के निकटतम आदर्श के रूप में बतलाते हैं। वहीं राधाकृष्णन् इस सम्बन्ध में कहते हैं कि सभी धर्म अपने आपको सार्वभौमिक धर्म के रूप में ज्ञान एवं प्रेम के आधार पर व्यक्त करते हैं। वस्तुत: आज धर्म के इन्हीं मन्तव्यों को समझने तथा इन्हें हृदयंगम करने की महती आवश्यकता है। वास्तव में; ज्ञान एवं प्रेम ही सत्य से संयोजित होकर सामाजिक संकीर्णता की बेड़ियों को खोलने में सहायक हो सकते हैं। विभिन्न चिन्तकों ने अपना जीवन इसी लक्ष्य/अभियान की पूर्ति हेतु समर्पित किया है। आज उनके इसी अभियान को दृढ़ करने तथा विस्तार करने पर ही हम धर्मान्धता, धार्मिक कट्टरता का समाधान कर पाएँगे। तब ही सम्पूर्ण विश्व में धर्म के नाम पर फैल रहे आतंकवाद तथा आंतकवादी घटनाओं पर विजय पायी जा सकेगी। इस धर्मान्धता, धार्मिक कट्टरता का मुकाबला सांस्कृतिक चेतना एवं द्वन्द्वात्मक विचारों में समायोजन करके किया जा सकता है।

सांस्कृतिक चेतना और आधुनिक दृष्टि– सम्पूर्ण मानवीय जीवन इच्छाओं पर आधारित होने के कारण द्वन्द्वात्मक होता है। इसका कारण यह है कि मानवीय इच्छा स्वत: द्वन्द्वात्मक होती है। प्रत्येक मनुष्य किसी समय विशेष में, किसी वस्तु या स्थिति के चयन को स्वीकार करने के सन्दर्भ में, द्वन्द्व में होता है। किसी वस्तु या स्थिति के चयन को स्वीकार या अस्वीकार करने के विकल्प चाहे उसके पास हों या न हों, वह इच्छा के स्तर पर कई विकल्पों के बारे में सोचता है। मानवीय इच्छा के द्वारा विभिन्न विकल्पों के बारे में सोचना ही इच्छा का कम-से-कम अपनी उत्पत्ति के प्राथमिक स्तर पर द्वन्द्वात्मक होना है। इच्छा की यह द्वन्द्वात्मकता यद्यपि सार्वभौमिक नहीं होती, (उदाहरण के लिए, किसी अत्यन्त गरीब और भूखे मनुष्य की इच्छा बहुउद्देशीय न होकर एक उद्देशीय होती है।) फिर भी; कतिपय अपवादों को छोड़कर, इच्छा के अधिकांश उदाहरणों में मानवीय इच्छा विकल्पात्मक होती है और इस प्रकार, द्वन्द्वात्मक होती है। मानवीय इच्छा की इस द्वन्द्वात्मकता का वर्णन जीन पॉल सात्रे ने अपने सम्प्रत्यय 'ख़राब आस्था' (बैड-फेथ) में किया है। 'गंदी-आस्था' एक ऐसी स्थिति है, जिसमें मनुष्य यह निश्चय नहीं कर पाता कि वह दो विकल्पों में से किसे चुने। वह किसी एक विकल्प पर पहुँचना चाहता है। वह जानता है कि कौन सा विकल्प उसके लिए उचित है, फिर भी; वह उस विकल्प को चुनने में असमर्थ रहता है, क्योंकि वह उस विकल्प के प्रति निश्चित नहीं हो पाता। इस प्रकार, वह द्वन्द्व की स्थिति में होता है। सात्रे की तरह ही मानवीय इच्छा की द्वन्द्वात्मकता को जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक वाइज़मैन ने भी स्वीकार किया है। इस प्रकार, विभिन्न विकल्पों तथा अनिश्चितता के कारण मानवीय इच्छा प्राय: द्वन्द्वात्मक होती है।

द्वन्द्व एक ऐसी स्थिति है, जिसमें मनुष्य दो विकल्पों में, जो एक दूसरे के यदि व्याघाती

नहीं, तो विपरीत अवश्य होते हैं, में किसी एक का चयन करने में असमंजस की स्थिति में होता है। प्रत्येक मनुष्य किसी विशिष्ट कालखण्ड में सांस्कृतिक चेतना और आधुनिक दृष्टि के बीच अवस्थित द्वन्द्व से स्वयं को अछूता नहीं रख सकता। पारम्परिक मूल्यों और आधुनिकता के बीच का यह द्वन्द्व सतत् है। इसकी निरन्तरता का कारण यह है कि आधुनिकता का कोई अन्त नहीं है। आधुनिकता विज्ञान पर आधारित होती है और वैज्ञानिक अन्वेषण एक सतत् प्रक्रिया है। इस प्रकार, किसी भी व्यक्ति की पारम्परिक सांस्कृतिक चेतना का तत्कालीन वैचारिक परिस्थितियों से भिन्न होना स्वाभाविक ही है।

आगे बढ़ने से पहले सांस्कृतिक चेतना के सम्प्रत्यय का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। सांस्कृतिक चेतना किसी राष्ट्र के व्यवहार में निहित होती है। इसे किसी समाज विशेष के व्यवहार का निचोड़ भी कहते हैं। संस्कृति के इस विस्तृत अर्थ के प्रतिस्थापन्न स्वरूप, संस्कृति की एक अन्य व्याख्या के अनुसार, यह साहित्य, कला, संगीत, दर्शन और मूल्यों के रूप में किसी समाज विशेष में समायोजित होती है। संस्कृति को चाहे मानवीय व्यवहार या मानवीय मूल्य के रूप में परिभाषित किया जाए, इसमें कोई विरोधाभास नहीं, क्योंकि मानवीय मूल्य अन्ततः मानवीय व्यवहार में ही अभिव्यक्त होते हैं। मानवीय व्यवहार से भिन्न मानवीय मूल्यों का कोई अस्तित्व नहीं। इसका दूसरा पहलू भी महत्त्वपूर्ण है। मानवीय मूल्य न केवल मानवीय व्यवहार पर आधारित होते हैं, वरन् ये मानवीय व्यवहार को दिशा भी प्रदान करते हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक मूल्य, मानवीय व्यवहार की संरचना होते हैं। प्रत्येक मानवीय व्यवहार अपने सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार, सांस्कृतिक चेतना, सांस्कृतिक मूल्यों की चेतना है, जो उस संस्कृति के व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। यद्यपि सांस्कृतिक चेतना उस संस्कृति के मानवीय व्यवहार में व्यक्त होती है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यवहार से अलग सांस्कृतिक चेतना अनभिव्यक्त नहीं होती है। प्रायः सांस्कृतिक चेतना अनभिव्यक्त रूप में होती है। व्यावहारिक अभिव्यक्ति इस चेतना का एक भाग होता है। यही कारण है कि समय-समय पर सांस्कृतिक पुनर्जागरण होता रहता है।

प्रश्न उठता है कि यदि प्रत्येक मानवीय व्यवहार अपने में सांस्कृतिक मूल्यों को समेटे होता है, तब ऐसी स्थिति में पुरातन और अर्वाचीन का द्वन्द्व क्यों? अर्वाचीन भी एक सांस्कृतिक मूल्य है, तब किसी असमंजस या विवाद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। वास्तव में; परम्परा और आधुनिकता जैसा कोई विवाद नहीं होना चाहिए, परन्तु यह द्वन्द्व या विवाद होता है। इसके विश्लेषण के लिए हमें 'आधुनिक दृष्टि' की व्याख्या करना आवश्यक है। आधुनिक या आधुनिकता का तात्पर्य सन्दर्भ-आश्रित होता है। ऐसा इसलिए है, क्योंकि–

(१) आधुनिकता एक सतत् प्रक्रिया है। इसलिए जो आज आधुनिक समझा जाता है, वह कल के सन्दर्भों में पुरातन हो सकता है।

(२) आधुनिकता कालसापेक्ष होने के साथ देश पर भी निर्भर करती है। जो विचार या व्यवहार किसी एक देश में आधुनिक समझा जाता है, ऐसा हो सकता है कि वही दूसरे देश में पुरातन हो गया हो।

किस देश में आधुनिकता किस प्रकार से ग्राह्य होगी, यह उस देश के बौद्धिक विकास पर निर्भर करता है। इस प्रकार, सामान्यतः 'आधुनिकता' को उस ऐतिहासिक काल के विपरीतार्थक के रूप में लिया जाता है, जो बीत चुका है। आधुनिकता या 'माडर्निटी' लातीनी शब्द 'मोडर्नस' से बना है और 'मोड' का अर्थ है– अर्वाचीन। इस प्रकार, आधुनिकता उन सड़ी-गली मान्यताओं

का विपरीतार्थ है, जो कि समय की गति के साथ समाज और व्यक्ति के उत्थान में सहयोगी न होकर बाधक हो रही हों। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि आधुनिकता अनिवार्यत: परम्परा की विरोधी नहीं होती। परम्परा की उन्हीं मान्यताओं को आधुनिकता विस्थापित करती है, जो मान्यताएँ व्यक्ति और समाज के द्वारा स्वीकार नहीं की जाती हैं।

आधुनिकता की उपर्युक्त व्याख्या सर्वग्राह्य है, परन्तु समकालीन भारत में प्राय: 'आधुनिकता' और 'पाश्चात्य' में अन्तर को अनदेखा कर दिया जाता है। प्राय: 'आधुनिकता', 'वैज्ञानिकता', 'पाश्चात्य', 'फैशनेवल' सम्प्रत्ययों को एक ही अर्थ में प्रयोग करने के कारण ही 'आधुनिकता' की भ्रांतियाँ उत्पन्न होती हैं। ये सम्प्रत्यय इस प्रकार एक-दूसरे से घुल-मिल गये हैं कि प्राय: इन्हें अलग करके भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में देखने का हमारा प्रयास ही नहीं होता है। समकालीन भारत में 'पाश्चात्य' और 'आधुनिक' के एक ही अर्थों में व्याख्या के कारण अनेक भ्रांतियाँ और सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। 'पाश्चात्य' की 'अंधी नकल' आधुनिकता नहीं है। इसे नीरद चौधरी ने अपनी पुस्तक 'इण्टेलेक्चुअल्स इन इण्डिया' में 'प्रिकोसिटी' के सम्प्रत्यय से अभिहित किया है। 'प्रिकोसिटी' का अर्थ है– 'अपने सन्दर्भों पर विचार किए बिना पाश्चात्य तकनीक को अपनाना।'

समकालीन भारत ऐसी भ्रांतियों और सामाजिक समस्याओं के द्वन्द्व के बीच स्थित है कि अधिकांशत: मनुष्य की स्थिति दिग्भ्रमित होने जैसी है। पाश्चात्य जगत से आयी हुई आधुनिकता का बोध समस्याओं को सुलझाने के बजाए अधिक जटिल करता जाता है। आज से लगभग २५ वर्ष पहले, जबकि आधुनिक बोध उतना तीव्र नहीं था, जितना कि आज है, आचार्य वृजवल्लभ द्विवेदी ने समकालीन स्थिति का सटीक वर्णन किया है। उनके अनुसार, ''आधुनिक बोध का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग यह अवगति है कि हमारे धर्म ग्रन्थों पर आधारित विश्वास और मूल्य विघटित हो रहे हैं। पुराने युगों के महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले प्रत्यय– पुनर्जन्म, परलोक, कर्म-सिद्धान्त आदि हमारे जीवन का नियमन या पथ-दर्शन करने में असमर्थ हैं। इस अवगति को हम आधुनिक मूल्य-बोध का प्रारम्भिक रूप कह सकते हैं।'' प्रश्न उठता है कि आखिर आधुनिकता आकर्षण का केन्द्र क्यों है? क्यों हमारी समकालीन सांस्कृतिक चेतना परम्परा को तोड़कर आधुनिकता का वरण करती प्रतीत होती है? इस सन्दर्भ में दो-तीन बिन्दुओं पर चर्चा प्रासंगिक है।

प्रथम, प्रत्येक परम्परा विशेष कालखण्ड के पश्चात् परिवर्तित होते हुए भी कुछ सनातन तत्त्व अक्षुण्ण रखती है। वस्तुत: परिवर्तन बाह्य होते हैं। अन्त:चेतना के प्रवाह की प्रकृति सदैव एक जैसी होती है। यदि अन्त:चेतना ही बदल जाए, तो संस्कृति का ही लोप हो जाता है। यही कारण है कि विश्व की अनेक संस्कृतियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, परन्तु भारतीय चेतना अब भी अक्षुण्ण है। यही नहीं, यह चेतना लगभग आधे विश्व की संस्कृतियों का आधार भी है। डॉ. राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक 'द हिन्दू व्यू ऑव लाइफ' में इसे स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, विश्व का आधा भाग हिन्दुत्व द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्र आधार पर संचालित होता है। चीन, जापान, तिब्बत, म्यांमार और श्रीलंका भारत को अपने आध्यात्मिक घर के रूप में देखते हैं। यह सभ्यता स्वयं कम समय तक जीवित नहीं रही है। इसका ऐतिहासिक रिकार्ड पाँच हजार वर्ष पुराना है और तब, जब यह सभ्यता के स्तर तक पहुँची, इसका अटूट यद्यपि धीमा और लगभग स्थिर प्रवाह आज तक जारी है। इसने चार या पाँच सहस्राब्दियों को जिया है। यद्यपि इतिहास के प्रारम्भ से ही विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग भारत में समाहित होते रहे हैं, फिर भी; हिन्दुत्व ने अपनी श्रेष्ठता अक्षुण्ण रखी है। यहाँ तक तक कि राजनैतिक शक्तियों के समर्थन के बावजूद; असहनशील जातियाँ भी

अधिकांश भारतीयों को अपने विचारों से नहीं दबा पायीं। हिन्दू संस्कृति ऐसी चैतन्यता समाहित किए है, जो कि अन्य शक्तिशाली प्रवाहों में नहीं पायी जाती।

इस प्रकार, सदियों से भारतीय संस्कृति वाह्य प्रभावों को अपने में समाते हुए भी अपनी पहचान बनाए रखने में सफल रही है। इसका तात्पर्य यह है कि जो भी परिवर्तन हमें आज तक दिखाई दे रहे हैं, वे भी समय के साथ भारतीय संस्कृति में इस प्रकार मिल जाएँगे, जैसे कि वह इसका ही भाग हों। इस प्रकार, वास्तव में; समकालीन भारतीय सांस्कृतिक चेतना न तो परम्परा को छोड़ रही है और न ही आधुनिकता के आकर्षण जैसी कोई बात है। परन्तु यह बिन्दु प्रभावशाली नहीं लगता, क्योंकि पाश्चात्य का प्रभाव हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। यह ऐसा तीव्र प्रभाव है, जैसा कि शायद पहले कभी नहीं पड़ा था। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि वह कई सदियों तक अपनी पहचान अक्षुण्ण रखने में सफल रही है। इस बात की गारण्टी नहीं है कि वह हमेशा सफल रहेगी। यही कारण है, आज हमारी सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा की आवश्यकता किसी अन्य काल से कहीं अधिक है।

द्वितीय, परम्परा के आकर्षण का कारण पाश्चात्य उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रभाव है। मनुष्य बौद्धिक प्राणी होते हुए भी मूलत: इन्द्रियों के द्वारा संचालित होता है। इन्द्रिय सुख और बौद्धिक सुख में अन्तर होता है। इन्द्रिय सुख, जो कि अधिक तीव्र और असरदार होता है, सामान्यत: अधिक ग्राह्य होता है। यह इस दृष्टांत से स्पष्ट होता है कि एक सर्वेक्षण के अनुसार, ५० प्रतिशत से अधिक पुरुषों ने यह स्वीकार किया कि इन्द्रिय सुख के लिए वे एच. आई. वी. पॉजिटिव महिला के साथ, यह जानते हुए भी कि वह महिला एच. आई. वी. पॉजिटिव है, शारीरिक आनन्द के लिए यौन सम्बन्ध रखना उचित मानते हैं। ऐसी स्थिति में; आधुनिकता के आकर्षण की विहंगमता को आसानी से आत्मग्राह्य किया जा सकता है।

तृतीय, वैज्ञानिक अन्वेषण और तकनीकी विकास का प्रवाह विकसित से विकासशील राष्ट्रों की तरफ होता है। आर्थिक रूप से विकसित राष्ट्र अन्य राष्ट्रों के आदर्श होते हैं। जो राष्ट्र या समाज आर्थिक, वैज्ञानिक और तकनीकी रूप से उन्नत होता है, उसकी संस्कृति का प्रभाव अन्य राष्ट्रों और समाजों पर पड़ता है। इसी कारण, यूरोपीय और अमेरिकन संस्कृतियों का प्रभाव भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक है। यह इतना स्वाभाविक है कि हम अपने मूल्यों और आदर्शों को इस तरह भूलते जा रहे हैं, जैसे कि कुछ हुआ ही न हो। इस प्रकार, पाश्चात्य मूल्यों का अपनाना हमारी आदत बनती जा रही है।

ऐसा नहीं है कि जो भी आधुनिक है, वह अनिवार्यत: असंगत और त्याज्य है। वास्तव में; परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व में परम्परावादी को रूढ़िवादी और अतार्किक एवं आधुनिकतावादी को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सम्पन्न माना जाता है। कोई भी व्यक्ति रूढ़िवादी से अधिक आधुनिकतावादी विशेषणों को पसन्द कर सकता है। परन्तु जहाँ परम्परा को रूढ़िवाद और अन्धविश्वास में डूबने का खतरा है, तो दूसरी तरफ; आधुनिकता को अव्यावहारिकता, असामाजिकता और बन्दर-नकल जैसे सम्प्रत्ययों से स्वयं को अलग रखने के लिए जूझना है। किसी भी देश और कालखण्ड की समकालीन सांस्कृतिक चेतना न तो पूर्णत: पारम्परिक होती है और न ही पूर्णत: आधुनिक। उसमें परम्परा और आधुनिकता का ऐसा मिश्रण होता है, जिसके कारण वह एक तरफ आकर्षक दिखती है, तो दूसरी तरफ; उन प्राचीन मूल्यों और विचारों को समाहित किए होती है, जो स्वाभाविक रूप से उस देश-काल के व्यवहार में पाए जाते हैं। किसी भी देश-काल की सांस्कृतिक चेतना को इन मूल्यों से अलग करके देखा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि इनमें समवाय सम्बन्ध होता है। इन्हीं पुरातन और सनातन मूल्यों को समेटे होने के कारण

देश-काल विशेष की सांस्कृतिक चेतना वस्तुत: मनुष्य विशेष की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इन्हीं के द्वारा किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय-पहचान निर्धारित होती है। किसी भी राष्ट्रीय पहचान में उस राष्ट्र के नागरिकों की सांस्कृतिक चेतना प्रतिबिम्बित होती है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि किसी एक परिस्थिति के प्रति विभिन्न सांस्कृतिक चेतना की पृष्ठभूमि के मनुष्यों की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। एक ही परिस्थिति के प्रति भारतीय, यूरोपीय और अमेरिकन प्रतिक्रिया में अन्तर पाया जाता है। यद्यपि मानवीय सम्वेदनाएँ सभी मनुष्यों में एक जैसी होती हैं। सभी मनुष्य प्रेम, मित्रता, प्रशंसा, मानसिक और शारीरिक आनन्द तथा बौद्धिक प्रगति को आत्मसात् करते हैं, तो सभी प्रकार के दु:खों का स्वत: निषेध करना चाहते हैं। फिर भी; विभिन्न देश और काल के मनुष्यों का प्रेम, मित्रता या दु:ख इत्यादि की एक जैसी परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया भिन्न होती है। यही कारण है कि विभिन्न राष्ट्रों के सामाजिक पहलू भी भिन्न होते हैं। इस प्रकार, यद्यपि आधुनिकता पूर्णत: त्याज्य नहीं है, परन्तु विभिन्न राष्ट्रों की परिस्थितिगत भिन्नता के कारण, किसी आधुनिक प्रवृत्ति को अपनाने से पहले, अपनी सांस्कृतिक पहचान और सांस्कृतिक परम्परा को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। ऐसा न करने से सांस्कृतिक चेतना और आधुनिकता में द्वन्द्व अनिवार्यत: होता ही है।

प्रश्न उठता है कि आज के सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति के किन सूत्रों को रेखांकित करने की आवश्यकता है, जिससे कि समकालीन परम्परा और आधुनिकता के द्वन्द्व से बचा जा सके? यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि पारम्परिक भारतीय सांस्कृतिक चेतना के ऐसे पहलुओं को पुन: आत्मसात् करना हमारे लिए आवश्यक है, जिनसे तथाकथित आधुनिकता की विकृतियों को घटित होने से रोका जा सके। प्रसंगवश समकालीन भारत में पाश्चात्य से आयी हुई आधुनिक दृष्टि को अपनाने से उत्पन्न विकृतियों और उससे मुक्ति के लिए उपयुक्त भारतीय संस्कृति के सम्प्रत्ययों की चर्चा अपेक्षित है।

वैश्वीकरण (ग्लोबलाइजेशन) समकालीन विश्व-व्यवस्था की नवीनतम प्रवृत्ति है। सभी देशों में इस विषय पर विचार-विमर्श हो रहा है। वैश्वीकरण को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि यह समकालीन सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं में सम्पूर्ण विश्व को एक सूत्र में बाँधना है। वैश्वीकरण के समर्थकों का कहना है कि इससे सम्पूर्ण विश्व का सामाजिक और आर्थिक उत्थान होगा। दूसरी तरफ, वैश्वीकरण के आलोचकों के अनुसार, वैश्वीकरण के द्वारा सामाजिक असमानता और गरीबी बढ़ेगी। आलोचकों के अनुसार, वैश्वीकरण आर्थिक रूप से सम्पन्न राष्ट्रों द्वारा प्रोत्साहित ऐसी उपभोक्तावादी विचारधारा है, जिसका उद्देश्य विश्व में ऐसी व्यवस्था स्थापित करना है, जो केवल अर्थ के द्वारा निर्देशित होती है और जिसका किसी भी राष्ट्र की सामाजिक, धार्मिक या सांस्कृतिक सम्वेदनाओं से कोई सरोकार नहीं होता। इन आलोचनाओं के बावजूद; वैश्वीकरण की समकालीन प्रक्रिया ऐसी प्रक्रिया है, जिसे शायद रोक पाना सम्भव नहीं। हम केवल इस प्रक्रिया को अपने सन्दर्भों के लिए अधिक उपयोगी बना सकते हैं। ऐसा हम इसकी विकृतियों को, जिस सीमा तक हम दूर कर सकें, उस सीमा तक दूर करके, कर सकते हैं। इसी सन्दर्भ में हमें अपनी संस्कृति के आदर्शों, जैसे– 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को अपनाना होगा।

इसी प्रकार, आतंकवाद का विकट रूप में प्रस्तुत होना भी आधुनिक विकृति है। इसका प्रमुख कारण धर्मान्धता और धार्मिक असहिष्णुता के साथ-साथ अंहिसा की सांस्कृतिक चेतना को भूल जाना है। आतंकवाद के आर्थिक और राजनैतिक पहलू भी होते हैं। आतंकवाद से निजात पाने के लिए हमें न केवल 'अहिंसा परमो धर्म:' के आदर्श को रेखांकित करना होगा, बल्कि अधर्म के नाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए सभी प्रकार के त्याग के लिए भी तैयार रहना होगा।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि गाँधी जी के सत्य और अहिंसा के व्रत आज के सन्दर्भ में भी उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। आवश्यकता केवल इनके समुचित प्रयोग की है।

प्रत्येक राष्ट्र द्वारा अपनी सांस्कृतिक चेतना के सन्दर्भों पर विचार करके ही आधुनिक मूल्यों को स्वीकार या अस्वीकार करना सामाजिक समन्वय और सांस्कृतिक सम्बद्धता की अनिवार्य आवश्यकता है। समकालीन परिस्थिति में परिवर्तन अवश्यंभावी है। समकालीन विश्व के आधुनिक और उत्तर-आधुनिक परिवर्तनों से हम स्वयं को अप्रभावित नहीं रख सकते। पारम्परिक सांस्कृतिक चेतना और अर्वाचीन में द्वन्द्व भी स्वाभाविक है। आधुनिकता में सांस्कृतिक चेतना का पुट अवश्य होता है। यद्यपि आधुनिकता वैज्ञानिक अन्वेषण पर आधारित होती है, परन्तु उसमें देश-काल के मूल्य अन्तर्निहित होते हैं। इसी कारण, 'पाश्चात्य' और 'आधुनिकता' में अन्तर की समझ 'आधुनिक' को 'पाश्चात्य' का पर्याय न बनने देने में सहायक होती है।

आधुनिकता की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिकता की किन प्रवृत्तियों का भारतीय सांस्कृतिक चेतना के साथ समन्वय हो सकता है और किनका नहीं। हमें यह स्वीकार करना ही होगा कि आधुनिक प्रवृत्तियों के बौद्धिक आत्मसात् के स्थान पर इन्द्रिय-जन्य आत्मसात् ही भारतीय सन्दर्भों में सामाजिक विकृतियों का कारण है, क्योंकि कोई भी आधुनिक बोध सांस्कृतिक चेतना से निरपेक्ष होकर, सार्थक न होकर, द्वन्द्वात्मक होता है। इसलिए आवश्यकता न केवल आधुनिक दृष्टि की समीक्षा की है, बल्कि हमें अपनी सांस्कृतिक चेतना की गम्भीरता और गहनता को भी समझना है।

सन्दर्भ-सूची

१. Essays on Indian Philosophy, p. ७०, Lalvani Publishing House, Bombay, २०११
२. राधाकृष्णन्–आधुनिक युग में धर्म (अनुवादित), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९७६, पृ. १६
३. Heinrich Zimmer– Indian Philosophies, p. ४१, Kegah & Paul, London, २००८
४. J. Hastings (Ed.)– 'Dharma', Encyclopaedia of Religion and Ethics, 12 Vols, Repreint, Edinburg, T & T clerk, New your, १९९८
५. 'एकत्व धर्म का लक्ष्य'– विवेकानन्द साहित्य, जन्मशती संस्करण, चतुर्थ खण्ड, पृ. १८७, प्रकाशक स्वामी गंभीरानन्द अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा हिमालय, २०१८
६. The Science of Social Organization, Vol. I, p. 49-50, G. H. Mees, Dharma and Society पृ. १७ से उद्धृत।
७. 'विश्वधर्म का आदर्श', वि० सा० ज० सं०, तृतीय खण्ड, पृ० १४१
८. K. C. Pandey– 'The Concept of Will in Waismann', Journal of Studies in Humanities and Social Sciences, Vol. VIII, No. १, २०११, p. ७१-८१
९. Andrew Edgar and Peter Sedwick, Key Concepts in Cultural Theory, Routledge, London and New York, २०१९, p. २४४
१०. नन्द किशोर देवराज– 'आधुनिक बोध और सांस्कृतिक मूल्य', K. K. Mittal (ed.) Quest for Truth, Delite Press, Delhi, २०२०, p. ६८०.
११. S. Radhakrishnan, The Hindu View of life, Harper Collins Publishers, India, २०२१, p. १-२

●

वैयक्तिक उन्नयन में प्रत्याहार व धारणा की मनोदार्शनिक प्रासंगिकता (उपनिषद् दर्शन के विशेष सन्दर्भ में)

डॉ. कविता भट्ट*

अधिकाधिक विलासिता होते हुए भी अतृप्ति और असंतोष के कारण आधुनिक युग में मानव गम्भीर मनोरोगों के पाश में निबद्ध है। योग-मार्ग इन मनोरोगों के निवारणार्थ अनेक अभ्यासों को सांगोपांग प्रस्तुत करता है। ये अभ्यास व्यक्ति को आत्मान्वेषण की ओर तो प्रवृत्त करते ही हैं, इसके साथ ही; ये व्यावहारिक जगत् की अनेक समस्याओं का निराकरण भी सहज ही प्रस्तुत करते हैं। राजयोग का प्रमुख ग्रन्थ महर्षि पतंजलि कृत 'पातंजलयोगसूत्र' व्यावहारिक-आध्यात्मिक उन्नयन तथा स्वस्थता हेतु अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि) को अनुशासन मार्ग के रूप में प्रस्तुत करता है। इनमें से प्रत्याहार एवं धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभ्यास हैं। आश्चर्यजनक है कि महत्त्वपूर्ण होते हुए भी वैयक्तिक उन्नयन के सन्दर्भ में इन अभ्यासों की अपेक्षित व्याख्या कम ही प्राप्त होती है। अत: इसे ध्यान में रखते हुए; प्रस्तुत शोध-पत्र में हम इन योगांगों के मनोदार्शनिक विवेचन को उपनिषद् की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ समझने का प्रयास करेंगे। अस्तु, इस शोध-पत्र को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रथम भाग में योगदर्शन में उल्लिखित प्रत्याहार तथा धारणा का अभिप्राय तथा इनके महत्त्व को संक्षेप में विवेचित करने का प्रयास करेंगे। तत्पश्चात् उपनिषद् दर्शन के विशेष सन्दर्भ में इन अभ्यासों की मनोदार्शनिक प्रासंगिकता को व्याख्यायित करने का प्रयास करेंगे।

शब्द-कुंजिका : प्रत्याहार, धारणा, पातंजलयोगसूत्र, बहिरंग योग, अन्तरंग योग, चित्तवृत्तिनिरोध, उपनिषद्, शुभ, अनुशासन।

सर्वप्रथम हम 'पातंजलयोगसूत्र' में प्रत्याहार एवं धारणा के स्वरूप को जानने का प्रयास करेंगे। इन्हें व्याख्यायित करने हेतु हम शोध-पत्र के प्रथम भाग की ओर बढ़ते हैं।

प्रथम भाग : अष्टांग योग के प्रारम्भिक पाँच अभ्यासों– यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार को सामान्यत: बहिरंग योग कहा जाता है। प्रत्याहार के पश्चात् वाले तीन अभ्यासों– धारणा, ध्यान व समाधि को पूर्व के पाँचों अभ्यासों की अपेक्षा अन्तरंग माना गया है तथा संयुक्त रूप से इन तीनों को 'संयम' की संज्ञा दी गयी है। चूँकि हमने अपने अध्ययन में प्रत्याहार एवं धारणा को रखा है, इसलिए बहिरंगता एवं अन्तरंगता में इनकी बहिरंगता एवं अन्तरंगता के स्तरों के सम्बन्ध में कुछ तथ्यों का संक्षिप्त विवेचन करना अनिवार्य है, जिससे इन दोनों योगचरणों की यथोचित जानकारी हो सके। प्रत्याहार को पातंजलयोगसूत्र में अन्तरंग साधनों के अन्तर्गत न रखकर बहिरंग साधनों के सबसे अन्तिम अभ्यास के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यदि सूत्रात्मकता व शब्दावली के दृष्टिकोण से विचार किया जाए, तो महर्षि पतंजलि 'विभूतिपाद' के सप्तम् सूत्र में उल्लेख करते हैं– 'त्रयमन्तरंग पूर्वेभ्य:।'[१] अर्थात् धारणा, ध्यान व समाधि– तीनों

* सहायक आचार्य– दर्शनशास्त्र विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (गढ़वाल), उत्तराखण्ड

ही पूर्व के अभ्यासों की अपेक्षा अन्तरंग हैं। धारणा से ठीक पहले का चरण प्रत्याहार है। इस प्रकार, महर्षि पतंजलि ने उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट किया है कि प्रत्याहार बहिरंग साधनों में से अन्तिम साधन है। साथ ही; धारणा अन्तरंग साधनों में से पहला साधन है। यहाँ स्पष्ट करने योग्य तथ्य यह है कि यद्यपि महर्षि पतंजलि ने अन्तिम तीन अभ्यासों को अन्तरंग कहा है, किन्तु इसी पाद के अष्टम् सूत्र में वे स्पष्ट करते हैं– 'तदपिबहिरंग निर्बीजस्य।'[२] अर्थात् स्तरीय रूप से अंतरंग होते हुए भी ये तीनों साधन निर्बीज समाधि के सन्दर्भ में बहिरंग ही हैं। इस प्रकार, अन्तरंगता के परिप्रेक्ष्य में 'अपेक्षया' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अन्तरंगता के स्तर को ध्यान में रखते हुए यह भी कहा जा सकता है कि योगाभ्यासों को करते हुए अन्तरंगता में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है।

इस प्रकार, यह कहना तर्कसंगत होगा कि प्रत्याहार पूर्व के चार चरणों की तुलना में अधिक अन्तरंग है या अन्तरंगता में प्रविष्टि हेतु प्रवेशद्वार है। यहाँ एक अन्य तथ्य भी जान लेना आवश्यक है कि यदि योग-प्रक्रिया के सन्दर्भ में बात की जाए, तो इन्द्रियों की बहिर्मुखता योगमार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। प्रत्याहार के द्वारा इस बहिर्मुखता को नियन्त्रित करते हुए इन्द्रियों को विषयों से विमुख करने का अभ्यास किया जाता है। महर्षि पतंजलि ने प्रत्याहार को परिभाषित करते हुए लिखा है– 'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।'[३] अर्थात् जब विषयों का अपने विषयों से सम्बन्ध नहीं रहता, तब उनका चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना प्रत्याहार है। सामान्य जीवन में हम इसके सर्वथा विपरीत प्रवृत्ति को अपनाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों के माध्यम से हम जिन विषयों का आनन्द लेते रहते हैं, उन्हीं की ओर हमारा चित्त आकर्षित होकर उन्हीं में भटकता रहता है। जैसे कि हमारे नैन सुन्दरता को ही देखना चाहते हैं एवं जिह्वा मात्र स्वाद का अनुभव करने के लिए बारम्बार सुस्वाद व्यंजनों के लिए लालायित रहती है। ये ही प्रवृत्तियाँ चित्त को वृत्तियों के पाश में उलझाये रखती हैं, जबकि योग को परिभाषित करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं– 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'[४] अर्थात् चित्त की वृत्तियों को पूर्णतः निरूद्ध करना ही योग है। अब यह स्वतः ही सिद्ध हो जाता है कि चित्तवृत्ति-निरोध योग की आवश्यक प्रक्रिया है, जिसकी सिद्धि के लिए इन्द्रियों का स्वविषयों से विमुख होना आवश्यक है। इन्द्रियों की यह विषय-विमुखता प्रत्याहार के अभ्यास से ही होती है तथा अग्रिम योगचरणों में अन्तरंगता में फलीभूत होती है। जैसा कि महर्षि पतंजलि ने प्रत्याहार के फल को सूत्रात्मक रूप में प्रस्तुत किया है; वे लिखते हैं– 'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्'[५] अर्थात् प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप; इन्द्रियाँ साधक के वश में हो जाती हैं, अतः उनकी बाह्य-विषयों की ओर भागने की प्रवृत्ति पूर्णतः नियन्त्रित हो जाती है। यही अन्तरंगता का पहला लक्षण है, जिसमें धारणा के माध्यम से स्थायित्व होता है। अन्तरंगता का पहला चरण धारणा है; जो कि लक्ष्य के प्रति एकाग्रता हेतु साधक को किसी एक केन्द्र पर केन्द्रित करता है। जैसा कि महर्षि पतंजलि लिखते हैं– 'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'[६] अर्थात् चित्त को किसी एक निश्चित लक्ष्य में स्थापित करना धारणा है। यही लक्षण योग-साधना में ध्यान के रूप में फलीभूत होता है तथा समाधि की अवस्था ध्यान के फलस्वरूप ही सम्भव है।

अतः योग-साधना में प्रत्याहार साधक की मनोदार्शनिक प्रवृत्ति-वृत्ति एवं सम्पूर्ण साधना के लक्ष्य-निर्धारण एवं निर्देशन हेतु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरण हो जाता है। प्रत्याहार यदि अन्तरंगता का प्रवेश द्वार है, तो निश्चित रूप से; धारणा इस अन्तरंगता को स्थायित्व प्रदान करने वाला

वह स्तम्भ है, जो कि ध्यान एवं समाधि हेतु आधारशिला का कार्य करता है। यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि सांख्यदर्शन की तत्त्वमीमांसीय पृष्ठभूमि को मानने वाला योगदर्शन भी यही मानता है कि प्रकृति एवं पुरुष के संयोग से महत् (बुद्धि) का प्रादुर्भाव होता है। महत् से त्रिगुण (सत्व, रजस् तथा तमस्) का प्रादुर्भाव होता है। सत्व गुण से पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा एक मन का अस्तित्त्व है। मन उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय– इन दोनों के रूप में क्रिया करता है, साथ ही; इनको नियन्त्रित भी करता है। इस दृष्टिकोण से मन इन्द्रियों का स्वामी है। आध्यात्मिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से मन वैयक्तिक उन्नयन का श्रेष्ठ साधन है। इसका कारण यह है कि मन के हस्तक्षेप से ज्ञानेन्द्रियों की बहिरंगता को नियन्त्रित करते हुए उत्तरोत्तर अन्तरंगता के स्वभाव को विकसित करना योग-साधना के दृष्टिकोण से अनुशासन-प्रक्रिया हेतु अत्यन्त आवश्यक अभ्यास है। अनुशासन की यह प्रक्रिया आध्यात्मिक लक्ष्य तक तो पहुँचाती ही है, साथ ही; आधुनिक युग में भी व्यावहारिक व्यक्ति की अन्तर्वीक्षण प्रक्रिया के माध्यम से उसके अनेक सामयिक मानसिक समस्याओं, यथा– तनाव, अवसाद और दुश्चिन्ता इत्यादि जैसी अनेक मानसिक समस्याओं का समाधान करने में समर्थ है। मन के द्वारा की जाने वाली इस अन्तर्वीक्षण प्रक्रिया के द्वारा अनेक मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं व्यावहारिक लाभ स्वाभाविक रूप से प्राप्त होते हैं।

यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि 'मानव मन की क्षमता'[७] असीम एवं विलक्षण है। उसकी चेतन, अवचेतन, अचेतन, समष्टिगत मन जैसी अनेक उथली-गहरी परतें हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों के भले-बुरे संस्कारों से लेकर अतीन्द्रिय क्षमताओं, दिव्य विभूतियों तक के भण्डागार अपने भीतर समेटे रहती हैं। इन्हें जानने, कुरेदने एवं परिशोधित कर लेने वाला मनुष्य पशु-प्रवृत्तियों से उठकर देव स्तर तक सहज ही जा पहुँचता है। इसके विपरीत; मन की उथली परतों से ही संचालित व्यक्तियों की गणना नर-पशुओं में की जाती है, जो अपनी तुच्छता के कारण गुण, कर्म, स्वभाव एवं चिन्तन, चरित्र, व्यवहार की दृष्टि से पग-पग पर घृणित एवं पतित सिद्ध होते रहते हैं। यही कारण है कि अध्यात्मवेत्ताओं एवं मनःशास्त्रियों ने मनःचेतना या आत्मचेतना के परिष्कार पर बहुत अधिक बल दिया है और उसके लिए विविध विधि, उपायों एवं उपचारों का सृजन किया है। यह और कुछ नहीं, केवल परिष्कृत मन के विकास की व्यक्तिगत जीवन में दीख पड़ने वाली झाँकी मात्र है। सुगठित चरित्र, निष्ठा, मनस्विता, दूरदर्शिता, प्रगतिशीलता, तत्परता एवं शौर्य सुव्यवस्थित रूप में हम केवल परिष्कृत मन की प्रौढ़ता के ही दर्शन करते हैं। त्याग, बलिदान, सेवा, तप-साधना की कष्टसाध्य प्रक्रिया को अपनाने में कितने ही व्यक्ति असाधारण संतोष, आनन्द एवं गर्व अनुभव करते हैं। यह सब परिशोधित उच्चस्तरीय मन की ही देन है।

उपर्युक्त विवेचन से परिशोधित मन की नैतिक उपलब्धियों को स्पष्ट किया गया। इसके लिए मानसिक प्रशिक्षण की जो आवश्यकता है, उसके 'तीन अनिवार्य उपाय'[८] हैं। प्रथम उपाय है– मन, शरीर एवं इन्द्रियों को पवित्र करना, ताकि दैवीय शक्तियों का उसके भीतर संचरण सम्भव हो सके। द्वितीय उपाय है– एकाग्रता अर्थात् इन्द्रियों की ओर दौड़ने वाले विशृंखल विचार वाली चेतना से मन को विमुख कर परमचेतना में मन को स्थिर करना। तृतीय उपाय है– यथार्थसत्ता तक पहुँचने के पश्चात् उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना। इस प्रकार, हम देखते हैं कि नैतिक शुद्धि हेतु व्यक्ति में योगसाधनों से विकसित अन्तर्दृष्टि अनिवार्य शर्त बनकर उभरती

हैं इस अन्तर्दृष्टि के विकास का प्रारम्भ प्रत्याहार से होकर धारणा से इसमें स्थायित्व होता है तथा यह आध्यात्मिक उच्चतम लक्ष्य के साथ ही; नैतिक रूप से भी व्यक्ति को चारित्रिक श्रेष्ठता का पथ प्रशस्त करता है। इस प्रकार, प्रत्याहार एवं धारणा से पुरुष नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से श्रेष्ठ लक्ष्य-सिद्धि को प्राप्त करता है। इसे मनुस्मृति में इस प्रकार निर्देशित किया गया है–

इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति।।[९]

अर्थात् मनुष्य इन्द्रियों के विषयों में अधिक आसक्त होने से अवश्य ही दोषों को प्राप्त होता है। इन्द्रियों को ही वश में रखकर तो उस समय में मनुष्य पुरुषार्थ (लौकिक एवं पारमार्थिक) सिद्धि को वश में करता है। इस प्रकार, प्रत्याहार के सिद्ध होने पर ही नैतिक उत्थान सम्भव है। साथ ही; उसके माध्यम से जो अन्तर्दृष्टि अभ्यासी में विकसित होती है, वह धारणा के माध्यम से स्थायित्व एवं परिपक्वता प्रदान करती है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि मानसिक एकाग्रता एवं स्थिरता के द्वारा वैयक्तिक उन्नयन हेतु प्रत्याहार एवं धारणा– दोनों ही अभ्यास महत्त्वपूर्ण हैं। अब इस विषयवस्तु को उपनिषद् दर्शन के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करना आवश्यक है। अत: अब हम शोध-पत्र के द्वितीय भाग में इसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

द्वितीय भाग : भारतीय सभ्यता और संस्कृति में किसी भी शुभ कार्य का प्रारम्भ प्रार्थना से किया जाता है। यदि प्रार्थना में ही परमशुभ की ओर प्रवृत्त होने हेतु मंगलकामना में इन्द्रियों को अनुशासित व नियन्त्रित करके सकारात्मकता के प्रति सम्वेदनशील होने का तथ्य प्रस्तुत किया गया हो; तो स्पष्ट है कि भौतिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक निहितार्थों के लिए प्रत्याहार तथा धारणा– दोनों ही योगांग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं।

'मुण्डकोपनिषद्' का श्रीगणेश शान्तिपाठ से होता है, जो इस प्रकार है– 'ॐ भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।'[१०] शान्तिपाठ में देवगणों, यथा– इन्द्र, पूषा, गरुड़देव व बृहस्पति (जो शक्तिरूप हैं) से प्रार्थना की गयी है कि भगवान् का भजन करते हुए कानों को कल्याणमय वचन ही सुनायी दें, नेत्रों से कल्याण ही दिखायी दे। उल्लेखनीय है कि उपनिषद् के इस प्रार्थना अंश में गूढ़ भावार्थ है। यहाँ प्रत्येक इन्द्रिय की संचालन-शक्ति के रूप में किसी न किसी देवता को उत्तरदायी बताया गया है। साथ ही; यह भी बताया गया है कि यदि इन्द्रियाँ नियन्त्रित व अनुशासित होंगी, तो प्रत्येक कार्य निश्चित रूप से शुभ होगा। निहितार्थ यह है कि यदि साधक द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित करते हुए, उनसे सम्बन्धित देवताओं के भाव को चिरस्थायी बनाते हुए, प्रत्येक देवता की धारणा बनायी जाए अर्थात् मन को देवभाव में स्थिर किया जाए, तो साधना तभी सफल हो सकती है।

यहाँ यह स्पष्ट करना अनिवार्य है कि प्रत्याहार (इन्द्रिय-नियन्त्रण) प्रत्येक इन्द्रिय सम्बन्धी नकारात्मक व विध्वंसात्मक लालसाओं को ही नियन्त्रित करता है; किन्तु उन लालसाओं के स्थान पर किसी सकारात्मकता का प्रतिस्थापन आवश्यक है। धारणा वह प्रक्रिया है, जिसमें प्रत्येक इन्द्रिय सम्बन्धी विषय के निरुद्ध होने पर उस विषय के स्थान पर तत्सम्बन्धी देवता का अन्तर्विषय के रूप में प्रतिस्थापन आवश्यक है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे कि हम कहें कि बाह्य विषयों से इन्द्रियों को आन्तरिक शक्ति आत्मा की ओर मोड़ो। किन्तु इन्द्रियों का स्वभाव तो विषयों को ग्रहण करना है। यदि बाह्य विषयों को ग्रहण करने का नियन्त्रण है, तो भीतर उन्हें कुछ

आश्रय तो चाहिए। यह आश्रय देवों के रूप में दृष्टिगोचर होता है। तो स्पष्ट रूप से प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय-निरोध के पश्चात् रिक्तता की अनुभूति को समाप्त करने हेतु देवभावों से उस स्थान को धारणा के माध्यम से भरने का निर्देश यहाँ पर प्राप्त होता है; ऐसा कहना अनुचित नहीं है। इसलिए उपनिषद् में प्राप्त प्रार्थना में साधना के केन्द्र में प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय-निरोध को तो रखा ही गया है, इसके अतिरिक्त; धारणा द्वारा सकारात्मक चिन्तन के माध्यम से इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों की रिक्तता को अन्तर्दर्शन करते हुए भरने का भी निर्देश है। ऐसा करने से साधक का पुन: बाह्य विषयों की ओर आकर्षण नहीं होगा।

इसी प्रकार का वर्णन अन्यत्र 'केनोपनिषद्' में इस प्रकार प्राप्त होता है– 'तस्यै तपो दम: कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा: सर्वांगानि सत्यमायतनम्'[११] अर्थात् उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्या के तप, दम (मन-इन्द्रियों का नियन्त्रण) एवं कर्त्तव्यपालन– ये तीनों आधार हैं। वेद उस विद्या के सम्पूर्ण अंग हैं अर्थात् वेद में उसके अंग-प्रत्यंगों का सविस्तार वर्णन है तथा सत्यस्वरूप परमेश्वर उसका अधिष्ठान प्राप्तव्य है। उपर्युक्त उद्धरण में, समग्र उपनिषद् साहित्य में साध्य रूप में विवेचित ब्रह्मविद्या का सर्वप्रमुख साधन इन्द्रिय-निरोध को ही बताया गया है। इन्द्रिय-निरोध के साधनस्वरूप योगदर्शन में प्रत्याहार को आवश्यक बताया गया है तथा धारणा द्वारा उसमें चिरस्थायित्व के तथ्य को स्वीकार किया गया है। इन साधनों के अभाव में इन्द्रियों के विषयों में भटकने से जीवात्मा दु:खों को ही भोगता रहता है। साधना के मूल में ये दोनों साधन कैसे आवश्यक, उपयोगी एवं प्रासंगिक हैं, इस तथ्य को हम 'कठोपनिषद्' में प्राप्त प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रसंग– यमराज एवं नचिकेता के सम्वाद द्वारा अधिक स्पष्ट रूप से जान सकते हैं।

कठोपनिषद् में आया प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रसंग उस समय का है, जब भारतभूमि का आकाश यज्ञधूम के पवित्र सौरभ से आच्छादित रहता था तथा वेदमन्त्रों की दिव्यध्वनि से सभी दिशाएँ गुंजायमान रहती थीं। गौतमवंशीय महर्षि अरुण के पुत्र उद्दालक ऋषि ने विश्वजित् नामक यज्ञ किया व अपना सारा धन ऋत्विजों आदि को दक्षिणा में प्रदान किया। उस समय गोधन को भी प्रमुख धन माना जाता था, तो नियमानुसार ऋत्विजों को गोदान करने का भी विधान था। जब दान करने हेतु गायों को लाया जा रहा था, उस समय उद्दालक जी के पुत्र नचिकेता ने कहा– ''ऐसी गायें, जो वृद्ध हो चुकी हैं एवं जिनका अन्तिम बार दूध दुह लिया गया है; उनको दान करने से क्या लाभ? ये गायें दान प्राप्त करने वालों को दु:ख के अतिरिक्त क्या दे सकती हैं? आपको ऐसा दान करने से क्या कभी भी पुण्य प्राप्त होगा? इसलिए आपको अपनी कोई प्रिय वस्तु दान में देनी चाहिए। पिता को सर्वाधिक प्रिय अपना पुत्र होता है, तो आप मुझे ही किसी को दे दीजिए।'' इस प्रकार के वचन बोलकर नचिकेता अपने पिता से हठ करने लगा कि वह उसे किसी को दे दें। अत्यधिक हठ करने पर उन्होंने नचिकेता को कहा– ''मैं तुम्हें मृत्यु (यमराज) को दूँगा।'' नचिकेता ने अपने कुल की सत्यता की सौगन्ध देते हुए अपने पिता को कहा कि– ''वे आवेश में उनके मुख से निकले वचन को भी सत्य करने हेतु तत्पर हैं।'' ऐसा संकल्प करके वह मृत्यु हेतु हठ करने लगा। अत्यन्त दु:खी होकर उद्दालक ने अपने पुत्र को यमराज के पास भेजा। यमराज छोटे बालक का हठ जानकर उसे टालते रहे, किन्तु नचिकेता तीन दिन तक अन्न-जल ग्रहण किए बिना यमराज की प्रतीक्षा करता रहा।

इस प्रकार, अन्त में; यमराज को बालक के सम्मुख उपस्थित होकर उसकी इच्छा पूर्ण करनी पड़ी। यमराज ने नचिकेता को अनेक विषय-भोगों का प्रलोभन देते हुए लौट जाने को

कहा, किन्तु नचिकेता के अडिग रहने पर उन्होंने नचिकेता को ब्रह्मविद्या (उपनिषदों के लक्ष्य) का उपदेश दिया। अपने उपदेश में उन्होंने ब्रह्मविद्या के साधन का मूल आधार इन्द्रिय-निरोध को ही माना। यहाँ पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इन्द्रिय-निरोध को प्रत्याहार के अभ्यास से ही सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु यदि साधक उसमें स्थायी रूप से स्थित नहीं रहेगा, तो पुन: इन्द्रियों के विषयों में भटकने का पूरा भय बना रहता है। इसलिए इन्द्रिय-निरोध को कैवल्यपर्यन्त बनाये रखने हेतु धारणा इन्द्रिय-निरोध को स्थायित्व प्रदान करता है। इसके अभाव में समाधि व तत्पश्चात् कैवल्य का प्रश्न ही नहीं उठता। यमराज द्वारा नचिकेता को उपदिष्ट ब्रह्मविद्या के साररूप इन्द्रिय-निरोध के सिद्ध होने तथा उसमें स्थायित्व को निम्न उद्धरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयो रस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीर्षिणः।।[१२]

उपर्युक्त श्लोकों में यमराज नचिकेता को आत्मज्ञान की ओर उन्मुख होने के मार्ग के रूप में प्रत्याहार को समझाते हुए कहते हैं– ''तू आत्मा को रथी जान, शरीर को रथ समझ, बुद्धि को सारथि जान और मन को चाबुक समझ। इन्द्रियाँ वे घोड़े हैं, जो अपनी इच्छानुसार भोगों की ओर भागते रहते हैं। इन्हें नियन्त्रित करने के लिए इन पर मन रूपी लगाम को लगाना चाहिए, जिससे ये निश्चित मार्ग पर ही चल सकें।'' इस प्रकार, यहाँ भी आत्मज्ञान हेतु सर्वप्रथम इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक बताया गया है। जिस प्रकार रथ के घोड़े सारथी के द्वारा चाबुक का प्रयोग न किये जाने पर दिशाविहीन होकर इधर-उधर चलते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मन के नियन्त्रण के अभाव में विषय-भोगों की ओर भागती रहती हैं।

यदि गहनता से विचार किया जाए, तो स्पष्ट होता है कि यदि हमने इन्द्रियों को घोड़ों के समान कुछ समय तक नियत पथ पर अपने निर्देशन के अनुसार चलाया; किन्तु फिर उस निर्देशन को बनाने में अक्षम हो गये, तो पुन: वे दिशाविहीन होकर विपरीत दिशाओं में भागने लगेंगे। इस निर्देशन में नैरन्तर्य आवश्यक है। इस प्रकार, इन्द्रियों को भीतर की ओर आहरित करना प्रत्याहार का कार्य है; किन्तु उसमें नैरन्तर्य हेतु धारणा आवश्यक है। बाह्य विषयों की ओर इन्द्रियों के भागने पर आत्मज्ञान सम्भव नहीं है। अन्यत्र इन्द्रिय-निरोध को इस प्रकार उपदिष्ट है–

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।।[१३]

अर्थात् जिसकी बुद्धि सदा ही विवेक से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान से रहित और मन को वश में रखने में असमर्थ रहती है, जिसका मन निग्रहरहित अर्थात् असंयत है और जिसका विचार दूषित रहता है तथा जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचार में प्रवृत्त रहती हैं– ऐसे बुद्धिशक्ति से रहित मन-इन्द्रियों के वश में रहने वाले मनुष्य का जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता और इसलिए वह मानव शरीर से प्राप्त होने योग्य परमपद को नहीं पा सकता। जो सदा विवेकशील बुद्धि से युक्त, संयतचित्त और पवित्र रहता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुन: जन्म नहीं लेता। यदि हम योगाभ्यास के दृष्टिकोण से विचार करें, तो संयम स्थिरचित्त हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकता एवं इसके लिए प्रत्याहार के साथ ही धारणा का अभ्यास भी अत्यन्त आवश्यक

है। यह अभ्यास ही समाधि के उपरान्त कैवल्य के रूप में फलीभूत होती है। निम्न उद्धरण में यह तथ्य स्पष्ट होता है–

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।[१४]

उपर्युक्त उपदेश के द्वारा यमराज नचिकेता को इन्द्रिय-निरोध व उसमें चिरस्थायित्व के फल को मुक्ति के रूप में निर्देशित करते हैं। उनके अनुसार, जो व्यक्ति स्वयं सावधान होकर अपनी बुद्धि को निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मन को रोककर पवित्रभाव में स्थित रहता है, अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा भगवान् के आज्ञानुसार पवित्रभाव से कर्मों का आचरण करता है तथा भगवान् को अर्पण किये हुए भोगों का राग-द्वेष रहित होकर, निष्काम भाव से, मात्र शरीर-निर्वाह के लिए उपभोग करता है; उसकी इन्द्रियाँ व मन विषयों की ओर नहीं भागते। ऐसे ही व्यक्ति शुद्ध आचरण व व्यवहार-युक्त भी होते हैं। वासनाओं के प्रभाव से बचने हेतु व्यक्ति को इन्द्रिय-निरोध की आवश्यकता है। योगदर्शन में इन्द्रिय-निरोध हेतु प्रत्याहार का अभ्यास अनिवार्य बताया गया है। इसके साथ ही; यदि इन्द्रिय-निरोध को समाधिपर्यन्त बनाये रखना है, तो धारणा आवश्यक है।

कठोपनिषद् में ही अन्यत्र प्राप्त एक रोचक उपदेश की ओर बढ़ते हैं; जिसमें इन्द्रियों की बहिर्मुखता को ही आत्मदर्शन में विघ्न के रूप में उल्लिखित किया गया है। नचिकेता को उपदेश देते हुए यमराज इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को मोक्षमार्ग में आने वाली बाधा व इन्द्रिय-निरोध को मोक्षमार्ग हेतु साधनरूप में इस प्रकार बताते हैं–

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः तस्मात्परांग पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैषदावृत्तचक्षुर मृतत्वमिच्छन्।।[१५]

उपर्युक्त श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि स्वयम्भू ने समस्त इन्द्रियों के द्वार बाहर की ओर जाने वाले ही बनाये हैं, इसलिए मनुष्य बाहर की वस्तुओं को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। किसी बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरत्व की इच्छा करते हुए चक्षु आदि इन्द्रियों को रोककर अन्तरात्मा को देखा है। मानव द्वारा पंच ज्ञानेन्द्रियों का प्रयोग बाह्य विषयों की ज्ञान-प्राप्ति हेतु किया जाता है। इन्द्रियाँ नित्य विषयों की ओर ही प्रवृत्त रहती हैं, जिससे प्रत्येक इन्द्रिय से सम्बन्धित विषय की लालसा व तज्जनित भौतिक सुख की इच्छा निरन्तर बनी रहती है। यही वासनाजनित भौतिक सुख नित्य ही व्यक्ति को अन्तर्मुखी होने से रोकता है। इस प्रकार की इच्छा का आत्मज्ञान से सर्वाधिक विरोध है; अर्थात् जब तक मानव की इन्द्रियाँ मात्र इन्द्रियों के माध्यम से भोगे जाने वाले भौतिक सुख की ओर भागती रहेंगी; तब तक उसे आत्मज्ञान प्राप्त होना असम्भव है। इस प्रकार से, उपर्युक्त उपदेश के माध्यम से यमराज ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर करके, अन्तर्मुखी करते हुए इन्द्रिय-निरोध तथा इस स्थिति में नैरन्तर्य की महती आवश्यकता है। चूँकि यदि मानव नित्य वासनाओं में उलझा रहेगा, तो तत्सम्बन्धी विषयों को पूर्णतः भोगने की इच्छा सदैव मृगमरीचिका के समान बनी रहती है, जो कभी भी पूर्ण नहीं होती है। परिणामस्वरूप; आत्मज्ञान का होना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार, व्यक्ति आत्मज्ञान के लिए स्वयं को तैयार ही नहीं कर पाता व भौतिक लिप्साओं के होते हुए भी अतृप्तता व मिथ्या सुख में भटकता रहता है। बाह्य विषयों में भटकते रहने वाली इन्द्रियाँ सभी पदार्थों में चेतना का वाहन करने वाली अन्तरात्मा को नहीं जान

पातीं। यदि आत्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना है; तो इन्द्रियों को विषयों से निरुद्ध करके उनका स्वभाव अन्तर्मुखी करना आवश्यक है। इस हेतु ही आत्मज्ञान की प्राथमिक आवश्यकता के रूप में मनुष्य द्वारा इन्द्रिय-निरोध तथा उसमें स्थैर्य हेतु प्रत्याहार एवं धारणा का अभ्यास आवश्यक है। पौराणिक कथाओं में ऐसा प्रसंग मिलता है कि अष्ट-वक्र ने भी राजा जनक को आत्मज्ञान की शिक्षा देते हुए उन्हें मुक्ति-प्राप्ति हेतु विषयों को विष के समान त्याग देने की शिक्षा दी थी।

उपनिषदों में मुक्ति के लिए ब्रह्मविद्या को आवश्यक बताया गया है। ब्रह्मविद्या के साधनों को निर्देशित करते हुए 'केनोपनिषद्' में 'रहस्यमयी ब्रह्मविद्या के तीन साधन'[१६] निर्देशित किये गये हैं– तप, दम (इन्द्रिय-निग्रह) एवं कर्म। इस प्रकार, वेद और उसके सम्पूर्ण अंग ये प्रतिष्ठा हैं एवं सत्य आयतन है। यहाँ गुरु द्वारा कहा गया है कि इन तीनों साधनों को वेद व वेदांग के मार्ग पर चलकर ही प्राप्त किया जा सकता है। ब्रह्म को जान लेने मात्र से कुछ नहीं होता; अपितु इन तीनों साधनों से उसे प्राप्त किया जा सकता है–

पंचस्रोतोऽम्बुं पंचयोन्युग्रवक्रां पंचप्राणोर्मिं पंचबुद्ध्यादिमूलाम्।
पंचावर्तां पंचदुःखौघवेगां पंचाशद्भेदां पंचपर्वामधीमः।।[१७]

संसार का ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही होता है। इन्हीं में से होकर संसार का प्रवाह बहता है। इसीलिए इन्द्रियों को यहाँ 'स्रोत' कहा गया है। ये इन्द्रियाँ पंच सूक्ष्मभूतों (तन्मात्राओं) से उत्पन्न हुई हैं, इसीलिए इस नदी के पाँच उद्गमस्थान माने गये हैं। इस नदी का प्रवाह बड़ा ही भयंकर है। इसमें गिर जाने से बार-बार जन्म-मृत्यु का क्लेश उठाना पड़ता है। संसार की चाल बड़ी कपट भरी है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होने वाले चाक्षुष आदि पाँच प्रकार के ज्ञानों का आदिकारण मन है। जितने भी ज्ञान हैं, सब मन की ही तो वृत्तियाँ हैं। मन न हो, तो इन्द्रियों के सचेष्ट रहने पर भी किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। यह मन ही संसाररूप नदी का मूल है। मन से संसार की सृष्टि होती है। सारा जगत् मन की ही कल्पना है। इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय ही इस संसाररूप नदी के आवर्त अर्थात् भँवर हैं। इन्हीं में फँसकर जीव जन्म-मृत्यु में उलझ जाता है। गर्भ, जन्म, बुढ़ापा, रोग व मृत्यु– ये पाँचों दुःख इसी नदी के प्रवाह में वेगरूप हैं। इन्हीं के कारण मानव व्याकुल रहता है, अनेक योनियों में भटकता है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– ये पाँचों क्लेश हैं। इन्ही पाँच विभागों में यह जगत् बँटा हुआ है। इन पाँचों का समुदाय संसार का स्वरूप है और अन्तःकरण की वृत्तियाँ ही इस नदी के पचास भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्तःकरण की वृत्तियों को लेकर ही संसार में भेद की प्रतीति है।

उल्लेखनीय है कि 'जाबालदर्शनोपनिषद्' में एक रोचक प्रसंग मिलता है कि जब भगवान् विष्णु दत्तात्रेय के रूप में अवतरित हुए; उनके शिष्य सांकृति ने उनसे योग के आठों अंगों का ज्ञान प्राप्त करने हेतु अनुरोध किया। दत्तात्रेय जी ने योग के आठ अंगों का उपदेश दिया। इस उपनिषद् के सप्तम् एवं अष्टम् अध्याय में योग के प्रत्याहार एवं धारणा अंगों का महत्त्व बताया। प्रत्याहार का उपदेश देते हुए वे कहते हैं– ''विषयों से स्वभावतः विचरने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक वहाँ से लौटा लाने की प्रक्रिया प्रत्याहार कहलाती है। विद्वान् पुरुष एकाग्रचित्त होकर, देह से आत्मबुद्धि को हटाकर, उसे स्वयं ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्पस्वरूप अपनी आत्मा में स्थापित करें। प्रत्याहार करने वाले साधक हेतु कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।''[१८] इसके अतिरिक्त; धारणा का उपदेश देते हुए पहले दत्तात्रेय द्वारा उसकी विधियों का वर्णन किया गया है; विस्तृत विषय और विषयान्तर होने के कारण उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा रहा है। यहाँ इतना

उल्लेख ही प्रासंगिक है कि जाबालदर्शनोपनिषद् में ही ऐसा विवेचन प्राप्त होता है कि ''धारणा के अन्तर्गत साधक बोधमय, आनन्दमय एवं कल्याणमय परमात्मा को ही प्रतिदिन धारणा करे। इससे सब पापों की शुद्धि होती है; जिसके लिए मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाकर आत्मा में संयुक्त करना चाहिए।''[१९]

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि उपनिषद्-दर्शन साधना के मूल में इन्द्रिय-निरोध को सिद्ध करते हुए इसमें स्थैर्य बनाये रखने का निर्देश देता है। योगदर्शन इन्द्रिय-निरोध की सिद्धि हेतु प्रत्याहार एवं इसमें स्थैर्य हेतु धारणा को आवश्यक बताता है। इस प्रकार, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रत्याहार एवं धारणा को साधना के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ के रूप में निर्देशित किया गया है।

सन्दर्भ-सूची

१. महर्षि पतंजलि– पातंजलयोगसूत्र, ३/७, कैवल्यधाम, श्रीमन्माधव योग मन्दिर समिति, लोनावाला, पुणे, १९९८, पृष्ठ १४
२. उपर्युक्त, ३/८
३. उपर्युक्त, २/५४, पृष्ठ १३
४. उपर्युक्त, १/२, पृष्ठ ०१
५. उपर्युक्त, २/५५, पृष्ठ १३
६. उपर्युक्त, ३/१, पृष्ठ १४
७. केसरीनंदन सहाय– मानव के परा-त्रिआयामीतत्त्व, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६, पृष्ठ ४०
८. केसरीनन्दन सहाय– मानव के परा-त्रिआयामीतत्त्व, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६, पृष्ठ १२६
९. मनु– मनुस्मृति, २/९३, व्याख्याकार शिवराज आचार्य कौडिन्यायन, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, २००८, पृष्ठ ११३
१०. केनोपनिषद्– शान्तिपाठ, उपनिषद् अंक, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०६८, पृष्ठ १७४
११. उपर्युक्त, ४/८ पृष्ठ १९०
१२. कठोपनिषद्, १/३/३-४, उपनिषद् अंक, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०६८, पृष्ठ २१५-१६
१३. उपर्युक्त, १/३/७, पृष्ठ २१७
१४. उपर्युक्त, १/३/८, पृष्ठ २१७
१५. उपर्युक्त, २/१/१, पृष्ठ २२२
१६. केनोपनिषद्– ४/८, उपनिषद् अंक, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०६८, पृष्ठ १९०
१७. श्वेताश्वतरोपनिषद्– १/५, उपनिषद् अंक, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०६८, पृष्ठ ३७२
१८. जाबालदर्शनोपनिषद्– ७/१-१४, उपनिषद् अंक, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, सम्वत् २०६८, पृष्ठ ७३२
१९. उपर्युक्त, ८/१-९

●

महात्मा गाँधी का सर्वोदय अर्थ-दर्शन

डॉ. मनोज कुमार सिंह*

शोध-सार– गाँधी जी एक व्यावहारिक विचारक हैं। उन्होंने मानव के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक पक्षों का समग्र रूप से एवं व्यवहारपरक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसी पृष्ठभूमि में उनके आर्थिक विचार को भी समग्रता में समझा जा सकता है। वस्तुत: गाँधी जी मात्र एक आध्यात्मिक विचारक ही नहीं, अपितु एक समष्टिवादी अर्थशास्त्री भी थे। उनके आर्थिक चिन्तन के मूल में भारतीयता एवं आध्यात्मिकता के तत्त्व विद्यमान रहे हैं। उनमा मानना था कि ''पश्चिम के अर्थशास्त्र की बुनियाद ही गलत दृष्टि-बिन्दुओं पर है..... इसलिए वह अर्थशास्त्र नहीं; अनर्थशास्त्र है, क्योंकि उसकी शिक्षा गलत है..... उसके दावे झूठे हैं, वह मनुष्य की ही उपेक्षा करता है।''[१] गाँधी जी का आर्थिक चिन्तन भारतीय परम्परा से इस अर्थ में अनुप्रमाणित है कि यह स्वीकार करता है कि अर्थ मानव-जीवन का अन्तिम उद्देश्य नहीं है। उन्होंने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र का अंग माना है। वे अर्थशास्त्र का विवेचन मानव को केन्द्र में रखकर करते हैं।

शोध-पत्र का उद्देश्य– मेरे इस शोध-पत्र का उद्देश्य गाँधी जी के समष्टिवादी सर्वोदय अर्थ– दर्शन को समग्रता में समझना तथा समाज पर उसके प्रभाव को उद्घाटित करना है। उन्होंने स्वयं के अर्थ-दर्शन के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि ''मेरी राय में न सिर्फ भारत की, बल्कि सारी दुनिया की अर्थ-रचना ऐसी होनी चाहिए कि किसी को अन्न और वस्त्र के अभाव की तकलीफ न सहनी पड़े। दूसरे शब्दों में– हर एक को इतना काम अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने खाने-पीने की जरूरतें पूरी कर सके और यह आदर्श निरपवाद रूप से तभी कार्यान्वित किया जा सकता है, जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के साधन जनता के नियन्त्रण में रहें। वे हर एक को बिना किसी बाधा के उसी तरह उपलब्ध होने चाहिए, जिस तरह भगवान् की दी हुई हवा और पानी हमें उपलब्ध हैं। किसी भी हालत में वे दूसरों के शोषण के लिए चलाये जाने वाले व्यापार का वाहक न बनें। किसी भी देश, राष्ट्र या समुदाय का उन पर अधिकार अन्यायपूर्ण होगा। हम आज न केवल अपने इस दु:खी देश में, बल्कि दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी जो गरीबी देखते हैं, उसका कारण इस सरल सिद्धान्त की उपेक्षा ही है।''[२] गाँधी जी ने सत्य व अहिंसा पर आधारित एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था की कल्पना की है, जहाँ सभी का जीवन स्वावलम्बी तथा प्रतिष्ठापूर्ण हो और उपभोग तथा उत्पादन की शक्तियों में सामंजस्य का अभाव न हो।

बीज-शब्द– सर्वोदय, समष्टिवादी अर्थशास्त्र, ट्रष्टीशिप, सत्य एवं अहिंसा, नैतिक मूल्य, अपरिग्रह।

मूल आलेख– गाँधी जी ऐसे अर्थशास्त्र की वकालत करते हैं, जिसके बुनियाद में धर्म हो। वे कहते हैं– ''जिस तरह सच्चे नीति-धर्म में और अच्छे अर्थशास्त्र में कोई विरोध नहीं होता, उसी तरह सच्चा अर्थशास्त्र कभी भी नीति-धर्म के, ऊँचे-से-ऊँचे आदर्श का विरोधी नहीं होता। जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और बलवानों को दुर्बलों का शोषण करके धन-संग्रह करने की सुविधा देता है, उसे शास्त्र का नाम नहीं दिया जा सकता। वह तो एक झूठी चीज

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– दर्शनशास्त्र विभाग, वसंत कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी, उ.प्र.

है, जिससे हमें कोई लाभ नहीं हो सकता। उसे अपनाकर हम मृत्यु को न्योता देंगे। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय की हिमायत करता है। वह समान भाव से सबकी भलाई का– जिनमें कमजोरी भी शामिल है– प्रयत्न करता है और वह सभ्यजनोचित सुन्दर जीवन के लिए अनिवार्य है।''[३]

वस्तुत: गाँधी जी का आर्थिक चिन्तन सत्य व अहिंसा पर आधारित एक समग्र चिन्तन है, जिसमें उन्होंने समानता पर बल दिया है। उनका कहना है कि, ''आर्थिक समानता के लिए काम करने का मतलब है– पूँजी और मजदूरी के बीच झगड़ों को हमेशा के लिए मिटा देना। इसका अर्थ यह होता है कि एक ओर से जिन मुट्ठीभर पैसे वाले लोगों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति को कम करना और दूसरी ओर से जो करोड़ों लोग आधे पेट खाते हैं और नंगे रहते हैं, उनकी सम्पत्ति में वृद्धि करना। जब तक मुट्ठी भर धनवानों और करोड़ों भूखे रहने वालों के बीच का बेइन्तहा अन्तर बना रहेगा, तब तक अहिंसा की बुनियाद पर चलने वाली राज्य व्यवस्था कायम नहीं हो सकती। आजाद हिन्दुस्तान में देश के बड़े-से-बड़े धनवानों के हाथ में हुकूमत का जितना हिस्सा रहेगा, उतना ही गरीबों के हाथ में भी होगा और तब नयी दिल्ली के महलों और उनके बगल में बसी हुई गरीब-मजदूर बस्तियों के टूटे-फूटे झोपड़ों के बीच जो दर्दनाक फर्क आज नजर आता है, वह एक दिन को भी नहीं टिकेगा। अगर धनवान लोग अपने धन को और उससे मिलने वाली सत्ता को खुद राजी-खुशी से छोड़कर और सबके कल्याण के लिए, सबके साथ मिलकर बाँटने को तैयार न होंगे, तो यह तय समझिये कि हमारे देश में हिंसक और खूंखार क्रान्ति हुए बिना नहीं रहेगी।''[४]

गाँधी जी का मन्तव्य है कि सबके पास इतनी सम्पत्ति होनी चाहिए कि वे अपनी कुदरती आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। अहिंसक समाज की रचना इसी आधार पर होनी चाहिए। यद्यपि कि पूर्ण आदर्श को चरितार्थ करना सम्भव नहीं है, तो भी इसे नजर में रखकर व्यवस्था की जानी चाहिए। इस आर्थिक समानता के धर्म का पालन एक अकेला व्यक्ति भी कर सकता है, अर्थात् आर्थिक समानता का पालन वैयक्तिक रूप से भी किया जाना चाहिए।

गाँधी जी का अर्थशास्त्र सर्वोदय का अर्थशास्त्र है, जिसे वे नीतिशास्त्र से अलग नहीं मानते। उनके अनुसार– ''मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं करता हूँ। जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति अथवा राष्ट्र के कल्याण में बाधा डालता है, वह अनैतिक है और इसलिए पापपूर्ण है। जो अर्थशास्त्र अनुमति देता है कि एक देश दूसरे देश को लूट ले, वह अनैतिक है। मैं अमेरिकी गेहूँ खाऊँ और पड़ोसी अन्न विक्रेता को ग्राहकों के अभाव में भूखों मरने दूँ– यह पाप है। इसी तरह, मुझे यह भी पापपूर्ण लगता है कि मैं रिजेन्ट स्ट्रीट का बढ़िया कपड़ा पहनूँ, जबकि मैं जानता हूँ कि यदि मैं कात्रिनों और बुनकरों के काते व बुने कपड़े पहनता, तो मुझे तो कपड़ा मिलता ही, उन लोगों को भोजन भी मिलता, कपड़ा भी।''[५]

सर्वोदय अर्थशास्त्र वस्तुत: एक सर्वांगीण व परिपक्व अर्थ-दर्शन है, जो यह मानता है कि मनुष्य मूलत: अच्छा होता है, किन्तु समय-समय पर उसमें परिस्थितिजन्य विकार आ जाते हैं, जिनका अहिंसक उपायों द्वारा निराकरण सम्भव है। यह व्यक्तिगत उन्नति एवं सामाजिक समृद्धि में विरोध नहीं मानता। यह कल्याणमय समाज के सृजन का लक्ष्य रखता है। गाँधी जी के अनुसार– ''मैं इस राय के साथ नि:संकोच अपनी सम्मति जाहिर करता हूँ कि आम तौर पर धनवान– केवल धनवान ही क्यों, बल्कि ज्यादातर लोग– इस बात पर विशेष विचार नहीं करते कि वे पैसा किस तरह कमाते हैं? अहिंसक उपाय का प्रयोग करते हुए, यह विश्वास तो होना ही चाहिए कि कोई

आदमी कितना ही पतित क्यों न हो, यदि उसका इलाज कुशलतापूर्वक और सहानुभूति के साथ किया जाए, तो उसे सुधारा जा सकता है। हमें मनुष्यों में रहने वाले दैवी अंश को प्रभावित करना चाहिए और अपेक्षा करनी चाहिए कि उसका अनुकूल परिणाम निकलेगा। यदि समाज का हर एक सदस्य अपनी शक्तियों का उपयोग वैयक्तिक स्वार्थ साधने के लिए नहीं, बल्कि सबके कल्याण के लिए करे, तो क्या इस समाज की सुख-समृद्धि में वृद्धि नहीं होगी? हम ऐसी जड़ समानता का निर्माण नहीं करना चाहते, जिसमें कोई आदमी योग्यताओं का पूरा-पूरा उपयोग कर ही न सके। ऐसा समाज अन्त में नष्ट हुए बिना नहीं रह सकता। इसलिए मेरा यह मत है कि धनवान लोग चाहे करोड़ों रुपये कमाएँ (बेशक ईमानदारी से), लेकिन उनका उद्देश्य वह सारा पैसा सबके कल्याण में समर्पित कर देने का होना चाहिए। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'– इस मन्त्र में असाधारण ज्ञान भरा पड़ा है। मौजूदा जीवन-पद्धति की जगह, जिसमें हर एक आदमी पड़ोसी की परवाह किए बिना केवल अपने ही लिए जीता है, सर्व-कल्याणकारी नयी जीवन-पद्धति का विकास करना हो, तो उसका सबसे निश्चित मार्ग यही है।''[६]

आधुनिक आर्थिक परिवेश का मूल तत्त्व है– आवश्यकताओं तथा उपभोग की निरन्तर वृद्धि। किन्तु सर्वोदय अर्थशास्त्र आवश्यकताओं की निर्बाध वृद्धि का विरोध करता है। यह 'सादा जीवन उच्च विचार' पर बल देता है एवं आवश्यकताओं को विवेक-संगत रूप से नियन्त्रित करने की वकालत करता है। गाँधी जी का कथन है– ''जिस क्षण मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं में वृद्धि करना चाहता है, उसी क्षण वह 'सरल जीवन उच्च विचार' के आदर्श के पालन से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। मनुष्य का सुख वस्तुत: सन्तोष में निहित है। जो असन्तुष्ट रहता है, वह अपनी कामनाओं का दास बन जाता है। सभी सन्तों ने उच्च स्वर में घोषित किया है कि मनुष्य अपना निकृष्टतम शत्रु भी बन सकता है और उत्कृष्टतम मित्र भी। स्वतन्त्र रहना या दास बन जाना उसकी अपनी मुट्ठी में है।''[७]

''मैं साहसपूर्वक यह कहता हूँ कि जिनके वे गुलाम बनते चले जा रहे हैं, उन सुख-साधनों से दबकर यदि यूरोपवासी नष्ट नहीं होना चाहते, तो उन्हें अपने दृष्टिकोण को नया रूप देना होगा। हो सकता है कि मेरी यह धारणा गलत हो, किन्तु मैं जानता हूँ कि 'धन की लूट' के पीछे भागना भारत के लिए तो निश्चित मृत्यु का वरण करना है। एक पश्चिमी दार्शनिक का आदर्श वाक्य– 'सरल जीवन एवं उच्च विचार'– हमें हृदयंगम कर लेना चाहिए और यह भी कि यह निश्चय है कि आज करोड़ों व्यक्ति उच्चस्तरीय जीवन नहीं बिता सकते और जो सामान्य जनता के लिए चिन्तन का दावा करते हैं, उन थोड़े से लोगों के लिए यह खतरा है कि उच्च स्तरीय जीवन की वृथा खोज के पीछे भटक कर वे कहीं उच्च विचारों से भी हाथ न धो बैठें।''[८]

गाँधी जी द्वारा आवश्यकताओं के नियन्त्रण के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि लोग सन्तों-वैरागियों जैसा जीवन व्यतीत करें। अपितु इसका अर्थ है कि भौतिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक लिप्सा में हम अपने जीवन के वास्तविक लक्ष्य को न भूल जाएँ। उनके अनुसार– ''मानव-शरीर का एकमात्र उद्देश्य सेवा है, भोग कदापि नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में है। त्याग ही जीवन है। भोग का अर्थ तो मृत्यु है।''[९]

मानवता, आध्यात्मिकता, अहिंसा तथा समता से अनुप्रमाणित कल्याणकारी समाज के निर्माण के लिए ही गाँधी जी ने ट्रस्टीशिप (न्यासिता) के आर्थिक-सामाजिक सिद्धान्त को प्रस्तुत किया।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त– गाँधी जी की मान्यता थी कि प्रत्येक वस्तु ईश्वरीय सम्पत्ति है, इसलिए वह सम्पूर्ण मानवता की थाती है, किसी विशेष व्यक्ति की नहीं। यदि किसी के पास आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्र हो जाए, तो उसे स्वयं को ट्रस्टी समझना चाहिये व अतिरिक्त सम्पत्ति का सदुपयोग लोक-कल्याणार्थ करना चाहिये। ट्रस्टीशिप की अवधारणा के संकेत 'ईशोपनिषद्' में मिलते हैं– **तेन व्यक्तेन भुंजीथाः मा गृद्धः कस्यस्विद्धनम्।।** १।। अर्थात् त्याग से ही सम्पत्ति का वास्तविक आनन्द लिया जा सकता है, न कि आसक्तिपूर्ण लोभ या लालसा से।

गाँधी जी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा अहिंसा, समता व अपरिग्रह पर आधारित है। आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा उत्पादन, वितरण तथा उपभोग में अत्यधिक विषमता के अभाव के रूप में प्रकट होती है। किसी का आर्थिक शोषण न करना या आर्थिक कष्ट न पहुँचाना अहिंसा है।

अहिंसा, अपरिग्रह तथा समानता परस्पर सम्बद्ध संकल्पनाएँ हैं। गाँधी जी इसे निम्न रूप से स्पष्ट करते हैं– ''रोज काम भर का भोजन पैदा करने के नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। अत: जगत् में विषमता और उससे होने वाले दु:ख भोगते हैं। धनी के घर उसके लिए अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते रहते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता का संग्रह करें, तो किसी की भी तंगी न हो और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों ही तंगी का अनुभव करते हैं। जहाँ करोड़पति अरबपति होने को छटपटाता है, उसे सन्तोष नहीं रहता, वहीं कंगाल करोड़पति होना चाहता है, उसे पेट भरने से ही सन्तोष होता दिखाई नहीं देता। परन्तु कंगाल को पेट भर पाने का अधिकार है और समाज का धर्म है कि उसे इतना प्राप्त करा दे। अत: उसके और अपने सन्तोष के लिए शुरूआत धनी को करनी चाहिए। वह अपना अत्यन्त परिग्रह त्याग दे, तो दरिद्र को काम भर सहज में मिल जाए और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक सीखें। सच्चे सुधारक का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसको घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सन्तोष बढ़ जाता है, सेवाशक्ति बढ़ती है। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है, त्यों-त्यों सुखी और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है।''[१०]

गाँधी जी आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर वृद्धि को समस्त अनर्थों की जननी मानते हैं। उनका मानना है कि मनुष्य को अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओं की व्यवस्था ऐसे करनी चाहिए कि वे मानव-सेवा में बाधक न बनें। मनुष्य की शक्तियों का उपयोग मानव-सेवा में ही होना चाहिए।

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त उपर्युक्त मूल्यों को अर्जित करने का लक्ष्य रखता है। यह सभी के कल्याण एवं लाभ को सुनिश्चित करने के प्रयास से सम्बन्धित है। यह एक ऐसी व्यावहारिक अवधारणा है, जिसका उपयोग धनिकों की आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति को लोक-कल्याण के लिए प्रयोग करने में किया जा सकेगा एवं एक विषमतारहित, कल्याणपरक सर्वोदय समाज की स्थापना की जा सकेगी। गाँधी जी का मत है कि, ''आर्थिक समानता की जड़ में धनिक का ट्रस्टीशिप निहित है। इस आदर्श के अनुसार, धनिक को अपने पड़ोसी से एक कौड़ी भी ज्यादा रखने का अधिकार नहीं है। तब उसके पास ज्यादा है; क्या छीन लिया जाए? ऐसा करने के लिए हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा और हिंसा द्वारा ऐसा करना सम्भव हो, तो समाज को उससे कुछ फायदा होने वाला नहीं है, क्योंकि द्रव्य इकट्ठा करने की शक्ति रखने वाले एक आदमी की शक्ति को

समाज खो बैठेगा। इसलिए अहिंसक मार्ग यह हुआ कि जितनी मान्य हो सके, उतनी अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो पैसे बाकी बचें, उसका वह प्रजा की ओर से ट्रस्टी बन जाए। अगर वह प्रामाणिकता से संरक्षक बनेगा, तो जो पैसा पैदा करेगा, उसका सद्व्यय भी करेगा। जब मनुष्य अपने आपको समाज का सेवक मानेगा, समाज की खातिर धन कमायेगा, समाज के कल्याण के लिए उसे खर्च करेगा, तब उसकी कमाई में शुद्धता आयेगी। उसके साहस में भी अहिंसा होगी। इसी प्रकार की कार्य-प्रणाली का आयोजन किया जाए, तो समाज में बगैर संघर्ष के एक क्रान्ति पैदा हो सकती है।''[११]

वे पुन: कहते हैं कि, ''आप कह सकते हैं कि ट्रस्टीशिप तो कानून-शास्त्र की एक कल्पना मात्र है, व्यवहार में उसका कहीं कोई अस्तित्त्व दिखायी नहीं पड़ता। लेकिन यदि लोग उस पर सतत् विचार करें और उसे आचरण में उतारने की कोशिश भी करते रहें, तो मनुष्य-जाति के जीवन की नियामक शक्ति के रूप में प्रेम आज जितना प्रभावशाली दिखायी देता है, उससे कहीं अधिक दिखायी पड़ेगा। बेशक, पूर्ण ट्रस्टीशिप तो युक्लिड की बिन्दु की व्याख्या की तरह एक कल्पना ही है और उतनी ही अप्राप्य भी है। लेकिन यदि उसके लिए कोशिश की जाए, तो दुनिया में समानता की स्थापना की दिशा में हम दूसरे किसी उपाए से जितनी दूर जा सकते हैं, उसके बजाए इस उपाय से ज्यादा दूर तक जा सकेंगे। मेरा दृढ़ निश्चय है कि यदि राज्य ने पूँजीवाद को हिंसा के द्वारा दबाने की कोशिश की, तो वह खुद ही हिंसा के जाल में फँस जायेगा और फिर कभी भी अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा। राज्य हिंसा का एक केन्द्रीय और संघटित रूप ही है। व्यक्ति में आत्मा होती है, परन्तु चूँकि राज्य एक जड़ यन्त्रमात्र है, इसलिए उसे हिंसा से कभी नहीं छुड़ाया जा सकता, क्योंकि हिंसा में ही तो उसका जन्म होता है। इसलिए मैं ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को तरहीज देता हूँ। यह डर हमेशा बना रहता है कि कहीं राज्य उन लोगों के खिलाफ, जो इसमें मतभेद रखते हैं, बहुत ज्यादा हिंसा का उपयोग न करें। लोग यदि स्वेच्छा से ट्रस्टियों की तरह व्यवहार करने लगें, तो मुझे सचमुच बहुत खुशी होगी। लेकिन यदि वे ऐसा न करें, तो मेरा ख्याल है कि हमें राज्य के द्वारा भरसक कम हिंसा का आश्रय लेकर उनसे उनकी सम्पत्ति ले लेनी पड़ेगी। व्यक्तिगत तौर पर तो मैं यह चाहूँगा कि राज्य के हाथों में शक्ति का ज्यादा केन्द्रीकरण न हो, उसके बजाए ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार हो, क्योंकि मेरी राय में राज्य की हिंसा की तुलना में वैयक्तिक मालिकी की हिंसा कम हानिकारक है। लेकिन यदि राज्य की मालिकी अनिवार्य ही हो, तो मैं भरसक कम-से-कम राज्य की मालिकी की सिफारिश करूँगा।''[१२]

स्पष्ट है कि गाँधी जी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह अहिंसक मार्ग का वरण कर समाज में आमूल परिवर्तन लाने की दिशा दिखाता है। जब मनुष्य आवश्यकताओं पर विवेकसंगत नियन्त्रण लगाता है तथा आध्यात्मिक उन्नयन की ओर अग्रसर होता है, तो स्वत: ही अपने को स्वामित्व तथा सम्पत्ति से अलग करता जाता है। ट्रस्टीशिप एक ऐसा सिद्धान्त है, जो मानव में अनुशासन, समर्पण व आध्यात्मिकता के अन्त:प्रवेश की कामना करता है। यह मानव को उत्कृष्ट व्यक्ति के रूप में आत्मानुभूति के लिए उत्प्रेरित करता है।

गाँधी जी का मानना है कि प्रकृति के पास हमारी जरूरतों को पूरा करने के लिए प्रचुर संसाधन हैं, लेकिन भोगवादी मानसिकता को तुष्ट करने के लिए वह अपर्याप्त है। यह भोगवादी प्रवृत्ति अधिकाधिक संग्रह की प्रवृत्ति को जन्म देती है, जो व्यक्ति व समाज– दोनों की शान्ति के लिए खतरनाक हो सकती है। अत: संग्रह-वृत्ति का निषेध किया जाना चाहिए। गाँधी जी का कथन है– ''मैं इस धारणा को स्वीकार करता हूँ कि धन की लालसा का त्याग उसके संग्रह व ट्रस्टी बनने की अपेक्षा अधिक बेहतर है। लेकिन उन लोगों के लिए, जिनके पास पहले से ही धन का आधिक्य

है तथा जो अपनी धन-लालसा को छोड़ नहीं पाते, उनके लिए मेरा एकमात्र सुझाव यही होगा कि वे अपने धन को सेवा के लिए समर्पित कर दें।''[१३]

ट्रस्टीशिप आर्थिक शक्ति एवं सम्पत्ति के विकेन्द्रण के लिए एक प्रभावोत्पादक वैकल्पिक तन्त्र प्रस्तुत करता है। इसमें हिंसक संघर्ष के बिना क्रान्ति पैदा करने का तेज निहित है। गाँधी जी का कथन है- ''मेरा ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कोई ऐसी चीज नहीं है, जो काम निकालने के लिए गढ़ लिया गया हो। अपनी मंशा छिपाने के लिए खड़ा किया गया आचरण तो वह हरगिज नहीं है। मेरा विश्वास है कि दूसरे सिद्धान्त जब नहीं रहेंगे, तब भी वह रहेगा। उसके पीछे तत्त्वज्ञान और धर्म के समर्थन का बल है। धन के मालिकों ने इस सिद्धान्त के अनुसार आचरण नहीं किया है, इस बात से यह सिद्ध नहीं होता कि वह सिद्धान्त झूठा है। इससे धन के मालिकों की कमजोरी मात्र सिद्ध होती है। अहिंसा के साथ किसी दूसरे सिद्धान्त का मेल ही नहीं बैठता। अहिंसक मार्ग की खूबी यह है कि अन्यायी यदि अपना अन्याय दूर नहीं करता, तो वह अपना नाश खुद ही कर डालता है, क्योंकि अहिंसक असहयोग के कारण या तो वह अपनी गलती देखने और सुधारने के लिए मजबूर हो जाता है या वह बिल्कुल अकेला पड़ जाता है।''[१४]

यह निर्विवाद है कि घृणा, हिंसा व शोषण के आधार पर किसी भी प्रगतिशील समाज की कल्पना से मार्क्स आदि के वर्ग-संघर्ष जैसे सिद्धान्तों की अपेक्षा गाँधी जी का ट्रस्टीशिप वरेण्य प्रतीत होता है। समाज में शान्ति एवं आर्थिक प्रगति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि मालिक एवं मजदूर के बीच सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो। वे मानते हैं कि मानव-हृदय में प्रेम व सौहार्द्र जाग्रत कर यह सम्भव है।

निष्कर्ष– इस प्रकार त्याग, अपरिग्रह जैसे उदात्त भारतीय नैतिक मूल्यों पर आधारित गाँधी जी का सर्वोदय अर्थ-दर्शन एक अहिंसक, शोषणविहीन एवं समतामूलक सर्वोदय समाज के उपाय के रूप में है। अत: गाँधी जी का सर्वोदय अर्थ-दर्शन वरेण्य प्रतीत होता है, क्योंकि यह वर्ग-संघर्ष, अधिकतम के उत्थान के स्थान पर वर्ग-समन्वय, वर्ग-सहयोग एवं सभी का सभी प्रकार से उत्थान की वकालत करता है। वस्तुत: गाँधी जी 'सर्वे भवंतु सुखिन:' जैसे समष्टिवादी भारतीय सोच में अगाध आस्था रखते थे। उनका मानना था कि समाज में शान्ति एवं प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि सभी के बीच सौहार्द्र हो और मानव-हृदय में एक दूसरे के मध्य प्रेम हो, अर्थ के लिए संघर्ष न हो।

सन्दर्भ-सूची

१. यंग इण्डिया– २६ दिसम्बर, १९२४ २. वही– १५ नवम्बर, १९२८
३. हरिजन– ९ अक्टूबर, १९३८ ४. रचनात्मक कार्यक्रम, पृ. ४०-४१
५. यंग इण्डिया– १३ अक्टूबर, १९२१ ६. हरिजन– १ फरवरी, १९४२
७. वही– १ फरवरी, १९४२ ८. यंग इण्डिया– २९ सितम्बर, १९२१
९. हरिजन– २४ फरवरी, १९४६
१०. गीताबोध– मंगल प्रभात, महात्मा गाँधी, ६ अगस्त १९३०, पृ. ८६-८७
११. हरिजन सेवक– २४ अगस्त, १९४०
१२. सम्पादकीय– मार्डन रिव्यू १९३५, पृ. ४१२
१३. गाँधीयन डॉक्ट्रिन ऑफ ट्रस्टीशिप– सुरिनेनी इंदिरा, नई दिल्ली : डिस्कवरी, १९९१, पृ. ५९
१४. हरिजन– १६ दिसम्बर, १९३९

●

वैदिककालीन शिक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. विजय कुमार गुप्ता*

सारांश : वेदों की रचना से लेकर ब्राह्मणकाल तथा बौद्धकाल तक वैदिककालीन शिक्षा रही। सभी शिक्षण-संस्थाएँ और साधन इस काल में वैदिक धर्म से प्रभावित रहे। सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक मानव संस्कृति के विकास में वैदिक धर्म का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। विश्व-साहित्य में वेदों की रचना सबसे प्राचीन मानी जाती है। 'वेद' के बाद अन्य ग्रन्थों की रचना हुई, जैसे– उपनिषद्, शास्त्र, स्मृतियाँ और पुराण आदि ग्रन्थ वेदों के बाद बने। ये सभी ग्रन्थ वेदों की तुलना में बहुत बाद के हैं। वैदिककालीन शिक्षा को समझने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम वैदिक शिक्षा को समझा जाए।

बीज शब्द– वेद, मानव-कल्याण, प्रकृति, वाणिज्य, आध्यात्मिक, शारीरिक, मानसिक, ज्ञान, बुद्धि, विद्या, शिक्षा इत्यादि।

प्रस्तावना : वेद चार हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद है। 'वेद' शब्द का अर्थ 'ज्ञान' है, जो बहुत ही व्यापक है। इसके अन्तर्गत मानव-विकास की सभी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। मानव के प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के प्रति क्या कर्तव्य हैं, इन सब बातों का 'ज्ञान' वेदों से हो जाता है। वेद स्वत: मानव-जीवन को व्यतीत करने का विधान प्रस्तुत करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त जो सदाचरण मानव को करने चाहिए, उनका ज्ञान वेदों से होता है। मानव-जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रमों में विभक्त किया गया है। मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी गयी है। 'वेद' शिक्षा देते हैं कि व्यक्ति चाहे पुरुष हो या स्त्री, इन चारों आश्रमों के नियमों का पालन करते हुए प्राणी मात्र के कल्याण के लिए सदाचरण करता रहे। वह आत्मिक विकास करते हुए मोक्ष को प्राप्त करके परमानंद प्राप्त करे। इसी से मानव का सर्वांगीण विकास सम्भव है।[१]

वेदों के अनुसार, मानव-जीवन को उपर्युक्त चार आश्रमों में विभक्त किया गया है, परन्तु गृहस्थाश्रम को बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना गया है। गृहस्थाश्रम पर ही अन्य सभी आश्रम निर्भर हैं। गृहस्थाश्रम में रहकर व्यक्ति वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक आदि सभी क्षेत्रों में विकास करता है। व्यक्ति गृहस्थ में रहकर अपनी जाति की वृद्धि करता है। कृषि, वाणिज्य, उद्योग आदि कार्य करके अपनी और समाज की आवश्यकताएँ पूरी करता है। इसी से उसे अर्थ (धन) प्राप्त होता है, जिसका उतना ही महत्त्व है, जितना विद्या, बुद्धि, ज्ञान, आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक शक्ति का जीवन में होता है। वेदों द्वारा मानव को नि:संदेह सभी बातों की शिक्षा मिलती है। वह वेदों के ज्ञान के अनुकूल आचरण करके अपना शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक और कलात्मक– सभी प्रकार का विकास करता है। इस प्रकार 'वेद' सर्वांगीण विकास की प्रेरणा देते हैं।

वेदों से मनुष्य को विभिन्न प्रकार की शक्तियों को संचित करके उन्हें व्यक्ति और समाज के हित में लगाने की प्रेरणा मिलती है। २५ वर्ष तक की आयु ब्रह्मचर्य शक्ति, अर्जुन और शक्ति संचय का ही समय है। इसी शक्ति को पाकर वह कर्तव्य-पालन में सफलता प्राप्त करता है। इसी

* एसोसिएट प्रोफेसर– डिपार्टमेण्ट ऑफ एजुकेशन, सांईनाथ विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड

संचित शक्ति से व्यक्ति गृहस्थाश्रम चलाता है, वानप्रस्थ निभाता है और सन्यास ग्रहण करके विश्व-कल्याण करने में सफल होता है। इसी से वह अपनी सत्ता और अस्तित्व को बनाये रखता है।[२]

मानव-जीवन की श्रेष्ठता अन्य प्राणियों के जीवन की अपेक्षा इसी बात में है कि मानव मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से अन्य प्राणियों से ऊँचा है। मानव इस विकास को तभी ग्रहण करता है, जब वह वेदों द्वारा निर्धारित चारों आश्रमों का पालन करता है।[३] व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में जो ज्ञान, अनुभव और कौशल प्राप्त करता है, वे गृहस्थाश्रम की सफलता में योगदान प्रदान करते हैं।

गृहस्थाश्रम की अनुभूतियाँ और सफलताएँ व्यक्ति को वानप्रस्थ की प्रेरणा देती हैं। इसी प्रेरणा से प्रभावित होकर व्यक्ति सच्चे गुरु के सान्निध्य में रहकर अपना मानसिक और आध्यात्मिक विकास करता है।[४] सन्यास आश्रम तो पूर्णतया मानसिक और आध्यात्मिक विकास का ही काल है, जिससे विश्व के कल्याण की भावना जाग्रत होती है। इस प्रकार, व्यक्ति परोपकार और मोक्ष-प्राप्ति में लीन हो जाता है।[५]

इन सभी बातों से यह स्पष्ट होता है कि वेद मनुष्य को सदाचरण की प्रेरणा देते हैं, कल्याण की भावना भरते हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धारणा पैदा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का लक्ष्य वेदों की प्रेरणा से ही पूरा होता है। व्यक्ति चारों आश्रमों में जीवन व्यतीत करके परमानंद और मोक्ष की प्राप्ति में सफल होता है। इस प्रकार, वेदों के अनुसार पता चलता है कि वैदिक काल में मानव का जीवन-दर्शन क्या था।[६]

'वेद' मानव-धर्म अपनाने की शिक्षा देते हैं। जैसा कि पीछे बताया गया है, 'वेद' का अर्थ ज्ञान है। इसी ज्ञान से व्यक्ति को सदाचरण की प्रेरणा मिलती है। मानव के लिए धर्म के तीन प्रमुख अंग बताए गये हैं– ज्ञान, कर्म और उपासना। वेदों में बताये चारों आश्रमों में से पहला आश्रम, जिसे ब्रह्मचर्य कहते हैं, ज्ञान अर्जित करने का काल है। इस काल में बालक गुरु के आश्रम में प्रवेश लेकर वैदिक ज्ञान अर्जित करता था। गुरु का आश्रम गुरु का परिवार होता था, जिसमें बालक एक परिवार के सदस्य के रूप में रहता था और सभी सामाजिक गुणों को अर्जित करता था। वैदिक काल में बालक गुरु की ब्रह्म सम्बन्धी भावना को पाकर आश्रम-पद्धति से सभी प्रकार के गुणों को ग्रहण करता था। यह काल शक्ति-संचय का काल होता है, जिसमें बालक के संस्कार बनते हैं। बालक सीखता है कि सब कुछ ईश्वरमय है। ईश्वर (ब्रह्म) ही सत्य है, शेष मिथ्या (निस्सार) है। इस प्रकार के संस्कार पाकर बालक भावी जीवन में ब्रह्म-साधना से विचलित नहीं होता। गुरु द्वारा बालक में संस्कार डाले जाते हैं कि वह निष्काम कर्म करे। कर्म धर्म का साधन है। यहाँ कर्म का तात्पर्य आचरण से है। आचरण विनम्र, शिष्ट, परिश्रमयुक्त, सदाचार से पूर्ण और पूर्णतया मानवीय हो– यही ज्ञान यहाँ बालक ग्रहण करता है। बालक को ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति, समाज, विश्व के प्रति कैसा आचरण करना चाहिए, जिससे व्यक्ति, समाज और विश्व का कल्याण हो– यह ज्ञान दिया जाता है। कर्म की श्रेष्ठता से ही व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति में सफल हो सकता है। ज्ञान और कर्म के बाद उपासना को प्रमुख स्थान दिया गया है, तभी व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उपासना का तात्पर्य उस चिन्तन से है, जिसमें प्रकृति और ईश्वर जीवात्मा के रहस्यपूर्ण सम्बन्धों और सत्ताओं को जाना जाता है। इस दुष्कर साधना के लिए व्यक्ति वानप्रस्थ में पुन: (ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद) गुरु के पास दीक्षा के लिए जाता है।[७]

वैदिककालीन शिक्षा वेदों पर आधारित है।[८] इसमें व्यक्ति को लौकिक तथा पारलौकिक– दोनों ज्ञान प्राप्त होते हैं। पारलौकिक ज्ञान द्वारा शिष्यों को बताया जाता है– ब्रह्म सार और सत्य है, संसार निस्सार और मिथ्या है। अतएव शिष्य गुरु के मार्गदर्शन में आध्यात्मिक चिन्तन की ओर आगे बढ़ता है, परन्तु आध्यात्मिक विकास के बिना वैयक्तिक विकास नहीं होता। इसीलिए वैयक्तिक विकास के लिए लौकिक ज्ञान भी आवश्यक है। लौकिक ज्ञान के बल पर ही व्यक्ति कर्मरत होता है। आध्यात्मिक साधना के लिए कर्म मुक्ति है, बंधन नहीं है। कर्म इच्छा नहीं, साधना है और कर्म को कामना नहीं, वरन् कर्तव्य का पूरक माना गया है। इसी कर्म अथवा कर्त्तव्य से व्यक्ति और समाज– दोनों का विकास होता है।[९]

कर्म ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सत्कर्म अथवा सदाचरण आवश्यक है। ये भौतिक परिस्थितियाँ अर्थात् संसार एक प्रयोगशाला है, जहाँ आत्मा के विकास और ईश्वर की प्राप्ति के लिए व्यक्ति कर्म रूपी साधना करता है। हमारा शरीर और भौतिक वस्तु नश्वर है। उनके प्रति मोह रखना ठीक नहीं। इन्हें विकास की दृष्टि से साधन बनाया जा सकता है, परन्तु इनमें रत रहना उपयुक्त नहीं। इसलिए भौतिक आवश्यकताओं को कम करके सादा जीवन व्यतीत करने की इच्छा वेदों से मिलती है। कर्म, धर्म का साधक है, मर्यादाओं से युक्त कर्म एक धार्मिक साधना है। परन्तु कर्म स्वार्थरहित अर्थात् निष्काम होना चाहिए। कर्म को कर्तव्य मानकर कल्याण की दृष्टि से किया जाए। परोपकार की भावना से किया गया कार्य धर्म का प्रमुख आधार है। इस प्रकार, वेदों में कर्म को प्रमुख स्थान दिया गया है।[१०]

वैदिककालीन शिक्षा के उद्देश्य :

१. प्राचीन शिक्षा आश्रमों में दी जाती थी, जो नगरों और ग्रामों के कोलाहल से दूर, सुन्दर प्राकृतिक स्थलों पर बने होते थे। यह आश्रम आदर्श मानवीय गुणों की प्रेरणा देने वाले होते थे और समाज की बुराइयों से मुक्त होते थे। यहाँ छात्रों को स्वास्थ्यप्रद वातावरण मिलता था, प्राकृतिक सौन्दर्य में आत्मा को शान्ति मिलती थी और मनन-चिन्तन की प्रेरणा मिलती थी। वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को मनन-चिन्तन की प्रेरणा प्रदान करना था, जिससे विद्यार्थी एकाग्रचित्त होकर विद्या ग्रहण कर सकें।

२. वैदिककालीन शिक्षा आश्रम-पद्धति पर निर्धारित होती थी। इस शिक्षा का उद्देश्य जीवनोपयोगी, व्यावहारिक, सामाजिक और सर्वांगीण विकास करने वाली थी। छात्र-छात्राओं को आपस में मिलकर माता-पिता तुल्य गुरु एवं गुरु-पत्नी के आदेशों और प्रेम से प्रेरित होकर व्यावहारिक ज्ञान अर्जित करने का अवसर मिलता था। कृषि, पशुपालन, उद्योग, चिकित्सा, युद्ध-कौशल, राजनीति, शिल्प और कला-कौशल की व्यावहारिक और जीवनोपयोगी शिक्षा यहाँ मिलती थी। गुरु छात्रों की प्रगति पर विशेष ध्यान देते थे। गुरु द्वारा शिष्यों की वैयक्तिक और सामूहिक परीक्षाएँ ली जाती थीं। छात्रों के शारीरिक विकास का पूरा ध्यान रखा जाता था। मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास के साथ-साथ सामाजिक विकास की अवहेलना नहीं की जाती थी।

३. वैदिककालीन शिक्षा का उद्देश्य आश्रमों में छात्र को स्वयं को सुरक्षित महसूस करवाना था। गुरु छात्रों के प्रति वात्सल्य प्रेम रखता था और उनकी प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखता था। शिष्य भी गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और समर्पण की भावना रखते थे। शिष्य आश्रम में एक परिवार के सदस्य के रूप में रहते थे। इससे उन्हें पूर्ण सामाजिक व्यवहार और शिष्टाचार की

शिक्षा मिलती थी। शिष्यों में आपसी प्रेम, सौहार्द्र और सहयोग था। आश्रम का वातावरण इतना आनन्द में होता था कि पशु-पक्षी भी वहाँ निर्भीक होकर रहते थे और आश्रमवासियों के मित्र बन जाते थे। आश्रम के निकट रहने वाले पशु-पक्षियों के व्यवहार से पथिक ये अनुमान लगा लेते थे कि अब कोई आश्रम निकट आ गया है।

निष्कर्ष : वैदिककालीन शिक्षा वेदों पर आधारित होने के कारण अत्यधिक सरल तथा आत्मिक थी। यह शिक्षा लौकिक ज्ञान तथा पारलौकिक ज्ञान– दोनों प्रदान करते थे। इस शिक्षा में विद्यार्थी गुरु के मार्गदर्शन में आध्यात्मिक चिंतन और ज्ञान प्राप्त करता था। साथ-ही-साथ; युद्ध-कौशल, राजनीतिक विषय, शिल्प-कला तथा पशुपालन एवं कृषि के साथ-साथ उद्योग और व्यावहारिक ज्ञान की भी शिक्षा प्राप्त करता था। साथ ही; मानव-जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता था, जिससे विद्यार्थी अपनी ब्रह्मचर्य अवस्था में ही सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। वैदिककालीन शिक्षा में विद्यार्थियों के मानसिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास का पूरा ध्यान रखा जाता था। वर्तमान में वैदिककालीन शिक्षा-प्रक्रिया को अगर लागू कर दिया जाए, तो यह शिक्षा विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास में अतिसार्थक सिद्ध होगी तथा उनके उज्ज्वल भविष्य के लिए यह अति उपयोगी होकर उनके जीवन को सरल और सुन्दर बना देगी। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि वैदिककालीन शिक्षा अति मानवीय जीवन-जगत के अस्तित्त्व की मान्यता पर आधारित, पूर्ण सामाजिक और सर्वांगीण विकास करने वाली थी।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. प्रो. सरयू प्रसाद चौबे, डॉ. अखिलेश चौबे– भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृष्ठ २
२. ऋग्वेद– पारडी, सूरत, १९५७
३. अथर्ववेद– पं. राधाकृष्ण श्रीमाली, नई दिल्ली, १९९५
४. ए. एस. अल्तेकर– प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, इलाहाबाद, १९४८, पृष्ठ १३
५. ए. एल. वाषम, अद्‌भुत भारत, पृष्ठ ६
६. राधाकृष्ण चौधरी– प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता, पृष्ठ ११
७. रोमिला थापर– भारत का इतिहास, पृष्ठ १३
८. प्रो. सरयू प्रसाद चौबे, डॉ. अखिलेश चौबे– भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृष्ठ ४
९. वही
१०. वही

●

ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की बढ़ती सहभागिता एवं असंगठित क्षेत्रों में सुरक्षित कार्यस्थल की दरकार : चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ

अतुल कुमार सिंह*, प्रो. धर्मेन्द्र कुमार सिंह**

सारांश : भारत के श्रम एवं रोजगार मन्त्रालय के वर्ष २०२२-२३ की रिपोर्ट के अनुसार, भारत में कुल महिला कर्मकारों की संख्या १५ करोड़ है, जिसमें से लगभग ३.६ करोड़ कृषक हैं, ६.२ कृषि-कार्यों से सम्बन्धित श्रमिक, ०.८० करोड़ घरेलू सहायक और ४.३ करोड़ अन्य असंगठित उपक्रमों, जैसे– ईंट-भट्ठा, निर्माण कार्य इत्यादि क्षेत्रों में कार्यरत हैं।[१] ग्रामीण महिलाएँ श्रम-शक्ति के रूप में विभिन्न कृषि-प्रथाओं से निकटता से जुड़ी हुई हैं। कृषि-विकास वैश्विक स्तर पर गरीबी उन्मूलन के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण कारकों में से एक है और २०५० तक ९.७ बिलियन लोगों को भोजन उपलब्ध कराने की हमारी आवश्यकता को देखते हुए यह अपरिहार्य है। लेकिन ग्रामीण महिलाओं की स्थिति और सशक्तीकरण में सुधार के बिना ग्रामीण कृषि गतिविधियाँ अच्छी तरह से आगे नहीं बढ़ सकती हैं। ग्रामीण अर्थव्यवस्था मुख्यत: असंगठित क्षेत्रों पर आधारित है। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार, देश के कुल महिला श्रम बल का लगभग ९० प्रतिशत भाग असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत है, जो समाज के सबसे कमजोर, अशिक्षित एवं हाशिए पर स्थित वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ कार्यस्थल पर यौन-उत्पीड़न की घटनाएँ बहुत सामान्य हैं। यूँ कहें कि रोजमर्रा की हकीकत बन चुकी हैं। इसमें से अधिकतर घटनाएँ कभी रिपोर्ट नहीं हो पाती हैं। दिहाड़ी मजदूरों और निर्माण श्रमिकों के लिए तो सड़कें ही उनका कार्यस्थल हैं। भद्दी टिप्पणियों और अभद्र संकेतों से लेकर यौन-उत्पीड़न के गम्भीर रूपों तक, इन महिलाओं को उन परिसरों में सुरक्षा की कमी के कारण झेलना पड़ता है, जहाँ वे काम करती हैं, क्योंकि सड़कें किसी भी नियोक्ता के अधिकार क्षेत्र में नहीं आती हैं।

प्रस्तावना : वर्ष २०२५ महिला अधिकारों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्ष माना जा सकता है। २०२५ में 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस' का विषय होगा– ''सभी महिलाओं और लड़कियों के लिए– अधिकार, समानता, सशक्तीकरण।'' गौरतलब है कि यह महिला अधिकारों और समाज के विभिन्न स्तरों पर महिलाओं की भूमिका से जुड़ी दो बड़ी घटनाओं की ३०वीं वर्षगाँठ का वर्ष है। इस वर्ष 'भारत में महिलाओं की स्थिति पर समिति' (CSWI) द्वारा संयुक्त राष्ट्र को 'समानता की ओर' या 'टुवर्ड्स इक्वालिटी' (Towards Equality) नामक रिपोर्ट को प्रस्तुत किये हुए लगभग ३० वर्ष पूरे हो गए हैं। इस रिपोर्ट में भारत में महिलाओं के प्रति सम्वेदनशील नीति-निर्माण पर ध्यान केन्द्रित करते हुए लैंगिक समानता पर एक नवीन दृष्टिकोण प्रदान करने का प्रयास किया गया। साथ ही; वर्ष २०२५ में 'बीजिंग प्लेटफॉर्म फॉर एक्शन' की स्थापना की ३०वीं वर्षगाँठ भी है। बीजिंग घोषणा-पत्र और कार्यवाही मंच, महिलाओं और लड़कियों के अधिकारों के लिए सबसे प्रगतिशील और सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत वैश्विक

* शोध छात्र– विधि विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ.प्र.
** प्राचार्य– उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी, उ.प्र.

ढाँचा है, जो समाज में महिलाओं की स्थिति और सरकारों के नेतृत्त्व में उनके सशक्तीकरण के प्रयासों के विश्लेषण के लिए एक 'मील का पत्थर' है। पिछले दो दशकों में भारत में महिला अधिकारों की रक्षा हेतु कई बड़े प्रयास किये गए और इनके व्यापक सकारात्मक परिणाम भी देखने को मिले हैं। हालाँकि, ५ ट्रिलियन डॉलर की अर्थव्यवस्था के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भूमिका और इससे जुड़ी चुनौतियों की समीक्षा कर अपेक्षित नीतिगत सुधारों को अपनाना बहुत आवश्यक है। ग्रामीण महिलाएँ एक परिवर्तनकारी अर्थव्यवस्था की प्राप्ति और दुनिया भर में ग्रामीण समुदायों की संरचना और कार्य के विकास में उत्प्रेरक की भूमिका निभा सकती हैं। हालाँकि, अपर्याप्त सुविधाओं के कारण ग्रामीण महिलाएँ लम्बे समय से गरीबी का सामना कर रही हैं।

किसी देश का समग्र आर्थिक विकास इस बात पर निर्भर करता है कि हम ग्रामीण महिलाओं को कैसे बढ़ावा देते हैं और उन्हें कैसे सशक्त बनाते हैं? ग्रामीण महिलाओं को कृषि पद्धतियों पर प्रशिक्षण देकर, उन्हें प्राथमिक शिक्षा प्रदान करके और ग्रामीण विपणन और खाद्यान्न भण्डारण के लिए सहायता प्रदान करके उन्हें मजबूत बनाना आवश्यक है। हमारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था एक कृषि प्रधान देश होने के नाते मुख्य रूप से असंगठित क्षेत्रों पर निर्भर है। ग्रामीण परिवेश में एक बड़ी आबादी असंगठित क्षेत्रों में कार्य कर रही महिलाओं की है। असंगठित क्षेत्रों से तात्पर्य मूल रूप से उन उद्यमों से है, जो व्यक्तियों के निजी स्वामित्व एवं संचालन में है और एक या एक से अधिक कर्मचारियों को नियमित रूप से नियोजित रखते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अनुसार, विश्व की लगभग ६० प्रतिशत आबादी अनौपचारिक क्षेत्र से सम्बन्धित है। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार, भारत में कुल कार्यबल का लगभग ९० प्रतिशत असंगठित कामगार हैं।[२] कार्य के असंगठित क्षेत्रों में कामकाजी महिलाओं के लिए एक मुख्य समस्या कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न की है। आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण वार्षिक रिपोर्ट, २०२०-२१ के आँकड़ों के अनुसार, देश में गैर-कृषि अनौपचारिक क्षेत्र में आधे से अधिक, लगभग ५६.७ प्रतिशत महिलाएँ हैं। उनमें से अधिकांश महिलाएँ अपने परिवारों के लिए आय का एकमात्र स्रोत हैं, जो वंचित और हाशिए पर स्थित समुदायों से आती हैं। चूँकि इनमें अक्सर साक्षरता और कानून के ज्ञान की कमी होती है, इसलिए उनके लिए उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाना काफी चुनौतीपूर्ण होता है। वे अपनी आजीविका खोने और सामाजिक बदनामी के डर से भी इस तरह के मामलों की रिपोर्ट करने से डरती हैं। अनौपचारिक क्षेत्र में कार्यरत श्रमिकों के सामने एक बड़ी बाधा उनकी सामाजिक सुरक्षा तक पहुँच का न होना है। भवन एवं अन्य निर्माण श्रमिक (रोजगार एवं सेवा शर्तों का विनियमन) अधिनियम–१९९६, अन्तर-राज्यीय प्रवासी श्रमिक (रोजगार एवं सेवा शर्तों का विनियमन) अधिनियम–१९७९ तथा असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम–२००८ वर्तमान कानूनी प्रावधान हैं, जो अनौपचारिक क्षेत्र में महिला श्रमिकों की रक्षा के लिए प्रावधानित किए गए हैं। भले ही देश के ४४ श्रम कानूनों को चार श्रम संहिताओं में संहिताबद्ध किया गया है, फिर भी; अधिकांश असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिक इन कानूनों के अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं, क्योंकि इसमें से कई कानून केवल ऐसे प्रतिष्ठानों पर लागू होते हैं, जहाँ दस या अधिक कर्मचारी कार्यरत हों। पाकिस्तान के सियालकोट जिले में ईंट-भट्ठा उद्योग में कार्यरत महिला श्रमिकों पर कराए गये एक अध्ययन में ३४ प्रतिशत महिलाओं का कहना था कि कार्यस्थल का वातावरण उनके लिए असुरक्षित है, जबकि शेष

महिलाओं का कहना था कि वह कार्यस्थल पर सुरक्षित महसूस करती हैं। हालाँकि, नियोजक और सहकर्मियों के व्यवहार को लेकर दोनों समूहों की महिलाओं ने असहजता व्यक्त की। ४० प्रतिशत ने कहा कि कई बार नियोजक/मालिक उन्हें अतिरिक्त बोनस अथवा पैसा देने का प्रलोभन देकर नजदीकियाँ बढ़ाने का प्रयास करते हैं, जिसमें घूरना एवं अश्लील इशारे भी शामिल हैं। कई बार उनके शारीरिक गठन पर अश्लील टिप्पणियाँ एवं अश्लील साहित्य, गानों, फिल्मों इत्यादि पर चर्चा करने लगते हैं, जो इन महिलाओं को असहज कर देती हैं। इसके अलावा; कई बार नियोजकों द्वारा यौन सम्बन्ध बनाने की माँग, बिना अनुमति अथवा अकारण शारीरिक स्पर्श जैसी गतिविधियाँ भी की जाती हैं। मना अथवा विरोध करने पर उन्हें परिवार सहित काम से निकाले जाने की धमकियाँ मिलती हैं।[३]

ग्रामीण भारतीय अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी : भारत में महिला रोजगार सम्बन्धी आँकड़े देश के आर्थिक विकास, कम प्रजनन दर और स्कूली शिक्षा की दर में वृद्धि जैसे संकेतकों से मेल नहीं खाते। वर्ष २००४ से वर्ष २०१८ के बीच स्कूली शिक्षा के मामले में घटते लैंगिक अंतराल के विपरीत, कार्य क्षेत्रों में भागीदारी के सन्दर्भ में लैंगिक अंतराल में भारी वृद्धि देखने को मिली। 'आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण–२०१८-१९' के अनुसार, कार्यक्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी में भारी गिरावट देखने को मिली थी। वर्ष २०११-१९ के बीच ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यस्थलों पर महिलाओं की भागीदारी ३५.८ प्रतिशत से घटकर २६.४ प्रतिशत ही रह गयी थी। वर्ष २०१९ में 'विश्व आर्थिक मंच' (World Economic Forum– WEF) की 'वैश्विक लैंगिक अन्तराल रिपोर्ट' में महिलाओं की आर्थिक भागीदारी और इसके लिए उपलब्ध अवसरों के सन्दर्भ में भारत को १५३ देशों की सूची में १४९वें स्थान पर रखा गया था। अक्टूबर, २०२० में जारी आवधिक श्रम बल सर्वेक्षण के अनुसार, अक्टूबर-दिसम्बर २०१९ में महिला बेरोजगारी की दर ९.८ प्रतिशत रही, जो वर्ष २०१९ में जुलाई-सितम्बर की तिमाही के आँकड़ों से अधिक है। गौरतलब है कि COVID-१९ महामारी के बाद देश भर में बेरोजगारी के आँकड़ों में व्यापक वृद्धि देखी गयी।[४] कृषि क्षेत्र में महिलाओं की भागीदारी लगभग ६० प्रतिशत है, परन्तु इनमें से अधिकांश भूमिहीन श्रमिक हैं, जिन्हें स्वास्थ्य, सामाजिक या आर्थिक सुरक्षा से सम्बान्धित कोई भी सुविधा नहीं प्राप्त होती है। वर्ष २०१९ में मात्र १३ प्रतिशत महिला किसानों के पास अपनी जमीन थी और वर्ष २०११ की जनगणना के अनुसार, यह अनुपात मात्र १२.८ प्रतिशत था। इसी प्रकार, विनिर्माण क्षेत्र (लगभग पूरी तरह असंगठित) में महिला श्रमिकों की भागीदारी लगभग १४ प्रतिशत ही है। सेवा क्षेत्र में भी अधिकांश महिलाएँ कम आय वाली नौकरियों तक ही सीमित हैं। 'राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण–२००५' के अनुसार, ४.७५ मिलियन घरेलू कामगारों में से ६० प्रतिशत से अधिक महिलाएँ हैं। किसी देश की अर्थव्यवस्था में महिलाओं की भागीदारी बहुत मायने रखती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की ताजा रिपोर्ट के अनुसार, एशियाई देशों की दृष्टि से भारत और पाकिस्तान में सबसे कम महिला श्रमिक हैं। नेपाल, वियतनाम, कम्बोडिया जैसे देशों में इनकी संख्या बहुत अधिक है। श्रम में महिलाओं की भागीदारी का एक कारण भारतीयों की आय में वृद्धि को बताया जाता है। पुरुष की आय पर्याप्त होने पर महिला को खेतों और निर्माण केन्द्रों पर कठोर श्रम में संलग्न होने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। इसलिए वे परिवार के रख-रखाव पर ध्यान दे रही हैं। इससे अलग एक और कारण सामने आता है, जो यद्यपि निराशावादी है, किन्तु वास्तविकता के अधिक

नजदीक लगता है। ऐसा माना जा रहा है कि खेतों के छोटा होने, बढ़ते मशीनीकरण और कृषि में मजदूरों की माँग घटने के कारण महिलाओं के पास काम नहीं है। अगर यह सत्य है, तो भविष्य में स्थिति और भी बदतर होती जाएगी।[५]

वस्तुत: महिलाओं की आर्थिक भागीदारी को बढ़ाने के लिए देश में कुछ जमीनी परिवर्तन करने होंगे। शोधों से पता चलता है कि अगर महिलाओं को काम करने के अवसर मिले, तो वे इन्हें सहर्ष स्वीकार करती हैं। यह भी पता चलता है कि मनरेगा के माध्यम से ४५ प्रतिशत ऐसी महिलाओं को वैतनिक श्रम उपलब्ध कराया जा सका है, जो उन्हें पहले कहीं नहीं मिला था। इससे परिवार के फैसलों में उनकी भूमिका अहम हो गयी है। समस्या यह है कि मनरेगा में पूरे वर्ष रोजगार के अवसर नहीं मिल पाते। इसके लिए हमें महिलाओं को कृषि-कर्म से गैर कृषि-कर्म में रोजगार के अवसर देने होंगे। दूसरे, हमें कार्यस्थल के वातावरण को महिलाओं के इतना अनुकूल बनाना होगा कि ग्रामीण, शहरी और शिक्षित महिलाएँ वैतनिक रोजगार को अपना सकें। मैरीलैण्ड विश्वविद्यालय की एक समाजशास्त्री ने अपने शोध में पाया कि जिन गाँवों में सड़क के निर्माण-कार्य हुए हैं, वहाँ पर पुरूषों की तुलना में महिला श्रमिकों की संख्या अधिक रही। साथ ही; अच्छी सड़क बनने से परिवहन की सुविधा बढ़ी। इसके चलते एक गाँव के श्रमिक (अधिकतर महिलाएँ) काम की तलाश में अन्य गाँव और कस्बों में जाने में सक्षम हो सकीं।[६] भारतीय समाज में महिलाओं के काम करने को लेकर दृष्टिकोण अभी भी बहुत संकुचित है। घरेलू कामों और बच्चों की देखभाल की पूरी जिम्मेदारी महिलाओं को ही सौंपी जाती है। भारतीय संस्थानों में बहुत कम ऐसे हैं, जो काम और परिवार के बीच सन्तुलन पर ध्यान देते हों। कुछ अध्ययनों से पता चलता है कि कनाडा की तुलना में भारत में कोई व्यक्ति प्रति सप्ताह दस घण्टे ज्यादा काम करता है। कार्यावधि की ऐसी कठिन शर्तों में अगर महिलाओं को कामकाजी बनाना है, तो पुरूषों को घरेलू कामों और बच्चों की देखभाल को साझा करना होगा। औपचारिक (Formal Sector) क्षेत्र के उच्च श्रेणी रोजगार में महिलाओं की भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए कम्पनियों के वातावरण को पारिवारिक जीवन के अनुकूल लचीला बनाना होगा। इसके साथ ही; कार्यस्थलों को भी परिवार की आवश्यकताओं के प्रति सम्वेदनशील बनाने की जरुरत है, जिससे महिलाएँ दोनों ओर बराबर समय और क्षमता दे सकें।

अभी हाल के दिनों में, देश में रोजगार सम्बन्धित संकेतकों में वृद्धि देखी गयी है, जो हमारी विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा संकेत है। हमारे यहाँ रोजगार/बेरोजगारी संकेतकों का आधिकारिक डेटा-स्रोत आवधिक श्रम शक्ति सर्वेक्षण (पी.एल.एफ.एस.) है, जिसे सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय (MoSPI) द्वारा २०१७-१८ से किया जा रहा है। पी.एल.एफ.एस. डेटा के अनुसार, पिछले छह वर्षों में भारतीय श्रम बाजार संकेतकों में सुधार हुआ है, जैसा कि नीचे देखा जा सकता है–

१. श्रमिक जनसंख्या अनुपात (WPR) : २०१७-१८ में ४६.८ % से बढ़कर २०२३-२४ में ५८.२% हो गया है।

२. श्रम बल भागीदारी दर (LFPR) : इसी अवधि के दौरान ४९.८% से बढ़कर ६०.१% हो गयी है।

३. बेरोजगारी दर (UR) : इसमें ६.०% से २% तक तेजी से गिरावट आयी, जो बेहतर नौकरी उपलब्धता और आर्थिक स्थिरता को दर्शाता है।[७]

देश में महिला श्रमशक्ति से सम्बन्धित पी.एल.एफ.एस. आँकड़ों के विश्लेषण से निम्नलिखित रुझान सामने आते हैं–

महिला रोजगार संकेतकों में वृद्धि– पी.एल.एफ.एस. के आँकड़ों से महिला रोजगार संकेतकों में वृद्धि देखी गयी है, जो ग्रामीण और शहरी सहित विभिन्न श्रेणियों में आर्थिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी में उल्लेखनीय प्रगति को दर्शाता है। पी.एल.एफ.एस. के अनुसार, ग्रामीण एफ.एल.एफ.पी.आर. में २०१७-१८ से २०२३-२४ के बीच २३ प्रतिशत अंकों की उल्लेखनीय वृद्धि हुई है (२०१७-१८ में २४.६% और २०२३-२४ में ४७.६%), जो ग्रामीण उत्पादन में महिलाओं के बढ़ते योगदान को दर्शाता है। यह भी माना जा रहा है कि यह डेटा अब पी.एल.एफ.एस. सर्वेक्षण द्वारा बेहतर तरीके से एकत्रित किया जा रहा है।

१. **महिलाओं के लिए WPR :** २०१७-१८ में २२% से दोगुना होकर २०२३-२४ में ४०.३% हो गया है।

२. **महिलाओं के लिए LFPR :** २३.३% से बढ़कर ४१.७% हो गया है।

३. **बेरोजगारी दर :** ५.६% से घटकर ३.२% हो गयी है।

असंगठित क्षेत्रों में कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न : ऑक्सफैम इण्डिया द्वारा २०१२ में किए गए एक सर्वेक्षण के अनुसार, कार्यस्थलों पर यौन-उत्पीड़न की सबसे अधिक शिकार होने वाली महिलाओं में से २९% मजदूर हैं, २३% घरेलू कामगार हैं और १६% लघु उद्योगों में काम करती हैं। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं के लिए नौकरी की गुणवत्ता, नौकरी की सुरक्षा, अच्छी कामकाजी परिस्थितियाँ और काम के अनुपात में पारिश्रमिक, कर्मचारी अधिकारों के प्रति निष्ठा, सामाजिक सुरक्षा जैसे तत्त्वों का अभाव है।[८] असंगठित क्षेत्र जैसे छोटे कारखानों में महिलाओं ने पीढ़ियों से दब्बू होना और अश्लील टिप्पणियों, शारीरिक दण्ड, क्रूर दुर्व्यवहार और यौन हमलों को सहन करना सीखा है, क्योंकि उनकी आजीविका कमाने की आवश्यकता, कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न की समस्या से कहीं ज्यादा गम्भीर समस्या है। इस कारण, कार्यस्थल पर इन क्षेत्रों में यौन और शारीरिक उत्पीड़न इतना नियमित और सहनीय है कि कभी भी कोई औपचारिक शिकायत ही नहीं की जाती है। यौन उत्पीड़न को सहन करना मुख्य रूप से पीड़ित की वित्तीय असुरक्षा का भी एक कारण है। यहाँ तक कि अगर बार-बार यौन उत्पीड़न होता है, तो उनके पास इसे 'व्यावसायिक खतरे' के रूप में लेने के अलावा कोई विकल्प नहीं होता है।

उपचार तन्त्र : कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध एवं प्रतितोष) अधिनियम–२०१३, कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न के निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोषण हेतु एक विशिष्ट अधिनियम है, जो ९ दिसम्बर, २०१३ को प्रवृत्त हुआ। यह अधिनियम परिवादों के निवारण एवं प्रतितोषण हेतु मुख्यत: दो प्रकार के परिवाद समिति के गठन का प्रावधान करता है– 'आन्तरिक परिवाद समिति'[९] संगठित क्षेत्रों के लिए, जहाँ १० या उससे अधिक कर्मचारी नियोजित हों और 'स्थानीय परिवाद समिति'[१०] असंगठित क्षेत्रों के लिए, जहाँ १० से कम कर्मचारी नियोजित हों।

स्थानीय शिकायत समिति : इस समिति के दायरे में काम की वह जगहें आती हैं, जहाँ दस से कम कर्मचारी हों और जहाँ 'आन्तरिक शिकायत समिति' का गठन न हुआ हो। इसके अलावा; जहाँ शिकायत खुद मालिक के खिलाफ हो, वैसे मामले भी इन समिति के पास जाएँगे।

घरेलू श्रमिक के मामले में भी शिकायत इसी समिति के पास जाएगी। जिलाधिकारी स्थानीय शिकायत समिति का गठन करता है। स्थानीय शिकायत समिति में पाँच मुख्य सदस्य होने चाहिए–

१. इस समिति की अध्यक्ष सामाजिक कार्यों में सक्रिय कोई मशहूर महिला होगी।

२. एक महिला, जिसका चुनाव ब्लॉक, तालुका, तहसील, वार्ड या नगर पालिका स्तर से हुआ हो।

३. दो सदस्य गैर सरकारी संगठन से हों, जिन्हें महिलाओं के मुद्दों या यौन उत्पीड़न की रोकथाम का अनुभव हो तथा उनके पास इस क्षेत्र में पाँच वर्षों का अनुभव होना चाहिए।

४. जिले में समाज कल्याण एवं महिला बाल विकास विभाग का अधिकारी भी इस समिति का सदस्य होगा। इसके अलावा, गैर सरकारी संगठन के दो सदस्यों में से एक सदस्य अनुसूचित जाति, जनजाति या अन्य पिछड़ा वर्ग से जुड़ी महिला होनी चाहिए। सदस्यों के चुनाव में यह ध्यान रहे कि वे कानून के बारे में जानकारी रखते हों।

इस समिति में भी ५० प्रतिशत सदस्य महिला होनी चाहिए, यानी पाँच में तीन सदस्य महिला होनी चाहिए। इस समिति के गठन के अलावा, जिलाधिकारी को ग्रामीण क्षेत्रों से हर ब्लॉक, तहसील, तालुका और शहरी क्षेत्र में वार्ड या म्युनिसिपैलिटी से एक नोडल अधिकारी को नियुक्त करना होगा, जिनकी यह जिम्मेदारी होगी कि वह अपने क्षेत्रों से शिकायतों को इकट्ठा करके उन्हें स्थानीय शिकायत समिति के पास सात दिन के अन्दर भेजें।

स्थानीय शिकायत समितियों के गठन में शिथिलता : 'Martha Farrel Foundation' द्वारा वर्ष २०१८ में कराये गए अध्ययन में सूचना के अधिकार के तहत माँगी गयी जानकारी में पाया गया कि देश के ६६५ जनपदों में बहुतों में अभी तक स्थानीय शिकायत समिति का गठन नहीं किया गया है। मात्र २९ प्रतिशत जनपदों ने स्थानीय शिकायत समिति का गठन होना बताया, जबकि १५ प्रतिशत ने बताया कि अभी तक उनके यहाँ स्थानीय शिकायत समिति का गठन नहीं हो पाया है। ५६ प्रतिशत जनपदों का कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ।[११] हाल ही में; अरिलियानो फर्नांडिंस बनाम गोवा राज्य[१२] के मामले में माननीय उच्चतम न्यायालय ने कार्यस्थल पर 'लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोष) अधि.–२०१३' के लागू होने के एक दशक बीत जाने पर भी अधिनियम के क्रियान्वयन में शिथिलता और अनिश्चितता को लेकर नाराजगी व्यक्त की है। माननीय उच्चतम न्यायालय ने केन्द्र, राज्य और केन्द्र शासित प्रदेशों को यह सुनिश्चित करने के लिए कहा है कि सभी सरकारी कार्यालयों में 'आन्तरिक शिकायत समिति' का गठन अधिनियम के दिशा-निर्देशों के अनुसार किया जाए।

निष्कर्ष : यौन-उत्पीड़न एक गम्भीर अपराध है। इसे किसी भी रूप में बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न कार्य की असुरक्षित और प्रतिकूल परिस्थितियों को जन्म देती है, जिससे महिलाओं की कार्य-क्षमता प्रभावित होती है एवं उनके सामाजिक और आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आई.एम.एफ. के एक अनुमान के मुताबिक, यदि भारत में महिला कर्मकारों की संख्या पुरुष कर्मकारों की संख्या जितना बढ़ाया जा सकता, तो भारत के सकल घरेलू उत्पाद में २७% तक की बढ़ोत्तरी की जा सकती है।[१३] कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न सर्वव्यापी है, लेकिन असंगठित क्षेत्र की महिलाएँ, बेहतर आर्थिक और सामाजिक स्थिति वाली संगठित क्षेत्र में काम करने वाली महिलाओं की तुलना में अधिक असुरक्षित हैं।

इसके अलावा; असंगठित क्षेत्र की महिलाएँ यौन-उत्पीड़न के बारे में जागरूकता की कमी के कारण भी इसके प्रति अधिक सम्वेदनशील हैं। 'आधी आबादी' कही जाने वाली हमारे देश की महिलाएँ देश के विकास में अपेक्षित योगदान दे सकती हैं और नि:संदेह वर्तमान में दे भी रही हैं। यदि हम कार्यस्थलों पर एक स्वस्थ और अनुकूल वातावरण अपने देश की महिलाओं को दे पाते हैं, तो हम अपने देश के इस मानव संसाधन का और बेहतर उपयोग देश और समाज के विकास के लिए कर पाएँगे। स्वामी विवेकानन्द का कथन है– ''सभी देशों ने महिलाओं को उचित सम्मान देकर महानता हासिल की है। वह देश और राष्ट्र, जो महिलाओं का सम्मान नहीं करता है, कभी महान नहीं बन सकता।''[१४]

सन्दर्भ-सूची

१. वार्षिक रिपोर्ट–२०२२-२३, श्रम एवं रोजगार मंत्रालय (भारत सरकार), पृ.सं. १०९
२. सूचना बुलेटिन– ''असंगठित कामगार मुद्दे एवं चुनौतियाँ, लोकसभा सचिवालय शोध एवं सूचना प्रभाग, दिसम्बर, २०१४
३. रिजवाना यूसुफ व मोइन कादिर– ''सेक्सुअल हरासमेन्ट अमांग ओमन वर्किंग इन अनआर्गनाइज सेक्टर', वाल्यूम-२३, 'कन्टम्परी सोशल साइन्सेज', पृष्ठ संख्या ५२, २०१
४. उपलब्ध– https://www.drishtiias.com/hindi/printpdf/fallen-through-the-cracks
५. उपलब्ध–https://afeias.com/knowledge-centre/current-%20content/%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B0%E0%A4%A4%E0%A5%80%E0%A4%AF%E0%A4%85%E0%A4%B0%E0%A5%8D%E0%A4%A5%E0%A4%B5%E0%A5%8D%E0%A4%AF%E0%A4%B5%E0%A5%8D%E0%A4%A5%E0%A4%BE-%E0%A4%AE%E0%A5%87%E0%A4%82/
६. उपर्युक्त
७. https://pib.gov.in/PressReleaseIframePage.aspx?PRID=2074453
८. उपलब्ध–ehttps://www.ungender.in/different-manifestations-of-sexual-harassment-faced-by-women-in-unorganized-sector/
९. धारा ४– 'महिलाओं का कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोष) अधिनियम–२०१३'
१०. धारा ६– 'महिलाओं का कार्यस्थल पर लैंगिक उत्पीड़न (निवारण, प्रतिषेध और प्रतितोष) अधिनियम'
११. स्वराज चौधरी– 'रिएड्रेसिंग द रोल ऑफ लोकल कम्प्लेन कमेटी', वाल्यूम-१, इश्यू-३, इण्टरनेशनल जर्नल ऑफ पॉलिसी साईंस एण्ड लॉ (२०११), पृष्ठ-१६६३
१२. सिविल अपील संख्या–२००१४ का २४८२
१३. द इकोनॉमिक्स टाइम्स– ६ सितम्बर २०१५, उपलब्ध– https://economictimes.com/news/economy/indicators/gender-parity-in-workforce-can-boost-indias-gdp-by-24-christine-dagarde/articleshow/48847069
१४. उपलब्ध– https://pib.gov.in/newssite/printrelease.aspx?relid=114520

●

'पेसा' अधिनियम और प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन की प्रभावशीलता

संजय यादव*, रमाशंकर यादव**

सारांश : पेसा अधिनियम-१९९६ (Panchayats Extension to Scheduled Areas Act) का उद्देश्य अनुसूचित जनजातीय क्षेत्रों की ग्रामसभाओं को सशक्त बनाकर प्राकृतिक संसाधनों पर उनके पारम्परिक अधिकारों की रक्षा करना है। प्रस्तुत अध्ययन में 'पेसा' अधिनियम के अन्तर्गत प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन की प्रभावशीलता का मात्रात्मक विश्लेषण किया गया। अध्ययन के लिए मध्य प्रदेश राज्य के अनूपपुर जनपद के पाँच जनजातीय बहुल ग्रामों का चयन किया गया तथा २०० उत्तरदाताओं से स्तरीकृत यादृच्छिक नमूना पद्धति के माध्यम से आँकड़ों को संकलित किया गया। प्रश्नावली में जल, जंगल और जमीन से सम्बन्धित संसाधनों के उपयोग, ग्रामसभा की भागीदारी, निर्णय-निर्माण की पारदर्शिता तथा संरक्षण सम्बन्धी जागरूकता जैसे आयाम सम्मिलित किए गए। डेटा का विश्लेषण वर्णनात्मक सांख्यिकी, स्वतन्त्र टी-परीक्षण और पियर्सन सह-सम्बन्ध द्वारा किया गया। परिणामों से ज्ञात हुआ कि ६८% परिवारों ने ग्रामसभा की सक्रिय भूमिका को संसाधन प्रबन्धन में महत्त्वपूर्ण माना, जबकि ३२% ने इसे आंशिक रूप से प्रभावी बताया। महिला प्रतिभागियों ने पुरुषों की तुलना में संसाधन प्रबन्धन में अधिक भागीदारी और जागरूकता प्रदर्शित की ($t=१७.८८$, $p<०.०५$)। शिक्षा का स्तर और संरक्षण जागरूकता के बीच मध्यम सकारात्मक सह-सम्बन्ध पाया गया ($r=०.३८$, $p<०.०१$)। यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि 'पेसा' अधिनियम ने जनजातीय समाज में प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार और संरक्षण को प्रोत्साहित किया है, लेकिन प्रशासनिक जटिलताओं और जागरूकता की कमी जैसी चुनौतियाँ बनी हुई हैं। इस शोध-अध्ययन से यह स्पष्ट है कि ग्राम सभाओं को संसाधन, प्रशिक्षण और नीतिगत समर्थन मिलने से प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन और भी संधारणीय व प्रभावी हो सकता है।

बीज शब्द : अधिनियम, प्राकृतिक संसाधन, प्रबन्धन, ग्रामसभा, जागरूकता।

परिचय : जनजातीय समुदाय सदियों से प्राकृतिक संसाधनों– जल, जंगल और जमीन पर निर्भर रहे हैं। इन संसाधनों ने जनजातीय समुदायों की आजीविका को स्थिरता प्रदान की है। जल, जंगल, जमीन के अभाव में इनके जीवन की कल्पना भी अकल्पनीय है। इन प्राकृतिक संसाधनों ने उनकी संस्कृति, परम्परा और सामाजिक संरचना को भी आकार दिया है। आज भी दस मिलियन लोगों की आजीविका लघु वनोपज पर आधारित है (शाशा, २०१७)। जनजातीय समाज की जीवनशैली का मूल आधार इन संसाधनों का संरक्षण और सामुदायिक उपयोग रहा है। इस प्रक्रिया में पारम्परिक ग्रामसभा की केन्द्रीय भूमिका रही है। जनजातीय समाज की पारम्परिक ग्रामसभा केवल एक प्रशासनिक संस्था नहीं रही, अपितु यह जनजातीय समाज की

* सहायक आचार्य– जनजातीय अध्ययन, कला, संस्कृति एवं लोक साहित्य विभाग, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकण्टक, मध्य प्रदेश

** सहायक आचार्य– राजनीति विज्ञान विभाग, श्रीभगवान दत्त महिला महाविद्यालय, ककवल, गौरी बाजार, देवरिया, उत्तर प्रदेश

सामूहिक चेतना, परामर्श और निर्णय लेने की लोकतान्त्रिक परम्परा का प्रतीक रही है (मिश्र, २०१४)। संविधान के ७३वें संशोधन के प्रावधानों को अनुसूचित क्षेत्रों तक विस्तार देते हुए जनजातीय स्वायत्तता और अधिकारों को सुदृढ़ करने के लिए पेसा अधिनियम-१९९६ को लागू किया गया (कुमार, २०१८)।

१९९३ में पंचायती राज व्यवस्था के लागू होने के बाद, जनजतीय प्रतिनिधित्व को मजबूत करने तथा लोकतान्त्रिक बनाने के लिए भारत सरकार द्वारा १९९६ में पेसा (अनुसूचित क्षेत्र पंचायत विस्तार अधिनियम-१९९६) अधिनियम लागू किया गया। पेसा अधिनियम उन दस राज्यों में लागू है, जहाँ भारतीय संविधान की पाँचवीं अनुसूची लागू है। यह अधिनियम आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, गुजरात, हिमाचल प्रदेश, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, ओडिशा, राजस्थान और तेलंगाना में लागू है। मध्य प्रदेश में यह अधिनियम १५ नवम्बर-२०२२ को शहडोल जनपद से शुरू किया गया। यह अधिनियम अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं को संवैधानिक मान्यता देकर परम्परागत शासन प्रणालियों को कानूनी संरक्षण प्रदान करता है (मेहता, २०१५)। यह अधिनियम आदिवासी समुदायों को स्थानीय संसाधनों, परम्पराओं और न्यायिक प्रक्रियाओं पर नियन्त्रण का अधिकार देता है। पेसा का मूल उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि जनजातीय समाज की विशिष्ट पहचान, रीति-रिवाज और आत्मनिर्भरता, आधुनिक शासन-तन्त्र के साथ समन्वित, समायोजित और संरक्षित रहे। यह अधिनियम जनजातीय समाज को उसकी संस्कृति और परम्परा के संरक्षण का अधिकार प्रदान करता है, जिससे परम्परागत व्यवस्थाओं को आधुनिक स्वरूप में जारी रखा जा सके (अम्बागुडिया एण्ड कानूनगो, २०२१)।

पेसा अधिनियम के मूल में यह भावना निहित है कि जनजातीय समाज अपनी परम्परा, संस्कृति और जीवन-मूल्यों के अनुरूप प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण और उपयोग कर सके। यह अधिनियम ग्रामसभा को प्रमुख निर्णय लेने वाली इकाई के रूप में अधिकार देता है कि वह जल, जंगल और जमीन से सम्बन्धित सभी प्रकार के प्रश्नों पर अंतिम निर्णय ले (मोहंती, २००१)। इस अधिनियम की मूल भावना यह है कि विकास योजनाएँ और संसाधन प्रबन्धन शीर्ष से थोपे गए आदेशों पर आधारित न हों, अपितु वे स्वयं समुदाय की आवश्यकताओं, प्राथमिकताओं और उनकी संस्कृति के अनुरूप हों।

यद्यपि कि पेसा अधिनियम ने ग्रामसभा को व्यापक अधिकार प्रदान किये हैं, परन्तु व्यावहारिक स्तर पर इसकी प्रभावशीलता अनेक कारकों पर निर्भर करती है। पहला कारक शिक्षा और जागरूकता है। यदि ग्रामसभा के सदस्य पेसा अधिनियम के प्रावधानों और अपने अधिकारों के प्रति सजग नहीं हैं, तो उनकी सशक्तीकरण की प्रक्रिया शिथिल हो जाती है। दूसरा कारक प्रशासनिक सहयोग है। बहुधा स्थानीय प्रशासन और नौकरशाही, पेसा अधिनियम की मूल भावना के अनुरूप ग्रामसभा को पर्याप्त सहयोग नहीं देते, जिससे ग्रामसभा की भूमिका औपचारिक रह जाती है। तीसरा कारक सामुदायिक भागीदारी है (बाविस्कर, २००५)। यदि समाज के सभी वर्ग– महिलाएँ, युवा, बुजुर्ग– सक्रिय रूप से ग्रामसभा की कार्यवाहियों में भाग नहीं लेते, तो सामुदायिक निर्णय अधूरे रह जाते हैं।

पूर्ववर्ती शोध मुख्यत: गुणात्मक दृष्टिकोण (Qualitative Approach) पर आधारित रहे हैं। इनमें जनजातीय संस्कृति, परम्परा, सामाजिक संगठन और ग्रामसभा की कार्यप्रणाली के सांस्कृतिक पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि

ग्रामसभा कैसे सामुदायिक जीवन का अभिन्न अंग है और किस प्रकार यह जनजातीय पहचान और सामूहिक निर्णय की धूरी के रूप में कार्य करती है (शर्मा एण्ड सिंह, २०२०)। किन्तु, इन अध्ययनों की सीमाएँ यह हैं कि इनमें सांख्यिकीय साक्ष्य और मात्रात्मक विश्लेषण का अभाव है। उदाहरण के लिए, ग्रामसभा की बैठकों की संख्या, भागीदारी का प्रतिशत, लिए गए निर्णयों का क्रियान्वयन स्तर और प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन में उनके परिणामों का संख्यात्मक रूप से बहुत कम आँकलन किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में इसी शून्यता को भरने का प्रयास किया गया है। इसमें पेसा अधिनियम की प्रभावशीलता का सांख्यिकीय और मात्रात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। अनुभवजन्य साक्ष्यों (Empirical Evidence) के आधार पर यह समझने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार ग्रामसभा, वास्तव में; प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण और प्रबन्धन में योगदान दे रही है? अध्ययन में यह देखा गया कि ग्रामसभा की कितनी बैठकें आयोजित होती हैं, उनमें कितनी उपस्थिति रहती है, किन प्रकार के निर्णय लिए जाते हैं और उन निर्णयों का स्थानीय स्तर पर क्या प्रभाव पड़ता है? साथ ही; शिक्षा, सामाजिक-आर्थिक स्थिति और प्रशासनिक सहयोग जैसे कारकों का ग्रामसभा की प्रभावशीलता पर क्या असर पड़ता है?

इस अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष शैक्षिक और शोध-दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ नीतिगत स्तर पर भी सहायक होंगे। यदि ग्रामसभाओं की वास्तविक चुनौतियाँ और उनकी प्रभावशीलता को आँकड़ों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सके, तो इससे नीति-निर्माताओं, प्रशासन और स्वयं जनजातीय समाज को यह समझने में मदद मिलेगी कि अधिनियम की भावना को कैसे अधिक प्रभावी बनाया जा सकता है? साथ ही; यह अध्ययन अन्य अनुसंधानकर्ताओं को भी मात्रात्मक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रेरित करेगा, जिससे आने वाले समय में पेसा अधिनियम और प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन पर अधिक सशक्त और सन्तुलित शोध-कार्य सामने आएँगे।

अध्ययन के उद्देश्य– इस शोध-पत्र के लिए निम्न शोध-उद्देश्यों का निर्माण किया गया है– • पेसा अधिनियम के अन्तर्गत ग्रामसभा की भूमिका का मूल्यांकन करना। • शिक्षा-स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच सम्बन्ध की जाँच करना। • लिंग (Gender) के आधार पर संसाधन प्रबन्धन में भागीदारी का तुलनात्मक विश्लेषण करना। • पेसा अधिनियम की व्यावहारिक चुनौतियों की पहचान करना।

परिकल्पनाएँ– इस शोध-पत्र के लिए निम्नलिखित परिकल्पनाओं को निर्मित किया गया है– • H01 : पुरुष और महिला प्रतिभागियों में संसाधन प्रबन्धन की भागीदारी में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं होगा। • H02 : शिक्षा-स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच कोई सकारात्मक सह-सम्बन्ध नहीं होगा।

परिसीमा : १. यह शोध मध्य प्रदेश के अनूपपुर जनपद के जनजातीय बहुल पाँच गाँव के अध्ययन तक सीमित है। २. यह अध्ययन सौ महिलाओं और सौ पुरुषों पर किया गया है।

शोध-प्रणाली : यह अध्ययन एक मात्रात्मक सर्वेक्षण (Quantitative Survey Research) पर आधारित है, जिसका उद्देश्य पेसा अधिनियम की प्रभावशीलता और प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन में ग्रामसभा की भूमिका का अनुभवजन्य विश्लेषण करना है। इस अनुसंधान में २०० उत्तरदाताओं को सम्मिलित किया गया, जिनमें १०० पुरुष और १०० महिलाएँ सम्मिलित हैं, जिससे दोनों लिंगों के दृष्टिकोण और अनुभवों का समान प्रतिनिधित्व सुनिश्चित

किया जा सके। नमूना चयन हेतु स्तरीकृत यादृच्छिक नमूना पद्धति (Stratified Random Sampling) का प्रयोग किया गया, जिससे अनुसंधान में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक और जनसांख्यिकीय स्तरों का उचित प्रतिनिधित्व हो सके। अध्ययन में आँकड़े एकत्र करने के लिए त्रि-बिन्दु संरचित प्रश्नावली का उपयोग किया गया, जिसमें कुल २० प्रश्न शामिल थे। प्रश्नावली को इस प्रकार तैयार किया गया कि यह उत्तरदाताओं की जागरूकता, भागीदारी, निर्णय-प्रक्रिया और संसाधन प्रबन्धन से सम्बन्धित धारणाओं को स्पष्ट रूप से माप सके। संगृहीत आँकड़ों का विश्लेषण करने हेतु विभिन्न सांख्यिकीय तकनीकों का प्रयोग किया गया। सबसे पहले वर्णनात्मक सांख्यिकी (Descriptive Statistics) का उपयोग कर औसत, मानक विचलन तथा प्रतिशत वितरण ज्ञात किए गए। इसके पश्चात; टी-परीक्षण द्वारा पुरुष और महिला उत्तरदाताओं की धारणाओं की तुलना की गयी। अन्त में; कार्ल पियर्सन सह-सम्बन्ध गुणांक का प्रयोग कर शिक्षा, जागरूकता और ग्रामसभा की प्रभावशीलता के बीच सम्बन्धों की जाँच की गयी।

परिणाम एवं विश्लेषण (वर्णनात्मक सांख्यिकी)

ग्रामसभा की भूमिका : सर्वेक्षण के परिणाम से स्पष्ट है कि ६८% उत्तरदाताओं ने ग्रामसभा को संसाधन प्रबन्धन में प्रभावी माना। उनका मानना है कि ग्रामसभा जल, जंगल और जमीन के संरक्षण में सक्रिय भूमिका निभाती है तथा सामुदायिक निर्णय लेने की प्रक्रिया को सशक्त बनाती है। दूसरी ओर, ३२% उत्तरदाताओं ने ग्रामसभा की भूमिका को केवल आंशिक रूप से प्रभावी बताया। इन उत्तरदाताओं का तर्क है कि कई बार शिक्षा, प्रशासनिक सहयोग की कमी और सीमित जन-भागीदारी के कारण ग्रामसभा अपने अधिकारों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाती। यह परिणाम ग्रामसभा की क्षमता और उसकी चुनौतियाँ– दोनों को स्पष्ट करता है।

लिंग आधारित अन्तर– लिंग आधारित अन्तर को ज्ञात करने के लिए टी-परीक्षण किया गया, जिसका विवरण निम्न प्रकार से है–

तालिका-१ : पुरुष और महिला प्रतिभागियों में संसाधन प्रबन्धन की भागीदारी की जाँच हेतु टी-परीक्षण

लिंग	कुल	मध्यमान	प्रामाणिक विचलन	टी-परीक्षण
पुरुष	१००	२२.६७	४.३२	१७.८८
महिला	१००	१८.०२	३.०९	
df=१९८, p< .०५				

व्याख्या : अध्ययन के आँकड़ों से पता चलता है कि पुरुष उत्तरदाताओं (N=१००) का मध्यमान (Mean) २२.६७ तथा प्रामाणिक विचलन (SD) ४.३२ पाया गया, जबकि महिला उत्तरदाताओं (N=१००) का मध्यमान १८.०२ और प्रामाणिक विचलन ३.०९ रहा। दोनों समूहों के बीच अन्तर की जाँच हेतु किए गए स्वतन्त्र नमूना t-परीक्षण (Independent t-test) का मान t=१७.८८ प्राप्त हुआ, जो df=१९८ तथा p<.०५ स्तर पर सांख्यिकीय रूप से सार्थक (Statistically Significant) है। प्रामाणिक मान (Critical Value) २.१०० है, जबकि प्राप्त t-मूल्य इससे कहीं अधिक है। इसका अर्थ है कि पुरुष और महिला उत्तरदाताओं की धारणाओं में उल्लेखनीय और वास्तविक अन्तर विद्यमान है। इस प्रकार से, शून्य परिकल्पना– 'पुरुष और महिला प्रतिभागियों में संसाधन प्रबन्धन की भागीदारी में कोई महत्त्वपूर्ण अंतर नहीं

होगा'– निरस्त की जाती है।

शिक्षा और संरक्षण जागरूकता का सम्बन्ध : शिक्षा-स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच सह-सम्बन्ध की जाँच के लिए कार्ल पियर्सन सह-सम्बन्ध गुणांक का उपयोग किया गया, जो तालिका के रूप में निम्न प्रकार से प्रदर्शित है–

तालिका- २ : शिक्षा स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच सह-सम्बन्ध

चर	कुल	r
शिक्षा-स्तर	२००	०.३८, p<०.०१
संरक्षण-जागरूकता		

व्याख्या : सर्वेक्षण के परिणामों से प्राप्त सह-सम्बन्ध (Correlation) के अनुसार, शिक्षा-स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच एक सकारात्मक तथा मध्यम स्तर का सम्बन्ध (r= ०.३८, p<०.०१) पाया गया। यह दर्शाता है कि जैसे-जैसे उत्तरदाताओं का शिक्षा-स्तर बढ़ता है, वैसे-वैसे उनकी संरक्षण-जागरूकता भी बढ़ती है। २०० उत्तरदाताओं पर आधारित यह आँकड़ा सांख्यिकीय रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा का स्तर पर्यावरणीय एवं संसाधन संरक्षण सम्बन्धी दृष्टिकोण और व्यवहार पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालता है। इस प्रकार शिक्षा, जनजातीय या ग्रामीण समुदायों में संरक्षण-चेतना को सुदृढ़ करने का एक प्रमुख कारक सिद्ध होती है। अत: शून्य परिकल्पना– 'शिक्षा-स्तर और संरक्षण-जागरूकता के बीच कोई सकारात्मक सह-सम्बन्ध नहीं होगा'– निरस्त की जाती है।

चर्चा : अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि पेसा अधिनियम ने ग्रामसभा की भूमिका को निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में अधिक प्रभावी और सशक्त बनाया है। इससे यह सुनिश्चित होता है कि स्थानीय स्तर पर निर्णयों में समुदाय की भागीदारी बढ़ी है और संसाधनों के प्रबन्धन में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना मजबूत हुई है। विशेष रूप से महिलाएँ, जो परम्परागत रूप से जल, जंगल और जमीन से जुड़े कार्यों में सक्रिय रही हैं, अब अधिनियम के अन्तर्गत संसाधन प्रबन्धन और निर्णय-निर्माण में अधिक योगदान दे रही हैं। यह उनकी सामाजिक स्थिति को सशक्त बनाने के साथ सामुदायिक विकास और पर्यावरणीय स्थिरता को भी बढ़ावा देता है। किंडो ने भी अपने एक अध्ययन में यही पाया है (किंडो, २०२५)। अध्ययन में यह भी देखा गया कि शिक्षा का स्तर संरक्षण सम्बन्धी दृष्टिकोण को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। शिक्षित व्यक्ति संसाधनों के सतत उपयोग और संरक्षण की दिशा में अधिक जागरूक और जिम्मेदारीपूर्ण निर्णय लेने में सक्षम होते हैं। हालाँकि, पेसा अधिनियम की प्रभावशीलता में कुछ चुनौतियाँ भी सामने आती हैं। प्रशासनिक ढाँचे की जटिलताएँ, सीमित संसाधन और ग्रामवासियों में जागरूकता की कमी ऐसे कारक हैं, जो अधिनियम की पूरी क्षमता को सीमित करते हैं। इसके परिणामस्वरूप; संसाधनों का समुचित प्रबन्धन और सामुदायिक निर्णय-निर्माण अपेक्षित स्तर पर नहीं पहुँच पाता। इसलिए आवश्यक है कि प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सरल किया जाए, संसाधनों की उपलब्धता सुनिश्चित की जाए और समुदाय, विशेषकर महिलाओं और युवा वर्ग में जागरूकता बढ़ाई जाए, जिससे पेसा अधिनियम का उद्देश्य पूर्ण रूप से साकार हो सके।

निष्कर्ष : प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट है कि पेसा अधिनियम-१९९६ जनजातीय क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधन प्रबन्धन को सशक्त बनाने में एक महत्त्वपूर्ण उपकरण के रूप में कार्य कर रहा है। अध्ययन के परिणामों से यह सिद्ध होता है कि ग्रामसभा सामुदायिक संसाधनों के उपयोग

और संरक्षण की प्रक्रिया में एक केन्द्रीय भूमिका निभा रही है तथा यह स्थानीय स्तर पर निर्णय-निर्माण और योजना-निर्माण में भी सक्रिय योगदान दे रही है। महिलाओं की बढ़ती भागीदारी इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि सतत संसाधन प्रबन्धन में लैंगिक दृष्टिकोण अपनाना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वे परम्परागत रूप से जल, जंगल और जमीन से जुड़े कार्यों में अनुभव और ज्ञान रखती हैं। इसके अतिरिक्त; शिक्षा और संरक्षण-जागरूकता के बीच सकारात्मक सह-सम्बन्ध यह संकेत देता है कि जनजातीय समुदाय में साक्षरता और प्रशिक्षण-कार्यक्रम संसाधन-प्रबन्धन को अधिक प्रभावी बनाने में सहायक हो सकते हैं।

पेसा अधिनियम के क्रियान्वयन में कई चुनौतियाँ विद्यमान हैं, जैसे– प्रशासनिक हस्तक्षेप, सीमित संसाधन और ग्रामवासियों में जागरूकता की कमी। यदि ग्रामसभाओं को पर्याप्त प्रशिक्षण, वित्तीय सहायता और नीति-स्तरीय समर्थन प्रदान किया जाए, तो वे प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण कर सकती हैं और सतत विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति में भी योगदान दे सकती हैं। इस प्रकार, अध्ययन यह सुझाव देता है कि पेसा अधिनियम की प्रभावशीलता सुनिश्चित करने के लिए बहु-आयामी रणनीतियाँ अपनायी जाएँ, जिनमें शिक्षा, जागरूकता अभियान, महिला सशक्तीकरण और सहभागी प्रबन्धन को प्राथमिकता दी जाए। इस तरह, प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण और जनजातीय समाज का सतत विकास साथ-साथ सुनिश्चित किया जा सकता है। इससे संधारणीय विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है।

सन्दर्भ-सूची

- शाशा, वी. (२०१७)– ट्राइबल गवर्नेंस एण्ड नेचुरल रिसोर्स मैनेजमेण्ट– सोशल चेंज, ४७ (२), २३४–२४९
- मिश्र, ए. (२०१४)– फारेस्ट राइट्स ग्रामसभा एण्ड पेसा : ए क्रिटिकल अनालिसिस, इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, ४९ (१६), ४३–५०
- कुमार, के. (२०१८)– रोल ऑफ़ पंचायत इन ट्राइबल डेवलपमेण्ट : एन अनालिसिस ऑफ़ पेसा एक्ट, इण्डियन जर्नल ऑफ़ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, ६४ (२), २११–२२७
- मेहता, पी. (२०१५)– पेसा एण्ड ट्राइबल राइट्स : एक्जामिंग गवर्नेंस इन मध्य प्रदेश, इण्डियन जर्नल ऑफ़ पोलिटिकल साइंस, ७६ (१), १०१–११८.
- अम्बागुडिया जे. एण्ड कानूनगो, पी. (सम्पादित) (२०२१)– हैण्डबुक ऑफ़ ट्राइबल पॉलिटिक्स इन इंडिया, सेज प्रकाशन
- मोहंती, आर. (२००१). डेमोक्रेसी एण्ड डेवलपमेण्ट इन ट्राइबल एरियाज : पेसा एण्ड इट्स इम्प्लीमेण्टेशन, इकनोमिक एण्ड पोलिटिकल विकली, ३६ (५२), ४७९१–४७९५
- बाविस्कर, ए. (२००५)– इन द बेली ऑफ़ द रिवर : ट्राइबल कनफ्लिक्ट ओवर डेवलपमेण्ट इन द नर्मदा वेल्ली, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- शर्मा, एस. एण्ड सिंह, पी. (२०२०)– कम्युनिटी पार्टिसिपेशन इन नेचुरल रिसोर्स मैनेजमेण्ट : ए स्टडी ऑफ़ ट्राइबल विलेज, जर्नल ऑफ़ रूरल डेवलपमेण्ट, ३९ (४), ५६९–५८५
- मेनन, पी. एस. के. एण्ड बख्शी, डी. सिन्हा (२००३)– पंचायतराज इन शेड्यूल्ड एरियाज : ए क्रिटिकल स्टडी, दिल्ली : कांसेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी
- किण्डो, डी. पी. (२०२५)– ट्वेंटी एट इयर्स ऑफ़ पेसा एक्ट इन इंडिया : डेवलपमेण्ट ऑर डेप्रिवेशन? पर्सपेक्टिव ऑफ़ एलेक्टेड ट्राइबल लीडर. डेवलपमेण्ट इन प्रैक्टिस. ttps://doi.org/10.1080/09614524.2025.2524596.ResearchGate

●

न्याय प्रशासन एवं प्रादेशिक भाषाएँ

डॉ. रेशमा कुमारी*

सार : भाषा किसी भी प्राणी के विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम है, जिसके द्वारा एक प्राणी दूसरे प्राणी से अपने विचारों को अभिव्यक्त करता है। हमारे देश में विभिन्न भाषाओं का प्रचलन है। यदि अपने देश के राज्यों को देखा जाए, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता के बाद राज्यों का निर्माण मूलत: भाषा के आधार पर ही किया गया है। भाषा के दृष्टिकोण से अपने देश को अगर चार खण्डों में विभाजित किया जाए, तो उत्तर भारत के अधिकतर राज्यों में हिन्दी का प्रयोग होता है। पश्चिम भारत में स्थानीय भाषा मराठी, गुजराती आदि के साथ-साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग होता है। इसी प्रकार से, पूर्वी भारत में बांग्ला, उड़िया, असमी के साथ-साथ हिन्दी भाषा का भी प्रचलन है। दक्षिण भारत में मलयालम, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ भाषा आदि का बहुतायत प्रयोग किया जाता है। इन राज्यों में हिन्दी का प्रचलन कम है, लेकिन हिन्दी अछूती नहीं है। स्वतन्त्रता से पूर्व, ब्रिटिश साम्राज्य का इस देश में राज होने के कारण; अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व हमारे देश में बना रहा। संविधान की रचना करते समय संविधान-निर्माताओं का ध्यान भाषा की तरफ आकर्षित हुआ, इसलिए आंग्ल-भारतीय समुदाय का ध्यान रखते हुए, उनके लिए विशेष उपबंध का उल्लेख करते हुए, राजभाषा का प्रावधान संविधान के अनुच्छेद ३४३ में दिया गया। अपने देश के न्यायालयों में प्रयोग की जाने वाली भाषा पर ध्यान केन्द्रित किया जाए, तो देश के सभी उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में प्राय: अंग्रेजी भाषा में ही कार्य सम्पादित किया जाता है। न्यायालयों में, विशेषकर उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में अंग्रेजी भाषा में कार्य होने से आम जनता को न्यायालय की कार्यवाही को समझने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अधीनस्थ न्यायालयों में हिन्दी या स्थानीय भाषा में कार्य होने के कारण उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालय द्वारा अंग्रेजी भाषा में दिए गए निर्णय को अधिकतर न्यायाधीशों को समझने एवं उसे सन्दर्भित करने हेतु अनुवाद करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे अनावश्यक न्यायालय का बहुमूल्य समय बर्बाद होता है। अत: मेरे विचार से हिन्दी भाषा, जो अन्य भाषाओं से आसान व सरल है, उसे आत्मसात् कर राजभाषा के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

संकेत-सूचक : न्याय प्रशासन, भाषा, राजभाषा, न्यायालय।

किसी प्राणी को अपने विचारों व अभिव्यक्ति को दूसरों तक पहुँचाने के लिए एक माध्यम की आवश्यकता होती है, जिसे वह भाषा के माध्यम से ही सम्भव बना सकता है। जिस प्रकार से हमारे देशभक्ति गीत 'सारे जहाँ से अच्छा' में एक पंक्ति दी गयी है– 'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना', उसी प्रकार से; कोई भी भाषा अन्य भाषा से बैर रखना नहीं सिखाती है।

परिचय : देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त राज्यों का निर्माण भाषा के आधार पर हुआ। भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। अगर भाषा के आधार पर देश को वर्गीकृत करके देखा जाए, तो उत्तर भारत में अधिकतर राज्यों में हिन्दी का प्रयोग होता है। पश्चिम भारत में स्थानीय भाषा मराठी, गुजराती आदि के साथ-साथ हिन्दी भाषा का भी प्रयोग सरकारी काम-काज व

* असिस्टेण्ट प्रोफेसर– सैनिक लॉ कॉलेज, जगतपुर, हनुमानगंज, प्रयागराज (उ.प्र.)

दैनिक बोलचाल में होता है। इसी प्रकार से, पूर्वी भारत में बांग्ला, उड़िया, असमी के साथ-साथ हिन्दी भाषा का भी प्रचलन है। दक्षिण भारत में मलयालम, तेलुगू, कन्नड़ भाषा आदि का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि इन क्षेत्रों में हिन्दी भाषा का प्रयोग व प्रचलन कम है, परन्तु हिन्दी अछूती नहीं है। भारत की मुख्य भाषा हिन्दी ही है, जो सभी देशवासियों को एक सूत्र में जोड़ती है। भारत में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो अन्य भाषाओं की तुलना में सबसे सरल और सुबोध है। कई लेखकों और कवियों ने हिन्दी के माध्यम से ही देश के लोगों में राष्ट्रीय चेतना को जगाया था, जिसे वर्तमान में भी देखा जा सकता है।

उद्देश्य : वही भाषा जीवित रहती है, जो जनता के द्वारा प्रयुक्त होती है। वह न तो विद्वानों द्वारा गढ़ी जाती है, न तो कोशों द्वारा सिखाई जाती है। वह गतिशील तथा वृद्धिशील प्रकृति की है, जिसका विस्तार होता रहता है। भाषा जनता की होनी चाहिए, जड़ता की नहीं। भाषा राज-काज तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह हमारी सांस्कृतिक विरासत की सन्देशवाहिका भी है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, आम जनता को उनके स्थानीय भाषा में न्याय पहुँचाने के लिए, हमें व हमारे न्यायालयों को कदम उठाना चाहिए, ताकि आम जनता तक उनकी समझ में आ सकने वाली भाषा में उन्हें न्याय प्राप्त हो सके।

भाषाओं का इतिहास : प्राचीन काल में भारत में संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं का राजभाषा के रूप में प्रयोग होता था। राजपूत काल में तत्कालीन भाषा हिन्दी का प्रयोग राज-काज में किया जाता था। किन्तु भारत में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के बाद, धीरे-धीरे हिन्दी का स्थान फ़ारसी और अरबी भाषाओं ने ले लिया। इस बीच में भी राजपूत नरेशों के राज्य क्षेत्रों में हिन्दी का प्रयोग बराबर प्रचलित रहा।

१८५५ में लॉर्ड मैकाले ने अंग्रेजी को भारत की शिक्षा और प्रशासन की भाषा के रूप में स्थापित कर दिया था। धीरे-धीरे वह न केवल भारतीय प्रशासन की भाषा बन गयी, बल्कि शिक्षा, व्यापार, उद्योग व न्याय प्रशासन की भाषा के रूप में भी प्रतिस्थापित हो गयी। फिर भी; अंग्रेजी शासक ये महसूस करते रहे कि भारत की भाषाओं को बहुत दिनों तक दबाया नहीं जा सकता है, अत: उन्होंने हिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी को और अन्य प्रदेशों में, वहाँ की स्थानीय भाषाओं को लागू करने की अनुमति प्रदान कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी और भारतीय भाषाएँ विकसित होने लगीं और वे उच्च शिक्षा और न्याय प्रशासन का माध्यम भी बनीं। इतना ही नहीं, स्वतन्त्रता-संग्राम के साथ-साथ हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने भारतीय भाषाओं और विशेषकर हिन्दी को राष्ट्रभाषा और सम्पर्क भाषा के रूप में प्रचलित कराने का प्रयास किया। इस राष्ट्रीय जागरण के परिणामस्वरूप; हिन्दी का उत्तरोत्तर विकास होने लगा और ये मत व्यक्त होने लगा कि देश के अधिकांश लोगों की बोली होने के कारण हिन्दी को भारत की राष्ट्रीय भाषा बनाया जाना चाहिए।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भाषाओं की स्थिति : भारत की स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने एक बार विचार व्यक्त किया था कि राष्ट्रभाषा बनाने के लिए किसी भाषा में निम्न आवश्यक गुण होने चाहिए–

- वह अधिकांश देशवासियों द्वारा बोली जाती हो।
- सारे देश को उसे सीखने में आसानी हो।
- उसे सरकारी अधिकारी आसानी से सीख सकें।

- वह समस्त भारत में धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक सम्पर्क के माध्यम के रूप में प्रयोग के लिए सक्षम हो।
- उसे न्यायालयों, विधिक क्षेत्रों एवं प्रशासनिक अधिकरणों-अभिकरणों में आसानी से अपनाया जा सके।

उनका विचार था कि भारतीय भाषाओं में केवल हिन्दी ही एक भाषा है, जिसमें सारे गुण मौजूद हैं। उनके अनुसार, एक राष्ट्रभाषा की जगह हिन्दी ही ले सकती है, दूसरी भाषा नहीं। महात्मा गाँधी के विचारों का परिणाम ये हुआ कि जब 'भारतीय संविधान सभा' में संघ सरकार की राजभाषा निश्चित करने का प्रश्न आया, तो विशद् विचार-मन्थन के बाद १४ सितम्बर, १९४९ को हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा घोषित किया गया। इसी दिन १४ सितम्बर, १९४९ से ही भारत में 'हिन्दी दिवस' प्रत्येक वर्ष मनाया जाता है और भारत के हर राज्य के विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों, प्रशासन, अधिवक्ताओं और न्यायाधीशों द्वारा संगोष्ठी के माध्यम से हिन्दी दिवस पूरे सम्मान के साथ मनाया जाता है।

सांविधानिक स्थिति : भारत का संविधान २६ जनवरी, १९५० को लागू हुआ और तभी से देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी विधिवत भारत संघ की राजभाषा है। इस प्रकार से तो हिन्दी को राजभाषा के रूप में १९५० में ही घोषित कर दिया गया था, किन्तु केन्द्र सरकार के कामों में हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान देने के लिए गम्भीरता से प्रयास केन्द्र सरकार द्वारा १९६० और विशेषकर 'राजभाषा अधिनियम–१९६३' के पास होने के बाद से प्रारम्भ किया गया। उस समय यह अनुभव किया गया कि हिन्दी के माध्यम से प्रशासन के कार्य को चलाया जाए, जिसके लिए कुछ प्रारम्भिक तैयारियाँ करने की आवश्यकता पड़ेगी, जैसे–

- प्रशासनिक एवं विधि साहित्य का हिन्दी में अनुवाद
- अहिन्दी भाषी सरकारी कर्मचारियों का हिन्दी प्रशिक्षण
- हिन्दी टाइपराइटरों एवं अन्य यान्त्रिक शब्दों की व्यवस्था
- प्रशासनिक, वैज्ञानिक, तकनीकी एवं विधि शब्दावली का निर्माण आदि।

इस प्रकार से, सरकारी काम-काज में हिन्दी का प्रयोग बढ़ाने के लिए १९७६ में राजभाषा नियम बनाया गया। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था, जिससे हिन्दी को प्रयोग में लाने के लिए काफी सहायता मिली है। इसके साथ-ही-साथ; राज्यों में उनकी स्थानीय भाषा के प्रयोग के लिए स्वतन्त्रता दी गयी।

सांविधानिक प्रावधान : स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य का इस देश पर राज होने के कारण अंग्रेजी भाषा का प्रभुत्व हमारे देश में बना रहा। संविधान की रचना करते समय संविधान निर्माताओं का ध्यान भाषा की तरफ आकर्षित हुआ। हमारे नीति-निर्माताओं ने व्यापक सोच के उपरान्त भाषीय संकीर्णता और क्षेत्रीयता को तरजीह दी। फलत: २२ भाषाओं को राज्यों की राजभाषा के रूप में मान्यता प्रदान की गयी और इस प्रकार से, हर राज्य अपनी स्थानीय भाषा में काम करने, बोलने व लिखने के लिए स्वतन्त्र है। हमारे देश में बोली जाने वाली भाषा के आधार पर आंग्ल-भारतीय समुदाय का ध्यान रखते हुए, उनके लिए विशेष उपबन्ध का उल्लेख करते हुए, राजभाषा का प्रावधान संविधान में किया गया। हमारे भारतीय संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में अंगीकृत किया गया है, न कि राष्ट्रभाषा के रूप में। अत: यह समझना गलत है कि संविधान के अनुसार हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। भारतीय संविधान में संघ तथा राज्यों की

राजभाषा के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध किये गए हैं। अनुच्छेद ३४३ के खण्ड (१) में संघ की राजभाषा हिन्दी एवं लिपि देवनागरी होने का प्रावधान दिया गया है। खण्ड (२) में संविधान के प्रारम्भ से १५ वर्ष की अवधि तक संघ की सभी शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किये जाने का प्रावधान दिया गया। लेकिन इसके साथ-ही-साथ, अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त; हिन्दी भाषा का भी राष्ट्रपति द्वारा प्रयोग करने हेतु प्राधिकृत करने का भी प्रावधान दिया गया।

राज्यों एवं न्यायालयों में भाषा के उपयोग के सन्दर्भ में वर्तमान स्थिति : यह हमारे देश की विडम्बना है कि सांविधानिक व्यवस्था के बावजूद देश में अधिकतर बोली जाने वाली सरल भाषा हिन्दी को स्वतन्त्रता-प्राप्ति के ७८ वर्ष बाद भी राजभाषा का स्थान प्राप्त नहीं हो सका है, जो एक चिन्ता का विषय है और यही कहा जा सकता है कि हमारे देश के राजनेताओं में इच्छाशक्ति का अभाव है।

भाषा के दृष्टिकोण से अपने देश को अगर चार खण्डों में विभाजित किया जाए, तो उत्तर भारत में अधिकतर राज्यों में हिन्दी का प्रयोग होता है। पश्चिम भारत में स्थानीय भाषा मराठी, गुजराती आदि के साथ-साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग होता है। इसी प्रकार से, पूर्वी भारत में बांग्ला, उड़िया, असमी के साथ-साथ हिन्दी भाषा का भी प्रचलन है। दक्षिण भारत में मलयालम, तमिल, तेलुगू, कन्नड़ भाषा आदि का बहुतायत प्रयोग किया जाता है। इन राज्यों में हिन्दी का प्रचलन कम है, लेकिन हिन्दी अछूती नहीं है। दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए अधिकतर विश्वविद्यालयों, में हिन्दी विभाग/हिन्दी अनुवाद विभाग की स्थापना की गयी है। इसी प्रकार से, अपने देश के न्यायालयों में प्रयोग की जाने वाली भाषा पर ध्यान केन्द्रित किया जाए, तो देश के सभी उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में अंग्रेजी भाषा में ही कार्य सम्पादित किया जाता है। अधीनस्थ न्यायालयों में, उत्तर भारत को छोड़कर, अधिकतर राज्यों में स्थानीय भाषा के साथ-साथ अंग्रेजी में कार्य होता है। न्यायालयों में, विशेषकर उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय में अंग्रेजी भाषा में कार्य होने से आम जनता को न्यायालय की कार्यवाही को समझने एवं अपने भावों को सही रूप में पहुँचाने में काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और उन्हें पूर्ण रूप से अधिवक्ताओं के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। अधिवक्ता द्वारा वाद या याचिका में किन तथ्यों का समावेश किया गया, उसकी जानकारी होने से अधिकतर वादकारी अनभिज्ञ रह जाते हैं, जिससे सही अर्थ में उन्हें न्याय मिलने में भी कठिनाई होती है। इसी प्रकार से, देश के कई राज्यों में ऐसी स्थिति देखने को मिलती है कि पुलिस की कार्यवाही में भी पक्षकार अपना कथन कुछ कहते हैं और पुलिस अधिकारियों द्वारा उनकी रिपोर्ट में कुछ और ही लिखित मामले देखने को मिलते हैं, क्योंकि व्यक्ति द्वारा उसकी अपनी भाषा में कथन दिया जाता है, परन्तु कभी-कभी पुलिस अधिकारियों द्वारा अंग्रेजी भाषा का प्रयोग अपनी रिपोर्ट में किया जाता है, जिसके कारण व्यक्ति अपनी कही हुई बातों की सच्चाई नहीं जान पाता। ये मामले ज्यादातर गरीब व कम पढ़े-लिखे व्यक्तियों के प्रति देखने को मिलते हैं और जब तक इनके मामले न्यायालय तक पहुँचते हैं, काफी कुछ उनके कथन के विपरीत उन्हें देखने व सुनने को मिलता है। इस प्रकार से, भाषा की क्लिष्टता के कारण गरीब व आम जनता को न्याय पाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गयी व्यवस्था पूरे देश में लागू होती है। इसी प्रकार से, उच्च न्यायालयों द्वारा दी गयी व्यवस्था उस राज्य के सभी न्यायालयों

पर बाध्यकारी होती है। इसलिए उच्च न्यायालयों द्वारा अंग्रेजी भाषा में दिए गए निर्णय से अधीनस्थ न्यायालयों में कार्यरत न्यायाधीशों को अनुवाद करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। जिला न्यायालयों में हिन्दी या स्थानीय भाषा में कार्य होने के कारण उच्चतम न्यायालय द्वारा अंग्रेजी में दिए गए निर्णय को अधिकतर न्यायाधीशों को समझने एवं उसे सन्दर्भित करने हेतु अनुवाद करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ये समस्याएँ केवल अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों के सामने ही नहीं आती हैं, बल्कि अधिवक्ताओं के सामने भी आती हैं। उन्हें भी उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के निर्णय व आदेशों को समझने में कठिनाई होती है, जिसके कारण वह काफी सारी बातें अपने मुवक्किल को समझा नहीं पाते हैं और वह उन्हें न्याय दिलाने में सफल नहीं हो पाते हैं। यह परेशानी केवल अधीनस्थ न्यायालयों तक ही सीमित नहीं है, उच्च न्यायालयों एवं उच्चतम न्यायालय को भी अन्य भाषाओं में अधीनस्थ न्यायालयों के निर्णय व आदेशों के विरुद्ध दाखिल अपील व याचिका की सुनवाई के समय व निर्णय पारित करते समय प्रपत्रों, निर्णयों आदि का अंग्रेजी में अनुवाद करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जिससे अनावश्यक न्यायालय का बहुमूल्य समय बर्बाद होता है। यदि हम केवल अपने उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद उच्च न्यायालय की बात करें, तो कई ऐसे न्यायमूर्ति भी हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा में कार्य करने को प्रधानता दिया है। उनमें से प्रमुख हैं– पूर्व न्यायमूर्ति बी. एल. यादव एवं पूर्व न्यायमूर्ति प्रेम शंकर गुप्ता, जिन्होंने जनमानस के हित में अंग्रेजी के स्थान पर अपनी कार्य करने की पद्धति में हिन्दी को वरीयता दी। इसी प्रकार से, वर्तमान में अधिवक्ता पण्डित दया शंकर मिश्रा द्वारा अदालतों में याचिकाएँ हिन्दी में ही दाखिल की जाती हैं, जिससे प्रतीत होता है कि कुछ न्यायमूर्तिगण व अधिवक्ताओं द्वारा जनमानस की इच्छाओं एवं उनके हित को देखकर हिन्दी को वरीयता देने का प्रयास किया गया है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हर राज्य में वहाँ के अधीनस्थ न्यायालयों के साथ-साथ वहाँ के उच्च न्यायालयों में भी वहाँ की स्थानीय भाषा में कार्य होना चाहिए, जो कि वर्तमान समय की जरूरत है और जिसके माध्यम से वहाँ की स्थानीय जनता को न्याय मिलने में सरलता व सुगमता हो सके। इसी के साथ; उच्चतम न्यायालय में भी अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी का भी प्रयोग होना चाहिए, जिससे हिन्दी भाषा को सही अर्थ में राजभाषा का सांविधानिक दर्जा प्राप्त हो सके।

सुझाव : अत: समय आ गया है कि हम भाषा के सवाल को गम्भीरता से लें। इसे सिर्फ अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सीमित करना मुनासिब नहीं है। भाषा के लिए सभ्य-असभ्य, विकसित और अविकसित, सम्पन्न और असम्पन्न जैसे पैमाने लागू करना भी ठीक नहीं है। इन्हीं मान्यताओं के चलते हम अपनी भाषिक सम्पदा को गँवाते चले आ रहे हैं। हम सभ्य, विकसित और सम्पन्न होने के लिए दूसरी भाषाओं पर निर्भर होने लगे और इस चक्कर में अपनी मातृभाषाओं से विमुख होते चले जा रहे हैं। मातृभाषाओं में हिन्दी भाषा हमारे सामने आयी। दुर्भाग्य से हम हिन्दी को लेकर ख़ास तरह की बेपरवाही बरतते रहे हैं। अंग्रेजी के लिए सम्मान जरूरी है, लेकिन उसके मूल में भाषा-प्रेम नहीं है। मातृभाषाओं के माध्यम से हम बहुत कुछ ऐसा सीखते हैं, जो हमें सामाजिक और समावेशी बनाती है और हम एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। हमें भाषाओं के लोकतन्त्र को समझना चाहिए और उसकी अवतारणा करनी चाहिए। तभी हम भाषा की निधि को नष्ट होने से बचा सकेंगे और उसे भावी पीढ़ी को सौंप सकेंगे। हमें देखना यह

चाहिए कि इस निधि के भीतर ऐसा क्या है, जो हमारे आधुनिक जीवन को बेहतर बनाने के काम आ सकता है? अंग्रेजी भाषा को हमें शान की भाषा न बनाते हुए केवल इसे हमें आदान-प्रदान का माध्यम ही बने रहने देना चाहिए।

इस शोध-पत्र के माध्यम से मैं निम्न सुझाव देना चाहती हूँ–

- जनमानस के हित को ध्यान में रखते हुए राज्यों के अधीनस्थ न्यायालयों के सहित वहाँ के उच्च न्यायालयों में भी अंग्रेजी के साथ-साथ स्थानीय भाषा में कार्य होना चाहिए।
- उच्चतम न्यायालय में भी अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी भाषा का प्रयोग होना चाहिए, ताकि जनमानस न्यायिक कार्यवाहियों को अच्छे से समझ सके।
- विधि परीक्षाओं में अंग्रेजी के साथ-साथ स्थानीय भाषा और हिन्दी भाषा में भी प्रश्न-पत्र आना चाहिए, ताकि परीक्षार्थी प्रश्न-पत्र को अच्छे से समझकर हल कर सकें।

अत: मेरे विचार से संविधान में दर्जा प्राप्त राजभाषा हिन्दी, जो हमारे देश में अन्य भाषाओं की अपेक्षा सबसे ज्यादा बोली व समझी जाने वाली भाषा है तथा अन्य भाषाओं से आसान व सरल है, उसे आत्मसात् कर राजभाषा के रूप में स्वीकार किया जाए। हिन्दी भाषा पर मैं इसलिए जोर नहीं दे रही हूँ कि हम हिन्दी भाषी क्षेत्र के रहने वाले हैं और हमारी मातृभाषा हिन्दी है, बल्कि राष्ट्रहित, राष्ट्र-गौरव और हमारे संविधान-निर्माताओं की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए मैं अपने देशवासियों से अपील करती हूँ कि हिन्दी भाषा को सच्चे दिल से अपनाकर, राष्ट्रहित और राष्ट्र-गौरव को अपने हित से ऊपर रखते हुए, राष्ट्रभाषा का स्थान दिया जाए। मैं इस शोध-पत्र के माध्यम से कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका से अपील करती हूँ कि अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ हिन्दी भाषा का समकक्ष प्रयोग कर, हिन्दी को राजभाषा का स्थान प्रदान करते हुए, आम जनता व देश के हर व्यक्ति में हिन्दी को बोलने व समझने की जिज्ञासा उत्पन्न करें, ताकि केवल भारत देश में ही नहीं, बल्कि विश्व के हर कोने में हिन्दी की अपनी पहचान बन सके और हिन्दी भाषा राजभाषा के साथ-साथ राष्ट्रभाषा व विश्व की भाषा बन कर पूरे विश्व में पहला स्थान प्राप्त कर सके।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. उपाध्याय, आर.जे.जे. (२०१४)– भारत का संविधान, सेण्ट्रल लॉ एजेंसी (बेयर एक्ट), मोतीलाल नेहरू रोड, इलाहाबाद, पेज : २०१
२. चतुर्वेदी, डी. एन. (२०१४)– भाषीय समस्या : एक राष्ट्रीय समाधान http://bharatdiscovery.org/
३. जैन, के. ए. (२०१५)– हिन्दी राजभाषा, राष्ट्रभाषा या विश्वभाषा http://bharatdiscovery.org
४. तिवारी, एन. जे. (२०१४)– राजभाषा के रूप में हिन्दी का विकास, महत्त्व तथा प्रकाश की दिशाएँ http://bharatdiscovery.org/
५. शाही, एस. (२१ फरवरी, २०१६)– मातृभाषाओं को बचाने की जरूरत, जनसत्ता समाचार-पत्र।
६. चतुर्वेदी, डी. एन. (२०१४)– भाषीय समस्या : एक राष्ट्रीय समाधान http://bharatdiscovery.org/

●

भारतीय कला में प्रयुक्त वैदिक प्रतीकों की व्याख्या : वासुदेव शरण अग्रवाल के अध्ययन के विशेष सन्दर्भ में

रविशंकर सिंह पटेल*, परमदीप पटेल**

'प्रतीक' वह माध्यमिक चिह्न या आकृति है, जिसको देखने मात्र से व्यक्ति अथवा समुदाय किसी विशिष्ट विचार, सिद्धान्त अथवा भावना का स्मरण कर लेता है। यह चिह्न केवल पहचान भर का साधन नहीं होता, बल्कि उससे जुड़े सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति भी करता है। मानव-सभ्यता में प्रतीकों का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। कला, भाषा और साहित्य के विविध आयामों में प्रतीक अपनी विशेष भूमिका निभाते आए हैं। भारतीय कला में प्रयुक्त प्रतीकों के महत्त्व को स्पष्ट करने और उनके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्षों का उद्घाटन करने में प्रख्यात् भारतविद् एवं कलाविद् वासुदेव शरण अग्रवाल का योगदान अत्यन्त उल्लेखनीय है। उन्होंने भारतीय कला में प्रयुक्त स्वास्तिक, चक्र, कल्पवृक्ष, पूर्णकुम्भ, पंचवक्र और कीर्तिमुख जैसे प्रमुख प्रतीकों की गहन और सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है। साथ ही; वैदिक प्रतीकों की कलात्मक दृष्टि से व्याख्या करने का श्रेय भी अग्रवाल जी को ही प्राप्त है।[१]

वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने ग्रन्थ 'भारतीय कला' में वैदिक प्रतीकों पर मौलिक ढंग से विचार किया है। उन्होंने भारतीय कला में अंकित विष्णु और लक्ष्मी को विश्व के माता-पिता का प्रतीक, सूर्य को उच्च विज्ञान या बुद्धि का प्रतीक, चन्द्रमा को इन्द्रियानुगामी मन या प्रज्ञान का प्रतीक, सर्प को मृत्यु, तम और अनत (दोष) का प्रतीक, देवों को अमृत, सत्य और ज्योति का प्रतीक, गणपति के चूहे को इन्द्रियानुगामी मन का प्रतीक, स्वास्तिक को सूर्य तथा जीवन के कल्याणमय रूप का प्रतीक, दैवासुरम्-युद्ध को सत्य और असत्य के संघर्ष का प्रतीक, सुपर्ण को सूर्य का रूप तथा काल और संवत्सर– दोनों का अभिन्न प्रतीक, महिषासुर को अनियन्त्रित शक्ति का प्रतीक, पूर्णकुम्भ को सुख-सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक, चक्र को सूर्य या काल (काल-चक्र) का प्रतीक, पद्म (कमल) को प्राण या जीवन का प्रतीक तथा कल्पवृक्ष को इच्छाओं की पूर्ति करने वाला वृक्ष और मन का प्रतीक माना है।[२]

वासुदेव शरण अग्रवाल की दृष्टि में भारतीय कला केवल दृश्य-सौन्दर्य तक सीमित नहीं है, बल्कि वह एक विशिष्ट प्रतीकात्मक भाषा के माध्यम से अपने गहन अर्थों को अभिव्यक्त करती है। उनके दृष्टिकोण में कमल, पूर्णकलश (पूर्णघट), स्वास्तिक, चक्र, त्रिरत्न और कल्पवृक्ष जैसे प्रतीक मात्र सजावटी तत्त्व नहीं हैं, बल्कि भारतीय कला में इन्हें पूर्ण कौशल और निपुणता के साथ प्रयुक्त किया गया है। अग्रवाल जी का मानना है कि इन प्रतीकों ने बौद्ध एवं ब्राह्मणवादी– दोनों ही कलाओं को अनन्त सौन्दर्य प्रदान किया है, साथ ही; यह विचारों के प्रस्तुतीकरण के महत्त्वपूर्ण माध्यम भी बने हैं।[३] वास्तव में; ये प्रतीक युगों-युगों तक धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिंतन की धारा को स्थायित्व प्रदान करने वाली आधार-खूँटियों के रूप में कार्य करते रहे हैं और भारतीय संस्कृति व दर्शन के अविभाज्य अंग बने रहे।

* शोध-छात्र– प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश, भारत

** उपर्युक्त

वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, पूर्णकुम्भ या पूर्णकलश भारतीय कला के प्रारम्भिक काल का एक अत्यन्त आकर्षक एवं अर्थपूर्ण सजावटी प्रतीक है। यह केवल अलंकरण का साधन न होकर जीवन की परिपूर्णता, समृद्धि और सर्वांगीण कल्याण का द्योतक माना गया है। अग्रवाल जी इसकी व्याख्या नैतिक, भौतिक तथा आध्यात्मिक– सभी स्तरों पर सम्पन्न जीवन के प्रतीक के रूप में करते हैं। वे पूर्णकुम्भ अथवा पूर्णघट की तुलना एक ओर मानव शरीर से और दूसरी ओर 'विराट् विश्व' (ब्रह्माण्ड) से करते हैं। उनके अनुसार, पवित्र जल से भरा हुआ यह कलश प्रतीकात्मक रूप से उस मानवीय देह का बोध कराता है, जिसमें चेतना, शक्ति और जीवन का प्रवाह विद्यमान है। साथ ही; यह ब्रह्माण्डीय कलश की छवि प्रस्तुत करता है, जिसमें सृष्टि की अनन्त शक्तियाँ निहित रहती हैं। इस प्रकार, यह प्रतीक व्यष्टि (Individual) और समष्टि (Cosmos)– दोनों की पूर्णता और एकात्मता का प्रतिनिधित्व करता है।[४] भारतीय कला में पूर्णकुम्भ का अंकन अत्यन्त व्यापक और महत्त्वपूर्ण प्रतीक के रूप में मिलता है। इसका उपयोग न केवल भरहुत, साँची, अमरावती, मथुरा, कपिशा, नागार्जुनकोण्ड और सारनाथ जैसे प्रमुख बौद्ध तथा ब्राह्मणिक स्थलों पर हुआ है, बल्कि भारत से बाहर जावा के प्रसिद्ध बोरोबुदुर स्तूप पर भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। पश्चिमी भारत के प्राचीन चैत्यगृहों में निर्मित मण्डपों के स्तम्भों, शीर्षक भागों तथा अधिष्ठानों पर भी पूर्णघट का अंकन देखने को मिलता है। अग्रवाल जी के अनुसार, धार्मिक अनुष्ठानों में 'पूर्णघट' को केवल सजावटी तत्त्व नहीं माना गया, बल्कि यह सृष्टि की पूर्णता और दिव्य ऊर्जा का प्रतिनिधि है। भारतीय धार्मिक अनुष्ठानों में इसे ब्रह्मा, विष्णु और शिव– त्रिदेवों के प्रतीक रूप में स्थापित किया जाता है।[५] इस प्रकार, पूर्णकुम्भ भारतीय कला में भौतिक, आध्यात्मिक और दार्शनिक परिपूर्णता का द्योतक बनकर विविध रूपों में अंकित हुआ है।

इसी प्रकार, वासुदेव शरण अग्रवाल कमल को सृजन का मूल प्रतीक मानते हैं। उनके अनुसार, यह सार्वभौमिक रचनात्मक शक्ति का आसन और आधार है। अग्रवाल जी का मत है कि कमल और चक्र– दोनों ही वैदिक प्रतीकों के अन्तर्गत आते हैं।[६] भारतीय कला में कमल का अंकन मौर्य युग से लेकर उत्तरकाल तक निरन्तर मिलता है। इसे विभिन्न नामों– उत्पल, पुण्डरीक, कल्हार, शतपत्र, सहस्रपत्र, पुष्कर तथा पद्मक के रूप में पहचाना जाता है।[७] इसी प्रकार, चक्र के सन्दर्भ में वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि भारतीय परम्परा में इसका प्रतीकात्मक प्रयोग अत्यन्त प्राचीन है। 'ऋग्वेद' में चक्र का उल्लेख गति, विश्व-ब्रह्माण्ड के चक्र तथा 'कालचक्र' के रूप में हुआ है। यह सृष्टि की निरन्तरता, परिवर्तनशीलता और अनादि-अनन्त काल के प्रवाह का प्रतीक है। अग्रवाल जी के अनुसार, भारतीय कला में भी चक्र का अंकन विविध रूपों में मिलता है। भरहुत, साँची, अमरावती, बोधगया और मथुरा की मूर्तिकला में चक्र के अनेक दृश्य प्राप्त होते हैं,[८] जो बौद्ध धर्म में धर्मचक्र-प्रवर्तन, वैदिक परम्परा में कालचक्र तथा दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्माण्डीय गति के सूचक हैं। इस प्रकार, चक्र भारतीय कला और चिन्तन में गति, समय और धर्म का सार्वभौमिक प्रतीक माना गया है।

वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार, भारतीय त्रिदेव– ब्रह्मा, विष्णु और शिव– क्रमशः सत्व, रज तथा तम गुणों के प्रतीक माने जाते हैं। ब्रह्मा ज्ञान, चारों वेदों और सृष्टि-कर्त्ता के प्रतीक हैं। उनके चार मुख स्वास्तिक की चार भुजाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो ब्रह्माण्ड की मौलिक संरचना का सूचक है।[९] विष्णु विश्व के पालनकर्ता हैं। उनका वाहन गरुड़ सूर्य अथवा

काल का प्रतीक है, वहीं उनका चक्र निरन्तर घूमते हुए कालचक्र का द्योतक है।[१०] अग्रवाल जी शिव के दो रूपों– मानव और लिंगों– की व्याख्या करते हैं। लिंग रूप उनके अनुसार अत्यन्त प्रतीकात्मक है, जो अग्नि, आदिम बीज अथवा रचनात्मक शक्ति का प्रतीक है और सम्पूर्ण सृष्टि का मूल स्रोत समझा जाता है। शिव के विपरीत पार्वती का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि जहाँ शिव उग्र ऊर्जा के प्रतीक हैं, वहीं पार्वती सोम स्वरूप का प्रतिनिधित्व करती हैं। दोनों मिलकर मातृ-पितृ तत्त्व का प्रतीक हैं तथा लौकिक माता-पिता के रूप में प्रकट होते हैं। उनका पुत्र स्कन्द नये जीवन एवं नवसृजन का द्योतक है। भारतीय कला में कुछ स्थानों पर शिव को पाँच मुखों के साथ अंकित किया गया है, जिसे अग्रवाल जी पाँच स्थूल तत्त्वों का प्रतीक मानते हैं।[११] शिव की जटाओं पर सुशोभित चन्द्रमा मन एवं अमरत्व का द्योतक है, जबकि उनके गले में लिपटा सर्प मृत्यु, विष, अन्धकार अथवा असुर-तत्त्व का प्रतीक है। शिव का वाहन बैल काम अथवा वासना का प्रतीक है, जिसे उन्होंने तपस्या और समाधि की शक्ति द्वारा नियन्त्रित किया है।[१२] इस दृष्टि से वासुदेव शरण अग्रवाल का विश्लेषण यह दर्शाता है कि भारतीय कला में त्रिदेव केवल देवता नहीं, बल्कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रियाओं के प्रतीक हैं।

इसी प्रकार, वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार, भारतीय स्वास्तिक एक चार भुजाओं वाला प्रतीक है, जो कल्याण और प्रचुरता की अपनी सम्पूर्ण भावना के साथ सूर्य देव के आदर्श चिह्न का प्रतिनिधित्व करता है। उनके अनुसार, जिस प्रकार सूर्य का स्वर्ण रथ प्रकाश और अन्धकार– दोनों का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार स्वास्तिक में अमरता और मृत्यु– दोनों विद्यमान है।[१३]

वासुदेव शरण अग्रवाल के दृष्टिकोण से भारतीय कला और साहित्यिक परम्परा में कल्पवृक्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित है। इसे मनोकामनाओं की सिद्धि कराने वाला दिव्य वृक्ष और साथ ही; मानवीय मानस का रूपक माना गया है। यह प्रतीक प्राचीन ग्रन्थों में कल्पतरु, कल्पद्रुम तथा देवतरु जैसे विभिन्न नामों से उल्लिखित मिलता है।[१४] अग्रवाल जी के अनुसार; रामायण, महाभारत, पालि वणिज जातक, पुराणों, जैन ग्रन्थों तथा विविध काव्यों में कल्पवृक्ष का उल्लेख प्रचुरता से प्राप्त होता है, जो इसकी सांस्कृतिक सर्वस्वीकार्यता को स्पष्ट करता है। भारतीय मूर्तिकला एवं चित्रकला में भी यह प्रतीक व्यापक रूप से परिलक्षित होता है। भरहुत, साँची और भाजा इत्यादि प्राचीन स्थलों पर कल्पवृक्ष तथा कल्पलताओं के अंकन इसकी लोकप्रियता का सशक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। साथ ही; गुफाओं और मन्दिरों के द्वार-स्तम्भों पर उत्कीर्ण मिथुन-आकृतियों को अग्रवाल जी कल्पवृक्ष की प्रतीकात्मक प्रेरणा से सम्बद्ध मानते हैं,[१५] जिससे यह स्पष्ट होता है कि कल्पवृक्ष केवल एक धार्मिक-आध्यात्मिक चिह्न ही नहीं, बल्कि जीवन, समृद्धि और रचनात्मकता का बहुआयामी प्रतीक भी रहा है।

वासुदेव शरण अग्रवाल के दृष्टिकोण में भारतीय कला में प्रयुक्त प्रतीक केवल सौन्दर्य-वृद्धि के साधन नहीं हैं, बल्कि वे गहन आध्यात्मिक, धार्मिक और दार्शनिक अर्थ से युक्त हैं। उनके अनुसार, कला का मूल उद्देश्य केवल सजावट नहीं, बल्कि जीवन, ब्रह्माण्ड और प्रकृति की व्यापक अवधारणाओं को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करना है।[१६] भारतीय कला में वृक्षों और लताओं का अंकन जहाँ एक ओर सृष्टि और जीवन की अनवरत प्रवाहशीलता का प्रतीक है, वहीं दूसरी ओर; वह मानव और प्रकृति के आत्मीय सम्बन्ध का द्योतक भी है। कल्पवृक्ष या कल्पतरु, जिसे इच्छाओं की पूर्ति करने वाला माना गया है, भारतीय कला में समृद्धि और जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। इसी प्रकार, कमल का अंकन सृजन, पवित्रता और विश्वात्मक चेतना

का द्योतक है। पशुओं और पक्षियों के चित्रण में भी गहरी प्रतीकात्मकता विद्यमान है। हाथी शक्ति और राजसत्ता का प्रतीक है, जबकि सिंह साहस और निर्भीकता का। मोर सौन्दर्य और अमरत्व का प्रतीक है, वहीं हंस विवेक और आत्मज्ञान का। इस प्रकार, पशु-पक्षियों का अंकन केवल प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रस्तुत करने के लिए नहीं, बल्कि दार्शनिक और धार्मिक भावों को मूर्त्त रूप देने के लिए भी किया गया। अग्रवाल जी यह भी मानते हैं कि भारतीय शिल्पियों ने प्रकृति को मात्र अनुकरण की दृष्टि से नहीं देखा, बल्कि उसके साथ अपने आत्मीय सम्बन्ध को कला में उतारा। इसीलिए भारतीय कला के प्रतीक कमल, पूर्णकुम्भ, चक्र, स्वास्तिक, त्रिरत्न, कल्पवृक्ष इत्यादि सभी जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये प्रतीक भारतीय कला को अलंकरण की दृष्टि से समृद्ध करने के साथ-साथ उसके पीछे छिपे आध्यात्मिक और दार्शनिक आयामों को भी उजागर करते हैं। इस प्रकार, वासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय कला को केवल शिल्पशास्त्र या सौन्दर्य की दृष्टि से नहीं देखा, अपितु उसके प्रतीकों के माध्यम से जीवन के शाश्वत आदर्श और उसके दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत किया।

वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा व्याख्यायित भारतीय कला में प्रयुक्त वैदिक प्रतीकों की सूची–

प्रतीक :-	**व्याख्या :-**
नाग	मृत्यु, तम और अनत (दोष) का प्रतीक
लक्ष्मी और विष्णु	विश्व के माता-पिता का प्रतीक
सूर्य	उच्च विज्ञान या बुद्धि का प्रतीक
चन्द्रमा	इन्द्रियानुगामी मन का प्रतीक
पूर्णकुम्भ या पूर्णघट	सुख-सम्पत्ति और जीवन की पूर्णता का प्रतीक
दैवासुरम्-युद्ध	अमृत और मृत्यु, प्रकाश और अन्धकार, सत्य और असत्य के संघर्ष का प्रतीक
कल्पवृक्ष	इच्छाओं की पूर्ति करने वाला वृक्ष और मन का प्रतीक
स्वास्तिक	सूर्य और जीवन के कल्याणमय रूप तथा विश्वमण्डल के चतुर्भुजी रूप का प्रतीक
चक्र	सूर्य या काल (काल-चक्र) का प्रतीक
पद्म (कमल)	प्राण या जीवन का चिह्न
महिष	अनियन्त्रित शक्ति का प्रतीक
यक्ष	जीवन और विश्व के महान रहस्यमय देव का प्रतीक
सुपर्ण	काल और संवत्सर– दोनों का प्रतीक
सुमेरु	विश्व के ध्रुव केन्द्र का प्रतीक

वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा व्याख्यायित भारतीय कला में अंकित त्रिदेवों के प्रतीकों की सूची–

त्रिदेव :-	**प्रतीक :-**	**अर्थ :-**
ब्रह्मा (प्रजापति)	हंस	मस्तिष्क का प्रतीक
	पद्म (कमल)	सृजन का प्रतीक
	कमण्डल	अरुपित तत्त्व का चिह्न
	स्वास्तिक	ब्रह्माण्ड के मूल स्वरूप का प्रतीक

	वेद	ज्ञान का प्रतीक
विष्णु	विष्णु	संरक्षक
	वरुण	सूर्य व समय का प्रतीक
	अनंत	पूर्णता का प्रतीक
	चतुर्भुज	स्वास्तिक, सृष्टि की उत्पत्ति का प्रतीक
	चक्र	काल-चक्र, ब्रह्माण्ड-चक्र, सृष्टि-चक्र इत्यादि का प्रतीक
शिव	लिंग	अग्नि, रचनात्मक शक्ति एवं आदिम बीज का प्रतीक
	पार्वती	सोमतत्त्व, प्रकृति एवं मातृका स्वरूप, जो सृष्टि को उत्पन्न करती है।
	शिव-पार्वती युगल)	स्त्री-पुरुष के प्रेम का प्रतीक
	स्कन्द (कार्तिकेय)	स्त्री-पुरुष संसर्ग से उत्पन्न नये जीवन का प्रतीक
	पंचमुख शिवलिंग	पंच-महाभूत का प्रतीक
	सिर पर चन्द्रमा	मन एवं अमरत्व का प्रतीक
	वृषभ	काम और जुनून का प्रतीक
	सर्प	अंधकार एवं तमोगुण का प्रतीक

सन्दर्भ-सूची

१. नरेश कुमार- डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व, इण्डो-विजन प्रा. लि., नेहरू नगर, गाजियाबाद, १९८५, पृ. ७९

२. वासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला (पुनर्मुद्रित), पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, २०१५, पृ. ५६-६३

३. वासुदेव शरण अग्रवाल– स्टडीज इन इण्डियन आर्ट (द्वितीय संस्करण), विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००३, पृ. ४७

४. वही– पृ. ४३ ५. वासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला, पूर्वोक्त, पृ. ६१

६. वही– पृ. ४७ ७. वही– पृ. ६३

८. वासुदेव शरण अग्रवाल– चक्रध्वज, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया, नई दिल्ली, १९६४, पृ. १७-२०

९. वासुदेव शरण अग्रवाल– स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पूर्वोक्त, पृ. ४२

१०. वही– पृ. ४२ ११. वही– पृ. ४२

१२. वही– पृ. ४२

१३. वासुदेव शरण अग्रवाल– इण्डिया : ए नेशन, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, १९८३, पृ. १७४-१७५

१४. वासुदेव शरण अग्रवाल– स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पूर्वोक्त, पृ. ४८

१५. वासुदेव शरण अग्रवाल– भारतीय कला, पूर्वोक्त, पृ. ६३

१६. वासुदेव शरण अग्रवाल– स्टडीज इन इण्डियन आर्ट, पूर्वोक्त, पृ. ४८

●

Sāṁkhya's Theory of Perception with Special Reference to Vindhyavāsin and its Criticism by Jayarāśi Bhatta

Abhinav Bharat*

INTRODUCTION

The Sāṁkhya school is one of the six Āstika(Vedic) systems of Indian Philosophy. It has a peculiar place in the Indian Philosophy and discourse around. It offfers a dualistic metaphysical framework and a sophisticated epistemological setup, playing an important role in shaping the spiritual and philosophical thought for centuries. The epistemology of Sāṁkhya is centred on three sources of Pramā (true knowledge), Pratyakṣa (Perception), Anumāna(Inference) and Śabda(Testimony). One of the major proponent of Sāṁkhya in pre-classical phase, Vindhyavāsin is credited for having reshaped Sāṁkhya's epistemology, especially regarding the definition of perception. Various writers have elaborated the pre-classical Sāṁkhya's theory of Pratyakṣa, but hardly anyone has discussed its criticism by Jayarāśi Bhaṭṭa(a radical sceptic). This paper is an attempt to present the criticism of Vindhyavāsin's definition of Pratyakṣa by Jayarāśi Bhaṭṭa. For this purpose, we will divide the paper into two parts.

In the first part of this paper, we will present an account of Vindhyavāsin's theory of Pratyakṣa. In the second part we shall focus to present the refutation of the Vindhyavāsin's theory of Pratyakṣa by Jayarāśi.

This paper will be useful in broader academic enquiry in Indian Philosophy, especially regarding Vindhyavāsin's epistemology and Jayarāśi's Skepticism. In field of Applied Philosophy, Law and Management, the method of refutation employed by Jayarāśi can be used to critically examine the propositions or arguments either to dismantle or to create a defensive position.

Keywords: Sāṁkhya, Vindhyavāsin, Jayarāśi Bhaṭṭa, Pratyakṣa, Avikalpikā.

Having outlined our approach now we move on to examine Vindhyāvāsin's theory of Pratyakṣa.

Part-1: Vindhyavāsin's Theory Of Pratyaksā(Perception).

Vindhyavāsin(2nd-3rd century CE) was an important figure in the earlier Sāṁkhya tradition. He is known for his intellectual prowess in defeating Buddhāmitra, Vasubandhu's teacher, in a debate held in the court of Vikramāditya. While not being a direct disciple of Vārṣagaṇya, a preceding Sāṁkhya teacher, Vindhyavāsin is regarded as a follower who revised and expanded the teachings of Vārṣagaṇya. His contribution lies in

* Research Scholar– Department of Philosophy HNB Garhwal University (A Central University) Srinagar (Garhwal), Uttarakhand (246174)

the field of epistemology, which reflects a critical engagement with Sāṁkhya's dualistic framework and ongoing debates with contemporary philosophical traditions, notably Buddhism. To understand Vindhyavāsin's innovation we must firstly examine the general epistemological framework of Sāṁkhya.

In Sāṁkhya system, valid knowledge (pramā) arises through three primary means (pramāṇas): perception (pratyakṣa), inference (anumāna), and testimony (śabda).[1] Pratyakṣa, as the most direct means, is central to understanding how Puruṣa, the passive consciousness, apprehends the world without being affected by Prakṛti's material transformations. In the Sāṁkhyakārikā, perception is defined as the ascertainment of particular objects through the senses, mediated by the intellect (buddhi), which processes raw sensory data (ālocanamātra) into definite cognition. This process involves the internal organ (antaḥkaraṇa), comprising buddhi (intellect), ahaṃkāra (ego), and manas (mind), which work in harmony with the five sensory organs (jñānendriyas) to produce knowledge of the external world.[2] Classical Sāṁkhya distinguishes between Nirvikalpaka Pratyakṣa (non-conceptual, immediate sensory awareness) and Savikalpaka Pratyakṣa (conceptual, interpretative perception), aligning with other realist schools like Nyāya and Mīmāṁsā. This distinction of Savikalpaka and Nirvikalpaka pratyakṣa was arrived at only in the later phase, as earlier teacher like Vindhyavāsin believed it to be only non-conceptual. This definitional refinement reflects deeper changes in how Vindhyavāsin conceived the perceptual process itself, offering a distinctive perspective that emphasizes 'immediacy' and 'non-conceptuality'. Perception in earlier Sāṁkhya is defined as 'the function of the sense organs (Śrotṛādivṛtti)', as given by Vārṣagaṇya.[3] Vindhyavāsin modified this definition by adding the modifier 'Avikalpika' (without mental construction), resulting in the formulation: "srotrādivṛttir avikalpika iti pratyakṣalakṣaṇam" (Perception is the function of the sense organs without mental construction).[4] The emphasis on "Avikalpika" underlines that true perception captures the raw and unmediated essence of reality, untainted by interpretative or conceptual layering imposed by the mind. This revision is significant for several reasons. First, it distinguishes perception from subsequent cognitive processes that involve conceptualization such as Inference or Postulation. Second, in Sāṁkhya, perception involves the interaction of the sense organs(jñānendriyas), Manas(mind), Ahaṃkāra (ego), and Buddhi(intellect), which collectively process sensory data and reflect it to Puruṣa.[5] By emphasizing non conceptuality, Vindhyavāsin ensures that perception remains a direct apprehension of objects free from the distortions of mental constructs. Sāṁkhya's dualistic framework maintains that perception ultimately serves Puruṣa's liberation in revealing the distinction between

Puruṣa(consciousness) and Prakṛti (matter). Vindhyavāsin's adoption of 'avikalpika' thus bridges Sāṁkhya' metaphysical dualism with a more universal epistemological concern for unmediated knowledge. In Classical Sāṁkhya, Pratyakṣa is a complex process involving multiple faculties. The sense organs receive stimuli, which are processed by Manas, individuated by Ahaṃkāra, and determined by Buddhi, which reflects the resulting cognition to Puruṣa. Buddhi, often synonymous with Mahat (the great one), is considered the primary cognitive faculty, responsible for Adhyavasāya (determination or discriminative judgment). However, Vindhyavāsin diverged from this model by positing that apprehension occurs primarily at the level of Manas rather than Buddhi.[6] Manas' mode is Saṅkalpa (resolve), Ahaṃkāra's mode is Abhimāna (egoism), and Buddhi's mode is Adhyavasāya. However, Vindhyavāsin argued that these are merely modalities of a single cognitive process centered in Manas.[7] This shift is a significant departure from the earlier Sāṁkhya hierarchy, where Buddhi plays the central role in cognition. In classical Sāṁkhya, Buddhi is the material evolute of Prakṛti that most closely reflects Puruṣa's consciousness, enabling the self to "witness" the manifest world. Vindhyavāsin's emphasis on Manas suggests a more integrated cognitive model, where the mind directly processes sensory input without relying on a sequential hierarchy of faculties. By unifying Saṅkalpa, Abhimāna, and Adhyavasāya as modalities of a single organ i.e. Manas, Vindhyavāsin streamlined the mechanics of perception, prioritizing immediacy and direct sensory engagement. Moreover, Vindhyavāsin rejected the notion of Buddhi as a distinct psychical organ, instead describing it as the "great self." By centering apprehension in Manas, Vindhyavāsin emphasized the mind's role as the primary terminal between the sense organs and Puruṣa, reducing the complexity of the traditional Sāṁkhya model. This approach enhances the non conceptual nature of Pratyakṣa, as Manas directly apprehends sensory data without the interpretative role associated with Buddhi's discriminative power. Theory of knowledge and stimulus based Cognition in Vindhyavāsin's epistemology further distinguishes his theory of perception through his views on the nature of knowledge.

According to the Pañcādhikaraṇa, one of the earlier Sāṁkhya teacher, knowledge is classified as twofold: Prākṛta (natural) and Vaikṛta (derived). Prākṛta knowledge includes three types: Tattvasama (knowledge identical with the essence of reality), Sāṁsiddhika (inherent knowledge arising from pure Sattva), and Ābhiṣyandika (spontaneous knowledge triggered by stimuli). Vaikṛta knowledge is divided into svavaikṛta (derived internally) and paravaikṛta (derived externally).[8] Vindhyavāsin however, rejected Tattvasama and Sāṁsiddhika, arguing that all knowledge requires an stimulus and is thus derived. This rejection is a critical aspect of

Vindhyavāsin's epistemology as it underlines his commitment to a stimulus driven model of perception. In traditional Sāṁkhya, Sattva, one of the three guṇas (qualities) of Prakṛti is associated with illumination and knowledge, and pure Sattva can give rise to inherent or spontaneous knowledge. Vindhyavāsin's denial of Tattvasama and Sāṁsiddhika suggests that he viewed perception as inherently dependent on stimulus of a material objects, aligning with his non conceptual definition of Pratyakṣa. By requiring a stimulus, Vindhyavāsin ensured that perception remains grounded in the interaction between Prakṛti's material faculties and the external world, reinforcing the immediacy and directness of sensory apprehension. This stimulus based model also reflects Vindhyavāsin's broader metaphysical commitments. In Sāṁkhya, Prakṛti is the source of all material entities and becomes active only when in proximity to Puruṣa, igniting the evolutionary process that produces the manifest world. Vindhyavāsin's emphasis on 'stimuli' parallels this dynamic process as perception requires the interaction of Prakṛti's evolutes, sense organs and Manas, with a given stimuli to generate knowledge. Perception in Sāṁkhya involves Puruṣa witnessing the activities of Prakṛti's evolutes without being affected by them. Vindhyavāsin maintained this dualism, arguing that Buddhi's discriminative activity appears to belong to Puruṣa.[9] This apparent agency is an illusion (bhrama), as Puruṣa remains non-agentive. The proximity of Puruṣa to Prakṛti causes the unconscious Manas to seem conscious due to their proximity, much like a crystal appears red when placed near a rose.[10] Enabling perception without attributing activity to Puruṣa. This analogy of the crystal and the rose is very remarkable to understand the nonagency of Puruṣa. Just as the crystal reflects the rose's color without being inherently red, Buddhi reflects sensory data to Puruṣa without Puruṣa actively participating in the cognitive process. This model preserves Puruṣa's transcendence while accounting for the apparent consciousness of cognitive faculties, which are ultimately material evolutes of Prakṛti. The illusion of agency is a key concept in Sāṁkhya epistemology, as it explains errors in perception, such as mistaking the material body for the self. Vindhyavāsin's theory of perception mitigates this error by emphasizing non conceptual apprehension, which minimizes the interpretative distortions that lead to misidentification. By grounding perception in Manas and requiring a stimuli, Vindhyavāsin ensures that cognition remains tied to the objective world, reducing the likelihood of superimposing the false attributes onto the Puruṣa. Ontological Implications of Vindhyavāsin's theory of perception is closely tied to his unique ontological stance within Sāṁkhya. In the classical Sāṃkhya system, Prakṛti evolves into Mahat (Buddhi), which produces Ahaṃkāra, which in turn gives rise to the five Tanmātras (subtle elements) and the eleven organs (five

jñānendriyas, five karmendriyas, and Manas). Vindhyavāsin however posited that Buddhi directly gives rise to both Ahaṃkāra and the Tanmātras, bypassing the intermediary role of Ahaṃkāra.[11] This reconfiguration simplifies the evolutionary sequence of Prakṛti's manifestations, aligning with his emphasis on Manas as the primary locus of apprehension. By positing Buddhi as the source of both, ego and subtle elements, Vindhyavāsin integrated the perceptual process more closely with Prakṛti's material evolution. This view supports his non conceptual definition of perception, as it reduces the layers of cognitive processing between sensory inputs and apprehension.

The Tanmātras are the foundational building blocks of the material world and their direct emergence from Buddhi suggests that perception is intimately tied to the material substrate of reality. This ontological stance reinforces Vindhyavāsin's stimulus based epistemology, as the Tanmātras provide the sensory data that Manas apprehends directly. Vindhyavāsin's theory of perception occupies a unique position within earlier developments of Sāṁkhya, having difference from prior thinkers like Pañcādhikaraṇa and Vārṣagaṇya.

In later Sāṁkhya, which has become Classical Sāṁkhya with the advent of Īśvarakṛṣṇa's Sāṁkhyakārikā, Buddhi is the central cognitive faculty responsible for discriminative judgment and reflecting sensory data to Puruṣa. Vindhyavāsin's emphasis on Manas and his rejection of Buddhi as a psychical organ challenges this model, offering a more streamlined cognitive process. His non conceptual definition of perception also contrasts with Īśvarakṛṣṇa's broader approach, which does not explicitly prioritize avikalpika cognition. Vindhyavāsin's theory operates within Sāṁkhya's dualistic framework where perception serves as an initial stair of a larger ladder for Puruṣa's liberation by revealing the distinction between consciousness and matter. Pramāṇas, in Sāṁkhya, are necessary means for Viveka Jnāna(discriminative knowledge) which destroys all illusion which we superimpose on Puruṣa and Prakṛti out of ignorance. Vindhyavāsin's theory of perception has profound implications for Sāṁkhya's soteriological goals. In Sāṁkhya, the ultimate aim is kaivalya (liberation), achieved through discriminative knowledge (vivekakhyāti) that distinguishes Puruṣa from Prakṛti. Perception, as the primary means of valid knowledge, plays a crucial role in this process by providing accurate data about the material world. Vindhyavāsin's non conceptual, stimulus based model of perception ensures that sensory data is apprehended directly, minimizing distortions that could lead to misidentification of Puruṣa with Prakṛti. By centering apprehension in Manas and simplifying the ontological sequence, Vindhyavāsin enhances the efficiency of the perceptual process, facilitating the discriminative knowledge necessary for liberation. Furthermore, his

rejection of inherent forms of knowledge, Tattvasama and Sāṃsiddhika, underlines the empirical nature of Sāṁkhya epistemology. By tying up perception with a given stimuli, Vindhyavāsin ensures that knowledge is grounded in the objective world, aligning with Sāṁkhya's emphasis on understanding Prākṛti's manifestations in order to transcend them.

Vindhyavāsin's theory of Pratyakṣa represents a significant evolution in earlier Sāṁkhya's epistemology marked by his definition of pratyakṣa as "Śroṭṛādivṛttir avikalpika..", his emphasis on Manas as the seat of apprehension, and his rejection of inherent forms of knowledge in favor of stimulus based cognition. By integrating non conceptuality into Sāṁkhya's dualistic framework, Vindhyavāsin created a distinctive model that prioritizes immediacy and direct sensory engagement. His reconfiguration of Manas' role and his simplified ontological sequence further align perception with Prakṛti's material evolution, reinforcing the empirical foundation of Sāṁkhya epistemology.

Part 2: Critique of the Sāṁkhya theory of Perception by Jayarāśi Bhaṭṭa.

Jayarāśi Bhaṭṭa, active around 800–840 CE, presents a radical skeptical challenge to Sāṁkhya's epistemological framework in his text, Tattvopaplavasiṁha(The Lion That Devours All Principles). Jayarāśi denies the validity of all pramāṇas, including perception. Arguing, that no means of knowledge can reliably establish the validity of philosophical propositions. He posits that cognition cannot be definitively categorized as true or false, as its ontological status remains unprovable, and that perception fails to distinguish valid cognitions from illusions. It is so because of the absence of an strong criterion for its validation. For Jayarāśi, the reality of a cognized object depends on these factors: (a)establishing the proper definition of cognition and (b)establishing a proper means of cognition, which he claims is impossible without doṣās(faulty reasoning).[12]

Jayarāśi's raises various criticism of the Sāṁkhya theory of Pratyakṣa (as given by Vindhyavāsin). His criticism can be covered in four segments, (a) criticism of definition of perception, (b) nature of objects and their apprehension and non apprehension, (c) criticism of three gunas and their effects, and (d) impossibility of Causation.

Firstly, we begin our discussion of Jayarāśi's criticism of Pratyakṣa.

A.Criticism of the definition of perception.

The Sāṁkhya definition of perception as "the functioning of the ear, etc., which is not conceptual" is the starting point of Jayarāśi's critique. He argues that this definition is flawed because the "functioning" of the senses i.e., their modification into the form of an object, such as sound, can result in multiple outcomes: valid cognition (perception), false cognition (error), or doubt. If perception is defined as sensory modification, then erroneous

perceptions and doubtful cognitions would also qualify as perception. This contradicts the Sāṁkhya's claim that perception yields valid knowledge.

The functioning of the senses is not uniform. It can produce valid cognition, false cognition, or doubt. Therefore, equating sensory functioning with perception leads to an all inclusive definition that fails to distinguish valid perception from error or doubt. Anticipating the Sāṁkhya's objection, Jayarasi says the term "not sublated" (abādhita) could be added to the definition to exclude false cognitions and doubts, ensuring that only non erroneous cognitions count as perception.

Jayarāśi's replies that the term "not sublated" is not explicitly mentioned in the Sāṁkhya sūtra (the foundational text of the system). Even if it were assumed to be mentioned, the non erroneousness of a cognition cannot definitively be established because how can non erroneous and invalid condition can be demarcated. Furthermore, if "non erroneous" excludes false cognitions, it inadvertently excludes valid cognitions as well, because as per Sāṁkhya, all sensory functioning is fundamentally the same in nature. This creates a dilemma: either all sensory functioning is perception, including errors, or none is, rendering the definition incoherent. Jayarāśi employs a reductio ad absurdum(asaṁbhava) strategy, showing that the Sāṁkhya definition either over coverages (ativyāpti) including false cognitions or excludes too much(avyāpti) excluding valid cognitions, undermining its specificity. Jayarāśi further attacks the Sāṁkhya notion that sensory modification is not distinct from the sense itself. If sensory functioning is identical to the sense organ, and the sense organ is continuous(ever present), (Vindhyavāsin says Senses to be all pervasive), then objects like a pot, a blue object, or a red object should be constantly perceived, as the senses are continuous so do there functioning or modification are always active. However, we do not perceive objects continuously like a pot etc, and non apprehension of objects like pot is not possible because Sāṁkhya says that nothing is produced which has existed before and nothing which has existed is truly destroyed. If the sense and its functioning are continuous, non apprehension of objects e.g., not seeing a pot should be impossible. Conversely, if non apprehension occurs despite continuous functioning, then apprehension of objects would never occur, because Sāṁkhya's satkāryavāda holds that nothing new is produced, and nothing existing is destroyed. This leads to a contradiction that either everything is always apprehended, or nothing is ever apprehended.

Further dilemma for Sāṁkhya; if the Sāṁkhya proponent admits that sensory functioning differs from the sense to account for selective perception, they abandon their own position, as this would imply a distinction between the sense and its activity, contradicting the unity of the sense and sense modification in Sāṁkhya's Epistemology.

Jayarāśi exploits the Sāṁkhya's commitment to Satkāryavāda and the non difference between sense and its modification to create a logical trap. By showing that continuous allotment to sensory functioning will lead to constant perception, which is empirically false, he forces the Sāṁkhya proponent into a dilemma to either

accept absurd consequences or abandon their core principles. This is a classic tactic used by Jayarāśi to highlight the internal inconsistencies.

Having challenged the definitional foundation, Jayarāśi next questions the very nature of perceptual objects.

Now, we shall try to discuss this nature in the light of the above.

B.Nature of Objects and There Apprehension.

Jayarāśi questions whether objects like sound are apprehended due to their apprehensible or imperceptible nature, further undermining the Sāṁkhya framework. If objects like sound have an imperceptible nature, they cannot be perceived, as perception requires perceptible object or otherwise the 'self' which has an imperceptible nature according to Sāṁkhya too would be perceptible. If they have an apprehensible nature by which they are perceptible then as the 'self' would also be perceptible(by having a apprehensible nature which Sāṁkhya claims is by anumāna). If there is non apprehension of the object by being of other nature, even that is not possible because the identity between what is cognized and that what is not cognized is not known as in case of 'Sound' and 'Self'. Samkhya may post that 'Objects are apprehended only when they are manifested i.e., when their perceptible nature is active'. Jayarāśi's replies, if manifestation is always present, there should be constant apprehension. If manifestation disappears, then the perceptible nature itself disappears, leading to no apprehension at all. Both scenarios, constant apprehension or no apprehension are absurd, as they contradict everyday experience. The Sāṁkhya proponent might argue that apprehension occurs when a part of the object increases, when a characteristic is fully developed, or due to a special configuration. Jayarāśi counters that these factors, if always present (as per satkāryavāda), would still result in constant apprehension. Alternatively, if non-apprehension is due to causal factors, these too are always present, leading to constant non apprehension. Both outcomes are untenable.

Jayarāśi's strategy here is to show that the Sāṁkhya system cannot account for the selective nature of perception, why we perceive some things at some times and not others, without violating its own metaphysical principles. By repeatedly bringing notion of satkāryavāda, he demonstrates that the doctrine leads to logical absurdities(asaṁbhava), such as constant perception or constant non perception.

Moving from epistemological to metaphysical grounds, Jayarāśi now challenges the fundamental constituents of Prakṛti.We can understandit with the account of critique of the three Guṇas and there effects. Therefore we move towards it.

C. Critique of the Three Guṇas and Their Effects

Jayarāśi now presents a metaphysical criticism, focusing on the Sāṁkhya doctrine of the three guṇas (sattva, rajas, tamas) as the constituents of primordial matter, Prakṛti, and their relation to the Pañca mahābhuta(gross elements), earth, water, fire, air and ether . If effects like earth, water, etc are distinct from the guṇas, they must be either real or unreal. He analysis both stances. If effects are real and distinct from the guṇas, they cannot be caused by the guṇas, as no causal relation i.e., part-whole, efficient cause, accessory cause is possible since these earth, water, etc are different from the three guṇas and no casual relationship is tangible between distinct entities. This undermines the Sāṁkhya claim that all effects arise from the guṇas. If effects are unreal, they cannot serve as a basis for apprehending the guṇas through inference, as a relation between a real guṇas as a cause and an unreal entity as effects is impossible e.g., like a relation between the Self and a donkey's horn . Moreover, the guṇas themselves cannot be perceived, as Sāṁkhya admits that their highest form is beyond perception.

If the guṇas cannot be apprehended through perception or inference, their existence cannot be established. Without the guṇas, the Sāṁkhya system's metaphysical foundation collapses, including the concept of primordial matter Prakṛti. He further criticizes the identity of guṇās and their effects. If effects are not distinct from the guṇas, they must be either real or unreal. If effects are real and identical to the guṇas, then the guṇās must be innumerable, since effects like earth, water, etc., are numerous, contradicting the Sāṁkhya claim that there are only three guṇas. Alternatively, if the guṇas are three, the effects must also be limited to three, which contradicts the observed diversity of effects. If effects are unreal, then the guṇas being identical to them are also unreal, breaking the entire Sāṁkhya ontology, including the existence of the Self, as there is no valid means of cognition to establish consciousness or transmigration to another world.

Jayarāśi's critique of the guṇas is a devastating attack on Sāṁkhya's metaphysics. By examining the relationship between the guṇas and their effects, he creates a dilemma, either the effects are distinct, breaking the causal link or identical, leading to contradictions about the number or reality of the guṇas. His reference to the Sāṁkhya admission that the guṇas are not directly perceptible reinforces his skeptical claim that they cannot be known, collapsing the system's epistemology and ontology.

Since theory of causation is central to Sāṁkhya's epistemology and metaphysics, Jayarāśi presents his arguments for its refutation. That"s why, now we shall discuss his arguments as follows.

D. Impossibility of Causation

Jayarāśi challenges the Sāṁkhya view of causality, particularly the idea that senses produce cognitions as their effects. If cognitions are the effects of sensory functioning existing eternally, there can be no causal relation between senses and cognitions, as cause and effect imply a temporal sequence because a cause precedes an effect. In Sāṁkhya, where everything pre-exists, such a relation is impossible, just as there is no causal relation between different Puruṣās or among the guṇās themselves.

Without a valid cause-effect relation, the senses cannot be established as instruments of cognition, further undermining the Sāṁkhya definition of perception. This argument targets the core of satkāryavāda, showing that an eternal, pre-existent effect cannot be caused in the conventional sense. Jayarāśi's skepticism here aligns with the Cārvāka rejection of metaphysical causality, reducing Sāṁkhya's epistemology incoherent.

Jayarāśi concludes that perception cannot be established as a valid means of knowledge (pramāṇa) because of Sāṁkhya definition's failure to account for selective apprehension and non apprehension. Jayarāśi tries to dismantle the Sāṁkhya's notion of the three guṇās and the theory of causation, satkāryavāda. Without these, the entire Sāṁkhya system, including its cosmology, soteriology, and epistemology collapses, whether he succeedes in refuting the Sāṁkhya system or not is a different matter, what is important to note is that Jayarāśi's method of refutation is very original and very unorthodox.

Conclusion:

Jayarāśi's arguments exemplify the method of vitaṇḍā, negative arguments, where the goal is not to propose an alternative system but to dismantle the opponent's position by exposing logical inconsistencies. He leaves no choice for the opponent to reconsider and leads all the possible epistemological positions to futility. He uses Sāṁkhya's own doctrines, such as satkāryavāda and the notions of the guṇas, to generate contradictions, showing that the system is internally incoherent. Jayarāśi's method of objections and replies mirrors classical Indian dialectical texts as that of Nāgārjuna's Vigrahavyāvartani and Sriharsa's Khaṇḍanakhaṇḍakhādya but Jayarāśi's replies consistently push the opponent into untenable positions, reflecting his commitment to radical skepticism. Jayarāśi employs different tools to destroy the Sāṁkhya Epistemology by constant use of prasaṅga(reductio-ad-absurdum) and asaṁbhava(contradiction). Jayarāśi engages with the definition of perception when given as "modification of ear etc., which is non conceptual" by showing it to be a case of avyāpti(over

coverage) because not only valid but even erroneous cases of perception are included in it. He pushes the relation of identity of senses-sense functioning to asaṁbhava (logical contradiction). And lastly he uses itaretarāśraya(mutual dependence) to target the notion of Guṇās and its effects like earth, water etc., along with the use of asaṁbhava and prasaṅga. The employment of these tools provides Jayarāśi a systematic methodology to destroy the Sāṁkhya Epistemology.

Endnotes:

1. Īśvarakṛṣṇa Sāṁkhyakārikā verse 5.
2. Sāṃkhyakārikā, verse 35, cited in Larson, Classical Sāṃkhya, 157.
3. Gerald Larson and Ramkrikhna Bhattacharya, Encyclopedia of Indian Philosophy, Volume 4: Sāṃkhya, A Dualist Tradition in Indian Philosophy (Delhi: Motilal Banarsidass, 1987),136.
4. Quoted in Sammatitarka of Siddhāsena Divākara.
5. Gerald James Larson, Classical Sāṁkhya: An Interpretation of its History and Meaning (Delhi: Motilal Banarsidass, 1979),169.
6. Larson and Ramkrishnan, Enyclopedia of Indian Philosophy, Volume 4, 144.
7. Vindhyavāsin's view as quoted in Yuktidīpikā Kārikā, 22.
8. Yuktidīpikā Kārikā 43, and T.G. Mainkar, Sāṃkhyakārikā of Īśvarakṛṣṇa with Gauḍapādabhāṣya (Poona: Oriental Book Agency), 112–113
9. Vindhyavāsin, quoted in Bhojaraja's Rājamārtāṇḍa, a commentary on Yogasūtra, quoted in Larson and Bhattacharya, Encyclopedia of Indian Philosophy, Volume 4, 145.
10. Gunaratna, commentary to Ṣaḍdarśanasamuccaya, quoted in Larson and Bhattacharya, Encyclopedia of Indian Philosophy, Volume 4, 145.
11. Vindhyavāsin, quoted in Yuktidīpikā Kārikā 22.
12. Pradeep. P. Gokhale, Lokāyata/Cārvāka: A Philosophical Enquiry (New Delhi: Oxford University Press, 2015), 31.

●

Indian Knowledge Tradition in Educational Practices of Vidya Bharti : A Case Study

Dr. Avinash Pandey*, Pooja Yadav**

Abstract : Indian Knowledge Tradition contribution is immense in almost all fields of intellectual inquiry. For example, physician Sushruta describes rhinoplasty surgery in 600 BCE in his book Sushruta Samhita. Similarly, the so-called Pythagorean theorem first occurs, according to the Fields Medalist mathematician Manjul Bhargava, about 800 BCE in Bauddhayana'sSulba Sutra. Over time, many changes are seen in the Indian Education system. some independent organisations like vidhyabharati have also contributed, who have taken responsibility for the spread of Indian education. Vidya Bharti **(**Vidya Bharati Akhil Bharatiya Shiksha Sansthan) is also one of these which is the largest private educational organisation in India. It runs one of the largest private networks of schools in India. Vidhya Bharati has tried hard to keep alive the original spirit of Bharat in its educational endeavours.

Keywords : Indian Knowledge Traditions, Vidya Bharti.

Introduction : "We owe a lot to the ancient Indians, teaching us how to count. Without which most modern scientific discoveries would have been impossible" ~ Albert Einstein

Indian civilisation has accorded immense importance to knowledge — its amazingly vast body of intellectual texts, the world's largest collection of manuscripts, its attested tradition of texts, thinkers, and schools in so many domains of knowledge.

In*Srimad Bhagavad Gita*, 4.33,37-38, Lord Krishna tells Arjuna that-

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।

(*knowledge is the great purifier and liberator of the self.*)

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।

(Of these, the wise one, ever steadfast and devoted, excels. I am exceedingly dear to the wise, and he is dear to me.")

''ज्ञानंबन्धः'' (gyanamBandhah) –

"Knowledge is bondage." It suggests that if one is attached to their knowledge or is bound by their knowledge, it can limit their ability to learn new things and gain further knowledge.

Vishnu Puran told that–

* Assistant Professor– Department of Education ISDC, University of Allahabad, Prayagraj, U.P.

** Research Scholar (Department of Education), ISDC, University of Allahabad

'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।
आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम।।'

(knowledge is the only thing which gives complete freedom.)

On the basis of Subhashit

'अपूर्व कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति।
व्ययेतोवृद्धिमायाति संचयात् क्षीयते।।'

(O Goddess Saraswati, your treasure of knowledge is unique. It increases by spending and is destroyed by accumulating.)

विद्या ददाति विनयं विनयात् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततःसुखम्।।

Knowledge gives humility, from humility, one attains character; From character, one acquires wealth; from wealth good deeds (righteousness) follow and then happiness.

According to Vrind ji's 'Vrind-Satsai'.

'करत-करत अभ्यास के जडमति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते सिल पर परत निशान।।'

With continuous practice, even a person with limited intelligence can become intelligent.

According to the *Buddha*, real knowledge is wisdom, which is possible when one understands something through personal experience. In Buddhism, wisdom is often referred to as prajñâ and is described as the understanding of the true nature of phenomena. It goes beyond knowledge or intelligence and is characterized by insight, compassion, and the ability to see the world as it truly is. According to *Jains*, knowledge is the essence of the soul.Only knowledge is believed to be an intrinsic quality of all souls. The Jaina scholars divide cognition or knowledge into two divisions viz. -Valid knowledge and Fallacious knowledge.In *yoga sutra* -7, chapter 1 *Samadhi Pada*, *Patanjali* is discussing the first of the five Modifications of the mind, the right knowledge. He says that the right knowledge can be acquired by valid means.

Apart from the formal knowledge tradition, India also has a rich history of informal knowledge tradition which can be seen in the efforts of *Kabir Das, Rahim Das, Meera, Soordas, Tulsi, Ravidas, Nanak* etc. In Indian Knowledge tradition, informal educational ways has been given much more iimportance than formal educational ways such as- stories, poems, verses, mantras, couplets etc., so that the general public can be easily introduced to the important aspects of life.

There are countless such references which bear witness to the excellence of the Indian knowledge tradition. India's knowledge Tradition is ancient and uninterrupted like the flow of the river Ganga, from the Vedas (Upanishads) to Sri Aurobindo, knowledge has been at the centre of

all inquiry. This is probably why India has always been known as a '*knowledge society'*.

IKT's contribution is immense in almost all fields of intellectual inquiry. For example, physician *Sushruta* describes rhinoplasty surgery in 600 BCE in his book *Sushruta Samhita*. Similarly, the so-called Pythagorean theorem first occurs, according to the Fields Medalist mathematician *Manjul Bhargava*, about 800 BCE in *Bauddhayana'sSulba Sutra*. We also know now that the spread of *calculus* to the West was through the *Kerala School of Mathematics*.*Panini's* (4th century BCE) grammar '*The Ashtadhyayi'* is the only complete, explicit, and rule-bound grammar of any human language. Additionally, 'The Ashtadhyayi' has several formal features that have direct parallels in computer science. Yaska'sNirukta (7th century BCE), on the other hand, is the first serious work on etymology. Yaska was also the first scholar to treat etymology as an independent science.

Over time, many changes are seen in the Indian political circumstances, due to which changes can also be seen in the Indian education system. The deepest blow to Indianness in the Indian education system came when *Lord Macaulay's* educational plan was implemented in India. Due to which not only the Indian knowledge tradition was damaged but also the whole ancient Indian education system was destroyed on ideological grounds also. After independence many changes can be seen in Indian education. In these rapid changes, some independent organisations have also contributed, who have taken responsibility for the spread of Indian education and thus it is impossible to see and understand Indian education in isolation from them. *Vidya Bharti* **(**Vidya Bharti Akhil Bharatiya Shiksha Sansthan) is also one of these which is the largest private educational organisation in India. It runs one of the largest private networks of schools in India. *Vidya Bharti* has tried hard to keep alive the original spirit of Bharat in its educational endeavours.

Vidya Bharti: In brief : *Vidya Bharati's project is a boon for all round personality formation of students in the field of education. It is not only about bookish knowledge, but it is about building a balanced and all-round personality through experimentation. Physical, mental, intellectual and emotional development is possible through this method. Vidya Bharti wants to develop such a national education system, through which such a young generation can be created which is full of Hindutva and patriotism, is fully developed from physical, vital, mental, intellectual and spiritual point of view and who lives life. The main aim of Vidya Bharti is to train the students for adverse situations and successfully face the present challenges of the country and make his life harmonious, prosperous, and cultured.*- The Hills Times- June 5, 2023

M. S. Golwalkar established its first *Gita school* at Kurukshetra in 1946. But the first *Saraswati Shishu Mandir* brand school was established in Gorakhpur in 1952, by *Nanaji Deshmukh.* Accordingly, *Shishu Shiksha Prabandak Samiti*, was set up to coordinate activities between these schools at the state level. Such committees were set up in Delhi, Bihar, Madhya Pradesh and Andhra Pradesh. In 1977-78, an all-India apex body, *Vidya Bharti* was set up to coordinate the activities between these state committees and was headquartered in Delhi. This coincided with the *Bharatiya Jan Sangh* (political arm of RSS) winning the national elections, as a member of the Janata Party.As of 2019, there were 12,828 formal schools and 11,353 informal schools. In 2019, the formal schools had a total strength of more than 34 lakh (3.4 million) students. -*(source: vidyabharti.net. Retrieved 16 November 2020.).* Most of the Vidya Bharti schools are affiliated to the Central Board for Secondary Education or their local State Boards. Vidya Bharati-run educational programs were adopted in Madhya Pradesh as an alternate model of education when BJP was in power.-(*source: Hindu Nationalists in India : The Rise of the Bharatiya Janata Party. Boulder. p. 157)*

In addition to formal schools (which go by a variety of names such as *Adarsh Vidhya Mandir*, *ShishuVatika*, *Saraswati Shishu Mandir*, *Saraswati Vidya Mandir*, *Saraswati Vidyalaya* etc.), Vidya Bharati also runs *sanskarkendras* (cultural schools) and single-teacher schools for cultural education. It controls over 250 intermediate colleges and about 25 institutions of higher education and training colleges.

Objective of the study :

● To explore the philosophical foundation of Vidya Bharti in reference to Indian Knowledge tradition.

Research Methodology : The present study was carried out by completing a case study using the descriptive research method. The sample consisted of two schools operated by Vidya Bharti (*Jwala Devi Inter College, Civil Lines, and Jwala Devi Inter College, Gangapuri, Rasoolabad, Teliarganj*) in Prayagraj district, chosen through a purposive sampling method. The use of observation and interview techniques has been utilised to gather data. The collection of data has been done using triangulation techniques to meet the requirements for authentic data. A schedule for observation and structured for interviewing that was created by authors have been employed.

Analysis & Discussion : The analysis process is provided below to meet the study's objectives.

1. To explore the philosophical foundation of Vidya Bharti in reference to Indian Knowledge tradition.

Some key tenets that aid in comprehending the philosophical ideology

have been employed to explain the philosophical foundation of the Vidya Bharati schools in the context of the Indian knowledge tradition. The philosophical foundation of the Indian knowledge tradition has also been explained based on these tenets. An effort has been made to contextualize the analysis.

Theme- Knowledge

Method of data collection-

- Interview

with-

1- Dr. Dinesh Singh (Secretary of Lucknow branch)

2- Mr. Vikram Bahadur (Principal, Jwala Devi I.C., civil lines)

3- Mr. Yugal (Principal, Jwala Devi IC, Teliarganj)

- Content Analysis

Philosophical background of Vidhya Bharti	**Relation to Indian Knowledge Tradition**
• Knowledge (vidya) is a means to attain self-realisation and spiritual growth. • knowledge includes self-awareness, moral growth, and realising one's actual nature in addition to academic or factual learning. • The purpose of knowledge is to perfect a man. • The human soul is the wellspring of knowledge. • Knowledge is capable to make a man enlighten. • Knowledge has the power to enlighten a man.	• Ved, Vedant, Adwait Vedanta, Gita and many other Indian Philosophies considered Knowledge as a means to self-realisation. • **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** **तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।** - *Gita*, 4.33,37-38 • "The goal of mankind is knowledge . . . What man "learns" is really what he discovers by taking the cover off his own soul, which is a mine of infinite knowledge." • "Knowledge alone can make us see God." - *Swami Vivekananda* • आत्म दीपो भवः- *Mahatma Budhh*

Theme- Education

Method of data collection-

1- Interview

2- Literature
3-Asia Education Review team,17 August, 2023
4- *Logo*Logo of Vidya Bharti

• Vidya Bharti, rooted in traditional Indian values, likely views education as a holistic process aimed at nurturing not just intellectual development but also moral, emotional, and spiritual growth. • Approach to education likely emphasises the integration of ancient Indian wisdom with modern academic curriculum, fostering a balanced and well-rounded development of students. • This approach often includes values such as respect for elders, reverence for nature, and a focus on character-building alongside academic excellence. • Education is the most effective means of creating a sense of nationalism. • Moto of Vidya Bharti revels in its logo- "साविद्यायाविमुक्तये"	• **विद्या ददाति विनयं विनयात याति पात्रताम्।** **पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥** ---Vrind-Satsai • *"..... सा विद्या या विमुक्तये....."* - Vishnu Puran • **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी** - *Ram Charit Manas*

Theme- Morning Assembly
Method of data collection-
1- Observation

Philosophical background of Vidhya Bharati	Relation to Indian Knowledge Tradition
● **Saraswati Vandana-** **या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता।...** Sample link- *https://m.youtube.com/watch?v=Yuoc6JsGZBA* ● **Gita Shlok –** Shreemad Bhagavat Geeta 18th Adhyaya सन्यासस्य,..... पृथक्, केशिनिषूदन।।1।। काम्यानाम्,..... कर्मणाम्, विचक्षणाः।।2।। *https://m.youtube.com/watch?v=Yuoc6JsGZBA* ● **Shubhashit Shlok-** -अयं.....वसु धैवकुटम्बकम्। -सत्यंब्रूयात.....सनातनः। -एकेन अपि.....गर्दभी । ● **प्रातः स्मरणमंत्र (Morning remembrance mantra)-** कराग्रे वसते लक्ष्मी, करमध्ये तु सरस्वतीं । करमूले तु गोविन्द, प्रभाते कर दर्शनं ॥ and others ● **Chanting Om three times.** ● Morning Exercise- सभी मन्त्रों के साथ सूर्यनमस्कार के सभी चरण।	● Mother Saraswati is considered the goddess of knowledge and art. Saraswati Vandana- ***(या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता।...)*** *is a part of regular puja shloka and Saraswati Mantra is in Saraswati Sukta of 'Rigveda' which is completely different.* ● ***या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता.....*** *'Rigveda'* ● ***सन्यासस्य, महाबाहो, तत्त्वम्, इच्छामि, वेदितुम्*** ***त्यागस्य, च, हृषीकेश, पृथक्, केशिनिषूदन--****Chapter -18, Verse -1* ● ***काम्यानाम्, कर्मणाम्, न्यासम्, सन्यासम्, कवयः, विदुः,*** ***सर्वकर्मफलत्यागम्, प्राहु; त्यागम्, विचक्षणाः-*** *Chapter -18, Verse -2* ● ***अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।*** ***उदारचरितानां तु वसुधैव कुटम्बकम्॥*** ● सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् ब्रूयान्नब्रूयात् सत्यंप्रियम्। प्रियं च नानृतम् ब्रूयादेषः धर्मः सनातनः।। ● ***एकेन अपि सुपुत्रेण सिंही स्वपिति निर्भयम् ।*** ***सह एवद शभिः पुत्रैः भारं वहति गर्दभी ।।*** *--Shubhashit Shlok*

Theme- Lunch (A group activity)
Method of data collection-
1- Observation

Philosophical background of Vidhya Bharti	Relation to Indian Knowledge Tradition
• **There is a proper procedure for lunch in Vidya Bharti schools.** • **It is a group activity, and before lunch students and teachers sit on the earth on a mat together and pray to God with the help of the Bhojan Mantra, that is,** ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीत मस्तु मा विद्विषावहै ।। ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः ।।	*ॐ सहनाववतु, सहनौभुनक्तु, सहवीर्यंकरवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तुमाविद्विषावहै ।। ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः ।।-कठोपनिषद - कृष्णयजुर्वेद*

Theme- Institutional Environment
Method of data collection-
1. Observation

Philosophical background of Vidhya Bharti	Relation to Indian Knowledge Tradition
• **Pictures of national leaders in the campus-** • **Shows like their heroes, such as-** Swami Vivekanand Devi Saraswati Shree Ram Bhagat Singh Subhash Chandra Bosh Chandrashekhar Azad Etc. • **Unique experiment to nomenclature of every room and halls or section of the school, such as-** ध्रुव कक्ष	• ***Swami Vivekanand* and *devi Saraswati* directly related to Indian Knowledge Tradition and other pictures of freedom fighters (national leaders) shows their Nationalism.** • **All names are related to freedom fighters of India to create an environment of Indianness and Nationality.**

सुभाष कक्ष विवेकानंद कक्ष भगिनी निवेदिता हॉल....etc ● **Unique style of addressing to each other, like-** Teacher to male student- भैया जी Teacher to female student- बहन जी Student to male teacher- आचार्य जी Student to female teacher- आचार्या जी Everyone to Principal- प्रधानाचार्य जी Teacher to other teachers- भाई साहब	● **In Indian Education system teachers are called as *Aacharya* and head of teachers are called *Pradhanacharya.*** ● **Addressing to students as Bhaiya and Bhan ji is inspired by** वशुधैव कुटुम्बकमI ● अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम् *— (महोपनिषद्, अध्याय 6, मंत्र 71)*
Etc. ● **Discipline in campus-** The spirit of discipline is visible everywhere in the campus like- 1. parking the bicycle in the bicycle stand, 2. making one's own queue for water, 3. walking in queue to go to the classes, 4. decent behaviour with the teachers, 5. following the rules while performing in any group activity. Etc. ● **Indian form of greeting** Students use **Pranaam** by touching the feet of their teachers**, unlike Namaste**. ● **Language of Communication-** ● Generally, Hindi language is used in colloquial speech in campus but the most important feature of its use is that ***adequate attention is paid to the pronunciation and selection of Hindi words*.** ● Traditional Sanskrit words are used to give instructions. Such as - उत्तिष्ठ to get up, कुरु- to start the work आरम- to stand comfortably दक्ष- to stand carefully ● **Amazing integration of latest technology with ancient Indian ideological foundations.**	● **Self-discipline** (स्वानुशासन) **also known as , is the sole method of discipline used in Indian education tradition.** ● **The Indian educational system recognizes that touching the feet of the Guru**

1. Atal Tinkrig Lab- For futuristic inventions 2. Advance science lab 3. Rich Library 4. Adequate facility of sports 5. Proper uses of computers..etc	

Result :

The analysis presented above leads to the following conclusions:

1. There are many similarities between the Indian knowledge heritage and the concept of knowledge practiced in Vidya Bharati schools. The same kind of knowledge has been theorized, much as in the Indian knowledge tradition, where it has been seen as a means of *self-expression* and *self-enlightenment*. On this premise, Vidya Bharati carries out its educational mission.

2. The educational philosophy of Vidya Bharati is consistent with the philosophy of traditional Indian education. The school system clearly demonstrates *Sa Vidya or Vimuktaye's* direction.

3. The morning assembly exercises at schools, such as *Saraswati Vandana, the pratahsmaranmantra, the Subhashit mantra, reciting passages from the Geeta, yoga*, etc., are imitations of the Indian educational system that focuses on developing the personality.

4. It has also been established that the Indian educational system includes the recitation of the *Bhojan Mantra* prior to meals.

5. Using Bhojan Mantra before meals is also proved to be a part of the Indian school system.

6. Planned arrangements made in the institutional environment of schools, such as naming of classes, words used to address each other, language and body language, teacher-student relationship, teachers' dress, motto and photographs of role models is authentically influenced by the Indian wisdom tradition.

Conclusion :

The education community as a whole is currently talking a lot about connecting education to Indian ideological foundations. Over time, the emphasis on the development of a fully formed personality was lost from the rich, cogent, and well-organized Indian educational theory. I Without a doubt, Vidya Bharati deserves praise for her attempts to bring back the Indian educational heritage in post-independence India. I The way the school environment, language, communication, teacher-student dynamic, and other significant cultural clues have been interpreted in the context of shaping the child's whole personality is distinctive in and of itself. It is easy to notice how Indianness is reflected in every activity, every moment, and every strategy in Vidya Bharti schools.

In conclusion, it appears that the rich legacy of Indian knowledge is strongly linked to the educational spirit of Vidya Bharti. The university demonstrates its commitment to holistic education by creating an environment that values character development and ethical standards and integrates traditional wisdom into its curriculum. While further research may provide a more comprehensive explanation, this case study suggests that Vidya Bharti's educational philosophy aligns with the Indian knowledge tradition's aim of producing well-rounded individuals.

References

- Bakaya, Akshay (2004). "Lessons from Kurukshetra the RSS Education Project". In Anne Vaugier-Chatterjee (ed.). Education and Democracy in India. New Delhi: Manohar. ISBN 8173046042.
- BharatheeyaVidyanikethan the Kerala chapter of Vidya Bharti Akhil Bharatheeya Siksha Sansthan "Vyasa Vidya Niketan - Our parent body". Archived from the original on 19 April 2016. Retrieved 8 June 2023..
- Chandavarkar, Rajnarayan (2009). "Historians and the nation". History, Culture and the Indian City : Essays. Cambridge University Press. p. 197. doi:10.1017/CBO9780511642036.009. ISBN 978-0-521-76871-9.
- Gupta, Shekhar (21 September 2015). "Confessions Of AShakhahari". Outlook. Retrieved 31 December 2023.
- Jaffrelot, Christophe (2011). Religion, Caste, and Politics in India. C Hurst & Co. ISBN 978-1849041386.
- Kapil Dixit (21 February 2020). "Muslim students in UP's RSS schools rise 30% in 3 years | Allahabad News - Times of India". The Times of India. Retrieved 16 November 2023.
- Kumar, Krishna (1998). "Hindu Revivalism and Education in North-Central India". In Martin E Marty; R. Scott Appleby (eds.). Fundamentalisms and Society: Reclaiming the Sciences, the Family, and Education. University of Chicago Press. pp. 536–557. ISBN 0226508811.
- Lall, Marie (2005). "Indian education policy under the NDA government". In Katherine Adeney; Lawrence Saez (eds.). Coalition Politics and Hindu Nationalism. New York: Routledge. pp. 169–186. doi:10.4324/9780203007792-19. ISBN 0-415-35981-3.
- Malik, Yogendra K.; Singh, V. B. (1994). "Organization, Decision-Making, and Supportive Groups". Hindu Nationalists in India : The Rise of the Bharatiya Janata Party. Boulder: Westview Press. p. 157. ISBN 0-8133-8810-4.
- Nair, Padmaja (2009). Religious political parties and their welfare work: Relations between the RSS, the Bharatiya Janata Party and the Vidya Bharati Schools in India (PDF). University of Birmingham. ISBN 978-

8187226635. Retrieved 15 September 2014.
- Ramakrishnan, Venkitesh (7–20 November 1998). "A spreading network". Frontline. Retrieved 16 September 2023.
- Sundar, Nandini (2005). "Teaching to Hate: The Hindu Right's Pedagogical Program". In E. Ewing (ed.). Revolution and Pedagogy : Interdisciplinary and Transnational Perspectives on Educational Foundations. Vol. 39. New York: Palgrave Macmillan. pp. 1605–1612. doi:10.1057/9781403980137. ISBN 978-1-4039-8013-7. JSTOR 4414900. {{cite book}}: |journal= ignored (help).
- "Assam Class 10 topper is a Muslim boy from RSS-backed school". Hindustan Times. 1 June 2016. Retrieved 9 November 2023.
- "Informal Education Units (11,353) | Vidya Bharti Akhil Bhartiya Shiksha Sansthan". vidyabharti.net. Retrieved 16 November 2023.
- "Muslim boy tops Class 10 exams in RSS-affiliated school". Deccan Chronicle. 1 June 2016. Retrieved 9 November 2023.
- "PM Modi urges Vidya Bharati schools to aim for excellence". The Indian Express. New Delhi. Express News Service. 13 February 2016. Retrieved 3 February 2024.
- "RSS wing steps in to fill govt school gap". The Telegraph. 30 November 2002. Archived from the original on 24 September 2014. Retrieved 2 February 2024.
- "Shishu Shiksha Samiti". Archived from the original on 30 March 2018. Retrieved 4 March 2024 http://sanskrit documents.org
- "Sri Vidyaranya Avasa Vidyalayam". Retrieved 20 September 2023.
- "Vidya Bharati Selected as Vanguard Member by the International Development Innovation Alliance IDIA for its Million Lives Club". The Week. Retrieved 10 January 2024.

●

A Historical Overview of the Structure and Functionality of the Gurukul System inAncient India

Dr. Dhanraj Sardar Gusinge[*], Dr. Shashikant Pandey[**]
Ruchi Tiwari[***]

Abstract : The ancient Indian Gurukul system functioned as a residential model of holistic education, where students (shishyas) lived with teachers (gurus or acharyas) in natural, secluded settings. It emphasised the integration of intellectual, moral, spiritual, and practical training through oral instruction, experiential learning, and disciplined living. The curriculum encompassed Vedic texts, philosophy, sciences, and arts, fostering character, knowledge, respect, self-reliance, and community service. Educational progression was marked by Upanayana at initiation and Guru Dakshina at completion. While initially inclusive, female participation declined over time. Central to the system was the enduring guru–shishya bond, which influenced the rise of renowned universities such as *Takshashila* and *Nalanda*, leaving a lasting impact on Indian educational and cultural traditions.

Keywords : Ashram, Brahmachari, Upanayana, Samavartana, Vedas, Alms, types ofteachers, forest universities, co-education, holistic development

Introduction : A society is formed through the persistent interaction of groups of people, and its growth and development depend upon various individual, complementary, and supplementary elements. Among these, education occupies a central place, as it provides the fundamental base for acquiring knowledge, fostering innovation, and ensuring social stability. It enables individuals not only to survive in the world but also to recognise their duties andresponsibilitiestoward society. In ancient India, education was regarded as a powerful instrument for character building, with particular emphasis on moral and spiritual values alongside the transmission of knowledge across generations. This approach is reflected in the establishment of Gurukuls, a distinctive educational system of ancient times, where students pursued learning under the guidance of capable teachers while living a disciplined life rooted in simplicity, service, and celibacy. The Gurukul model not only imparted intellectual and

* Assistant Professor (Contractual)– Department of History and Archaeology, Central University of Karnataka, Kadaganchi, Kalaburagi, 585367

** Assistant Professor (Guest Faculty)– Department of History, Govt. Dudhadhari Bajrang Girls Postgraduate College,Raipur,Chhattisgarh (An Autonomous Institution)

*** Independent Research Scholar

practical skills but also nurtured ethical conduct, self-reliance, and respect for societal values, thereby producing individuals who contributed to the stability and progress of their communities.[4]

The Gurukul System and Learning Environment : In early times, gurukuls were established as centres for the acquisition of knowledge. These institutions were generally located in areas isolated from the urban milieu, reflecting a deliberate preference for environments conducive to focused learning. Dr. Rabindranath Tagore suitably observed that the forest, rather than the town, is the fountainhead of Indian civilisation.[5] While some gurukuls may be described as 'forest universities,' not all were situated in forests; many existed within villages and towns, as gurus were often householders residing with their families. Nevertheless, a preference for seclusion prevailed.[6]The Mahabharata mentions renowned gurukuls and ashrams located in forests, such as Naimisha, which was headed by Saunak.Other notable hermitages mentioned include those of Vyasa, Vasistha, and Vishvamitra. An ashram near Kurukshetra is even recorded as hosting two female rishis.[7]

Ashrams were traditionally established in a peaceful environment characterised by purity, tranquillity, natural beauty, reliable water access, and resources necessary for daily life. The location was chosen to be as remote as possible to prevent students from easily meeting their family members and relatives. This was done to foster disciplined and responsible characters in students, helping them become self-reliant. During the early Aryan civilisation, Ashrams and Gurukuls were usually built in remote towns. When a child was old enough for the Upanayana ceremony, guardians would send them to the Gurukul under the guidance of their acharyas.[8] In most parts of India, the first Upanayana ceremony for children, whether boys or girls, was conducted formally. Even today, this ceremony is celebrated as Haathekhori during Saraswati Puja in Bengal and as Vidyarambha or Aksharabhyas in South India, where children are asked to write the alphabet on rice. The Janeu Sanskar, also known as Upanayana Sanskar, is a traditional ceremony performed for Dwija boys between the ages of eight and twelve, marking the beginning of their formal education.[9]It was believed that through this ritual, the Acharya conceives the disciple in his womb.[10]Under this Sanskar, an auspicious day was chosen for Vedarambha, from which the education of children was considered to start, which was also called Aksharswikaran.[11]

Teachers, Students, and Educational Practices : Teachers were once known by different terms in early literature, such as Acharya, Upadhyay, and Guru, with each title denoting different duties and attributes. An Acharya not only instructs students but also embodies fine character and a good intellect, and they traditionally did not accept fees for

their teaching.[12]The student gains knowledge from the acharya.[13]'Upadhyaya' teaches some specific sections of the Vedas or Vedangas and charges fees for their teaching services.[14]In addition, the Guru completes religious rituals and imparts the teachings of the Vedas.[15]

Early literature mentions certain qualifications for an Acharya and a Guru. The Acharya is considered the guru of all gurus.[16]As described in the Apastamba Dharma Sutra, acharyas and gurus were considered the foremost scholars in their subjects. The earliest authors of Ayurveda, Charaka and Sushruta, prescribed a special Upanayana ceremony for students seeking admission to medical courses, known as the Ayurvedic Upanayana.[17]Similarly, the Dhanurvedic Upanayana ceremony, performed before beginning military training, is clearly mentioned in Vashistha'sDhanurvedic Samhita.[18]

In the Indian knowledge system, the relationship between a guru and a disciple is considered extremely sacred.Teachers are supposed to treat their disciples with generosity and not harshness.[19]According to the Apastamba Dharma Sutra, a teacher should treat his disciple with affection and teach him every skill. However, affection does not mean that the teacher allows his disciple to become unruly, for which he must be treated harshly. Manu states that a teacher should be kind to their disciple.[20]The Matsya Purana also describes the duties and characteristics of an acharya, stating that he should be fair to his disciples, disciplined, God-fearing, truthful, patient, knowledgeable, compassionate, virtuous, and self-controlled. The qualities of an acharya include being old, selfless, humble, and gentle.[21] Studies of early literature reveal that acharyas were financially independent, and charging fees from students was considered reprehensible. They were responsible for the care of their disciples. An acharya who cared for ten thousand students was called a Kul Pati (Kulaguru). Sages like Vasishtha, Bharadwaja, Valmiki, and Kanva, despite being ascetics, were wealthy and able to host thousands of guests. In the Brihadaranyaka Upanishad, Acharya Aruni describes his wealth thus: "I have a sufficient number of cows, horses, maidservants, blankets, and clothes."[22]

In the ancient Indian system of knowledge, the Vedas were considered the true source of wisdom. Studying the scriptures was essential to attaining true knowledge. Therefore, this rite, also known as the VedarambhaSanskara, required the student to observe certain celibacy rituals, such as wearing a deerskin, a girdle, a sacred thread, and a staff.[23]Originally, students lived and studied in Gurukuls under the tutelage of their gurus, and were called "antvasis." Not only common people, but even princes lived in these Gurukuls, serving their gurus and studying the Vedas. Celibacy was mandatory during student life, and students were called brahmacaris. This period of their lives is called the Brahmacharya

Ashrama.[24]Gurukul students live lives imbued with moral virtues. Pleasure and luxury were considered obstacles to the attainment of knowledge and were therefore prohibited for students. According to the Mahabharata, student life should be free from joys and sorrows. Anyone who seeks luxury and comfort should abandon knowledge.[25]A celibate should not consume prohibited things, and it is also prohibited to consume such things that destroy celibacy.[26]Following the instructions of the Acharya and doing the daily work of the Gurukul were the duties and responsibilities of the Brahmachari.[27]It is said in the Mundaka Upanishad that the student should remain present before the Guru and serve him.[28]The student must perform all the duties of the ashram, as described in ancient texts. He serves his guru as a son and servant. While in the ashram, he sleeps on the floor and wakes up before sunrise. If he wakes up late, he chants the Gayatri Mantra.[29]Collecting wood for the yajna (sacrifice) in the ashram was an important task, considered a student's duty according to the Paraskara Dharma Sutra.[30]A story from the Mahabharata also describes students grazing the ashram's cows.[31]They would collect alms from nearby villages and give it to their guru, in return for which their guru would give them a portion of the alms. Students would eat less, skip meals, or eat repeatedly; all of these were considered bad behaviour. While receiving their education, students lived in the ashrams and also worked for them. However, in later times, two types of students emerged: those who came from wealthy families and paid the fees for their studies. MahavaEga mentions *Jivaka*, who stayed in Takshashila for about seven years, looked after by his guru, Ayurvedacharya. Later, when he became capable, he sent abundant wealth to his ashram.[32]Gurukulas provided free education to students, but after completing their studies, they were required to pay guru dakshina (a type of guru dakshina). Manu states that students paid no fees to their gurus during their studies, but after completion, they were required to give dakshina in the form of land, gold, horses, umbrellas, clothes, seats, and other gifts.[33]

Gurukuls have often been compared to modern boarding schools; however, the regularity of their functioning and the manner in which academic sessions were conducted are not clearly documented in contemporary literature. Nevertheless, references are made to certain ceremonies such as Upakarma and Uttsarjana. The former, observed on SravaGîPûrGima, marked the commencement of the academic session, while the latter, performed on the full moon of the month of Pauca, denoted its conclusion.[34] This period was especially devoted to the study of the Vedas. Gurukuls also observed holidays, which were categorised into three types. The first comprised regular holidays, such as those occurring on significant lunar days in the Hindu calendar—Pratipada (the first day of the

fortnight), Acmamî (the eighth day), Caturdasî (the fourteenth day), PûrGima (full moon), and Amavasya (new moon).[35] The second type of holiday was granted in exceptional circumstances, including attacks, accidents, natural calamities, or mutinies. Yajñavalkya mentions thirty-seven varieties of such extraordinary holidays. The third type of holiday was observed when guests visited the ashram, as also noted by Yajñavalkya.

An examination of the composition of the gurukul reveals several examples of co-education, as female education in the early period was accorded equal importance to that of male education. Women were provided with opportunities for learning comparable to those available to men. For instance, numerous sûktas and hymns of the Zgveda are attributed to female sages. Among them are Lopamudra, Visvara, Aitreyi, Apala, Kakasvatî, and Ghoca. Furthermore, the Atharvaveda suggests that young women should observe brahmacaryato secure a worthy husband.[36]

The B[hadaraGyakaUpanicad contains references to women scholars who chose divine knowledge over material possessions. One such example is Maitreyî, the wife of Yajñavalkya, who sought instruction in brahmajñana. Similarly, the Upanicads encourage daughters to pursue scholarship. Patanjali's Mahabhacya also provides evidence of the recognition of female education in ancient India.[37]

The texts also refer to female teachers, who were designated by the terms Upadhyaya and Acarya. The wife of an Acarya was known as AcaryaGî, while the wife of an Upadhyaya was referred to as Upadhyayanî.[38]Harita distinguishes between two types of women: the Brahmavadinî and the Sadyovadhû. The former was required to undergo upanayana, perform agnyadheya (the tending of the sacred fire), and study the Vedas. They were also instructed to seek alms from their own households. For the latter, the upanayana ceremony was performed at the time of marriage.[39]Gobhila further prescribed that women should wear the sacred thread (yajñopavîta) during the upanayana saCskara.[40]

From these examples, it is evident that female education was taken into consideration, making the prevalence of co-education a distinct possibility. In several ashrams, girls resided alongside sages and acquired knowledge in the same manner as their male counterparts. Bhavabhûti, for instance, refers to Aitreyi, who studied with Lava and Kusa in the asrama of Valmîki, as well as to Kamandakî, who studied with Bhûrivasu and Devavrata. Similarly, in his play Nagananda, Harca mentions Malyavatî, who pursued her studies with male students. However, such examples of co-education were relatively rare and may have been more prevalent within royal families. While the existence of female education is well attested, it gradually declined in the later period.

The Samavartana or Snana ceremony was performed at the conclusion of the brahmacarya period to mark the termination of a student's course of education. This ritual closely resembled, in many respects, the modern convocation ceremony. Just as only those who have completed their examinations are admitted to convocation today, in ancient times, only those who had completed their studies were honoured with the privilege of Samavartana. The ceremony was reserved for students who had completed the entire course of study and performed all the requisite vratas. Some scholars even argued that those who had merely memorised the Vedas, without the ability to interpret their meaning, should not be entitled to undergo this rite.[41]

In earlier periods, the ceremony was held once a student's education had concluded, and marriage often followed, though not immediately. In later times, however, the belief emerged that an individual should not remain without belonging to an asrama even for a single moment. Thus, if a snataka (graduate) did not marry immediately after completing his education, he was regarded as passing through a transitional stage in which he was neither a brahmacarin nor a g[hastha (householder).[42] A critical examination of the Samavartana ritual illustrates the high esteem in which society held those who had completed their education. A BrahmaGa passage quoted in the G[hyaSûtras explicitly asserts that the snataka was considered a figure of great authority and power.[43]

Unlike the modern system, ancient Indian education did not involve regular examinations or periodical tests. A student was introduced to new lessons only when the teacher, after a rigorous oral assessment, was satisfied that the previous lesson had been thoroughly mastered. The conclusion of education was not marked by exhaustive examinations but by the student's recitation and explanation of the final lesson.[44] The practice of the salaka-parîkca—in which a student was asked to explain a randomly selected passage—though not mentioned in early texts, may have existed in some form, though it cannot be compared to the modern examination system.[45]

At the end of his education, a scholar was often presented before a local assembly of learned men, who occasionally tested his knowledge with questions.[46] Since there was no system of formal degree examinations, there were naturally no degrees or diplomas. However, according to Taranatha, the Pala kings of Bengal—patrons and chancellors of Vikramasîla University—instituted the practice of granting diplomas to students during convocations at the conclusion of their studies.[47] This, however, seems to have been a later development and was not part of the gurukul tradition.

Students in ancient India did not endure the formal trials of written

examinations that characterise modern education. Yet their position was hardly enviable. Unlike modern graduates, who may rely on their degrees regardless of whether they retain their learning, scholars in ancient India could not take refuge behind a certificate. They were required to keep their knowledge fresh and readily available, for they could be challenged at any time to a literary debate or sastrartha. Their reputation and standing in society were judged by their ability to defend their learning in such intellectual contests. Everything they had studied had to remain at the tip of their tongue; they could neither appeal to a diploma nor defer to a notebook.[48]

The gurukul system was regarded as highly beneficial and was followed wherever circumstances permitted. However, it should not be assumed that it was universal or that it encompassed the entire course of education. The Sm[tis prescribe that immediately after upanayana, at around the age of eight or ten, a boy should move to his teacher's house to pursue higher education.[49]In practice, this varied according to social and economic circumstances. Poor boys likely left their homes at an early age, living with their teacher, begging for daily food, assisting with household tasks, and devoting their remaining time to study. By contrast, children from well-to-do families were generally sent to their teacher's house or to towns for higher education only when they had grown old enough to take care of themselves. When competent teachers were available within the town itself, it seems probable that only princes and wealthy merchants—possessing surplus resources—chose to send their wards to distant gurukuls.It is also doubtful whether local students, when both teacher and family resided in the same locality, would have chosen to board with the teacher rather than remain at home under parental care. At present, however, there is no conclusive evidence to prove either alternative.[50]

Curriculum, Subjects, and Higher Institutions : The true sources of knowledge in the ancient Indian education system were the Vedas, Upanicads, BrahmaGa texts, and VedaEgas. A study of these early texts reveals that the central aim of education was the acquisition of knowledge derived from the Vedas. To achieve this, subjects were broadly classified into four categories: religion, art, sculpture, and science. During this period, spiritual development was emphasised over material advancement, and thus religious study formed the primary focus. Observing ritual purity during Vedic recitation was mandatory, and several distinct styles (pamhas) of recitation were practised, including Samhita-pamha, Pada-pamha, Jata-pamha, and Ghana-pamha.

In later times, as explanations of the Vedas were developed, new bodies of literature emerged—such as the BrahmaGas, AraGyakas, Upanicads, VedaEga-sûtras, and Sm[tis. These texts were also incorporated

into the curriculum, their primary purpose being to facilitate a deeper understanding of the Vedas. Gurukuls provided instruction in the four Vedas (Zgveda, Yajurveda, Samaveda, and Atharvaveda), the four Upavedas (Gandharvaveda, Dhanurveda, Arthaveda, and Ayurveda), and the six VedaEgas—namely Nyaya, Vaisecika, SaCkhya, Yoga, MîmaCsa, and Vedanta. Students also studied the Dharma-sûtras, G[hya-sûtras, Sm[tis, and PuraGas.[51]

With the rise of Upanicadic literature, the focus of education shifted toward divine knowledge, or Brahmavidya. This advanced knowledge, however, was reserved for highly skilled scholars. Even those already versed in the Vedas and VedaEgas often sought the guidance of sages to comprehend the Upanicads fully. Bhavabhûti records that Sage Agastya was a distinguished acarya of Brahmavidya, attracting students from great distances.[52] During the Upanicadic period, knowledge was systematised into fourteen branches: the four Vedas, six VedaEgas, PuraGas, Nyaya, MîmaCsa, and Dharmasastra.[53] With the addition of the four Upavedas, this expanded to eighteen branches. The ChandogyaUpanicad recounts Narada's enumeration of numerous subjects, including the Vedas, Itihasa-PuraGa, Pit[vidya (ancestral knowledge), arithmetic, natural sciences, mineralogy, logic, jurisprudence, zoology, military science, astrology, and ritual sciences.

Other authoritative texts also classified knowledge. Manu divided it into four categories: Anvîkcikî, Trayî, Varta, and Danda-nîti.[54]Bhavabhûti urged the study of such subjects, while Ananga Harca listed VyakaraGa (grammar), MîmaCsa (epistemology), Nyaya, Samudrika-sastra, Jyotica (astrology), the six VedaEgas, and the languages of other regions.[55] Dr. R.K. Mukherjee later systematised this into a long list, which included Anusasana, Itihasa-PuraGa, Anuvakhyana, Vyakhyana, Gatha, NarasaCsî, Sastravidya, Rasi, Nakcatravidya, Bhûtavidya, Sarpavidya, Upanicads, Vedanta, and many more.[56]

The Mahabharata also describes ashrams that maintained specialised faculties or departments. Among them were the Agnisthana (where fire rituals were taught), Brahmasthana (devoted to Vedic studies), VicGusthana (teaching political science, economics, and statecraft), Mahendrasthana (military training), Vivasvasthana (astrology), Somasthana (botany), Garu asthana (engineering and vehicle sciences), and Karttikeyasthana (military organisation).[57] Alongside these, instruction was also provided in the celebrated sixty-four arts (kalas) mentioned in the Naradasm[ti. The Lalitavistara expands this list to eighty-four, while the Jatakas refer to eighteen skills (sippas). Classical works such as the RamayaGa, Bhagavata PuraGa, Mahabhacya, Dasakumaracarita, Kadambarî, and Kamasûtra also emphasise the sixty-

four arts.

The range of subjects taught in ancient India was truly vast. Even disciplines such as linguistics, pedagogy, and humour formed specialised departments.[58]There were recognised experts in every branch of knowledge – whetherin the four Vedas, ritual sciences, metrics (chandas), grammar (vyakaraGa), or etymology (nirukta). Logicians specialised in Nyaya and dialectics, while others advanced the physical sciences and fine arts. Notably, there was no rigid separation between religion and science; one field often led seamlessly into the other.[59] Under the Dharmasastra, sutras and sm[tis formed the primary content. Political science, or Dandanîti, was also a major subject, taught by prominent figures such as Manu, CaGakya, B[haspati, Kamandaka, and Sukra. Itihasa-PuraGa was integral to the curriculum, as it interwove teachings of dharma, artha, kama, and mokca. The RamayaGa and Mahabharata were principal texts in this field. The PuraGas, too, were considered essential for understanding religious rituals and cosmological order, traditionally organised into five categories: sarga (creation), pratisarga (dissolution and recreation), vaCsa (genealogies of gods and sages), manvantara (cosmic ages), and vaCsanucarita (royal lineages).

It is no surprise that the Vedas, the earliest known oral texts reflecting the thought of a highly developed society, contain numerous exquisite references to nature and the interdependence of living organisms. Over time, the transmission of learning across generations became increasingly institutionalised, giving rise to celebrated centres of higher education such as Takcasila, Nalanda, and the great temple universities, the remains of which still survive in southern India. These institutions emerged as hubs of knowledge dissemination, intellectual debate, and philosophical inquiry. Ancient Indian scholars were deeply invested in exploring multiple dimensions of existence—the material and the moral, the physical and the spiritual, the perishable and the permanent.[60] In the pursuit of such perspectives, they made significant advances in science, mathematics, and applied medicine.

In addition to temples, institutions such as the Ghamika, the Agrahara, and the Mamha played a crucial role in education. The Ghamikas were associations of learned acaryas who engaged in rigorous discussion of Vedic thought. They are believed to have played a central role in establishing Kancipuram as a preeminent centre of Vedic learning, even influencing the selection of kings. Many renowned poet-scholars and saint-philosophers of Tamil literature were closely associated with Kanchipuram.[61] The Agraharas functioned as settlements of learned BrahmaGas, governed by their own codes and supported by the generosity of donors. The Mamhas, likewise, were institutions of learning and,

together with the Agraharas, served as academies of excellence comparable to modern research institutes.[62]

These three institutions evolved as more elaborate forms of the gurukul, often patronised by local leaders or kings. The gurukul remained the foundational model of education in ancient India, forming the base upon which large universities were later developed. Their importance did not diminish, however; gurukuls continued to function alongside universities, focusing primarily on elementary education while the universities became centres of advanced learning. With increased patronage and financial support, some gurukuls themselves expanded into large institutions resembling the Agraharas, Ghamikas, and Mamhas.

The tradition of the Mamha has survived into the present day, though in modified form. Unlike their ancient counterparts, they are now largely non-residential, often functioning as schools. Yet they continue to preserve the enduring legacy of the Vedas and their central role in sustaining the cultural and intellectual heritage of India.

Conclusion and Contemporary Relevance : The study of the ancient Indian education system makes it evident that its primary aim was the ethical and spiritual development of the individual, with knowledge fundamentally rooted in the Vedas. Initially transmitted orally and later compiled into texts, the Vedas and their subsidiary literatures provided both a spiritual and intellectual foundation for learning. Since these texts were regarded as divine, there existed no rigid boundary between religious and scientific instruction. Although some critics have labelled the system as predominantly religion-oriented, it is more accurate to view it as a balanced framework wherein religion and science are interwoven, enabling learners to perceive the scientific principles underlying religious practices and the spiritual insights within scientific inquiry.

The gurukul system exemplified this holistic approach. It nurtured self-reliance, discipline, resilience, and practical knowledge, while regular practice fostered precision and mastery of skills. Education was comprehensive, encompassing art, science, linguistics, and philosophy, thereby cultivating well-rounded individuals. This sustainable model of education continues to hold relevance, and its enduring principles resonate strongly with contemporary reforms.

Significantly, the National Education Policy (NEP) echoes many of these ancient ideals, emphasising holistic development, experiential learning, ethical values, mentorship, and life skills – featurescentral to the gurukul tradition. By integrating the timeless wisdom of India's educational heritage with modern pedagogical innovations and technology, it is possible to create a more effective, balanced, and transformative learning experience for the present and future generations.

References :

1. Krishan Kumar, *Prachin Bharat ka Sanskritic itihas* p.431
2. *Vishva Bharti* quarterly, April 1924, p.64
3. *Education in ancient India*, A.S Altekar.s.l. Nand Kishore and Bros, 1944.
4. R.K Mukherjee, *Ancient Indian education – Brahminical and Buddhist*, s.l.: Motilal Banarsidass, 1960
5. Krishan Kumar, *Prachin Bharat ka Sanskritic itihas*, p.432
6. Sahana Singh, *The educational heritage of Ancient India*, p.3
7. आचार्यउपनयमानोकृणुतेब्रह्मचारिणींगर्भमन्त ।तंरात्रीस्तिस्त्रउदरेबिभर्तितंजातंदष्टुमभिसंयन्तिदेवाः ।। - *अथर्ववेद*11.5.3
8. R.K Mukherjee, *Ancient Indian Education*, p. 173
9. *Nirukta*1.4
10. *Apastambdharma sutra* 1.1.1.1.4
11. *Manu Smriti* 2.140
12. *Yagyavalkya smriti* 1.34
13. *Gautam sutra* 2.5.
14. *Sushrutasahimta,* II,5
15. Vasishtha,*Dhanurveda-Samhita,* I, 4-23
16. Krishna Kumar, *PrachinBharat ka Sanskriticitihas*, p. 416
17. *Manu Smriti* 2.159
18. *Matsyapuran* 145.28
19. *Bhrihadarnyaka Upanishad* 6.2.7
20. Krishana Kumara, *Prachin Bharat ka SanskriticItihas*, p.413
21. Krishan Kumar, *Prachin Bharat ka SanskriticItihas*, p.434
22. सुखार्थिनकुतोविद्याविद्यार्थिनः कुतः सुखम्।सुखार्थीवात्यजेद्विद्यांविद्यार्थिवात्यजेत्सुखम्। - *महाभारत,*उद्योगपर्व, 4.6
23. *Manu Smriti* 2.177-179
24. *Manu Smriti* 2.192.
25. *Mundakopnishad*2.8
26. *Manu smriti* 2.220
27. *Paraskar Dharma Sutra* 2.5.9
28. *Mahabharat*, Aadi Parva, 3.335-59
29. *Mahavangg* 8.6-8
30. *Manu smriti* 2.245-46
31. Krishna Kumar, *prachin Bharat ka Sanskritic itihas*, p.429
32. *Manu smriti* 4.113, 114; *Boudhayan Dharma sutra* 1.11.42,43
33. ब्रह्मचर्यणकन्यायुवानंविन्दतेपतिम्। - *अथर्ववेद* 9.51.8
34. *Mahabhashya* on *Ashtadhyayi*4.1.78
35. *Kashikavritt* on *Ashtadhyayi* 4.1.19

36. द्विविधास्त्रियोब्रह्मवादिन्य: सद्यवध्वश्च।तत्रब्रह्मवागिनीनामुपनसन्-
सद्योवधूनांतुउपस्थितेविवाहेकथञ्चिदुपनयनमात्रंकृत्वाविवाह: कार्य: ।।
- *स्मृतिचन्द्रका*, पृ. 24
37. *Gobhil Grihasutra*,2.1.19
38. अन्योवेदपाठी।नतस्यस्नानम्। - *मानवगृह्यसूत्र*।,2,3
39. A.S Altekar, *Education in Ancient India*, p 38-39
40. महद्वैएतद्ब्रह्मचर्यं स्नातक: ।
41. *Milinda Panho*, I, p. 18
42. A.S Altekar, *Education in Ancient India*, p.156
43. *Bhrihadarnyaka Upanishad*, VI,2,1 and 2.
44. Bose, *Indian Teachers of Buddhist Universities*, p.61
45. A.S Altekar, *Education in Ancient India*, p.158
46. A.S Altekar, *Education in Ancient India*, p.95
47. Ibid, p.96
48. Krishana Kumara, *Prachin Bharat ka Sanskritic Itihas,* p. 418
49. Bhavbhuti,*Uttarramcharitram*, second edition.
50. *Yagyavalkya smriti* 1.30; *Matsyapuran* 53.5,6; *Vayupuran* 1.61; 62
51. Bhavbhuti,*Uttarramcharitram*. 125
52. Anang Harsha, *Tapasvatsraj,* p. 1.4
53. R.K. Mukherjee, *Ancient Indian Education,* p.108-110
54. R.C. Majumdar, *the age of imperial unity,* p.589
55. R.K Mukherjee*, Ancient Indian education – Brahminical and Buddhist*, s.l.: Motilal Banarsidass, 1960
56. Sahana Singh, *The educational heritage of Ancient India,* p. 05.
57. R.K Mukherjee*, Ancient Indian education – Brahminical and Buddhist*, s.l.: Motilal Banarsidass, 1960
58. PVL Narsimha Rao, *Kanchipuram: land of legends, saints and temples*.s.l.:Readworthy Publication, 2008.
59. R.K Mukherjee*, Ancient Indian education – Brahminical and Buddhist*, s.l.: Motilal Banarsidass, 1960.

●

Sita's Perspective in *Sitayana* : A Kaleidoscopic Analysis

Neeraj Kumar*

Abstract : *Sitayana: Epic of the Earth Born*(1989) is composed by K.R. Srinivas Iyengar. This epic exposes the world of women,whereSita advances the representation. Sita is the main protagonist of the epic. Her character is also charged with the stream of consciousness; she muses about herself, her family, society, and the earth as a whole. Thus, the narrative flow marks a significant shift in the focus of the plot. The epic records the story of *Ramkatha* through the lens of Sita herself. The readers also witness the psychological depth, the transformation of Sita, and the shift in the narrative technique as well. This particular re-visiting of Sita results in many innovations in the plot. All the main characters are represented in some new and innovative manner. These alterations in the characters impact the reflections of the meaning. This research article aims to highlight these innovations through a kaleidoscopic perspective. The textual analysis method has been employed to extract the findings.

Keywords : *Ramkatha*, *Sitayana*,Textual analysis, Sita-centric narrative, Transformation

Introduction : In the very beginning of the *Ramayana* sage Valmiki declares that :

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् ।
पौलस्त्य वधमित्येव चकार चरितव्रतः ॥

(*Valmiki Ramayana* 1.4.7)

(My trans.; Valmiki, who practised religious austerities, composed this entire epic named the *Ramayana,* which constitutes the great saga of Sita and the killing of Ravana.)

Thisepic seems to be a strugglesome journey from "*Sitayashcharitammahat*" to "*Sitayanam*". Prima facie, the plot appears to be a translation of the Ramayana, but Iyengar has altered it. He has cut off some incidents and added some extra ones. Sita is at the centre of the plot, and the whole women'sworld is picturised around it. Women characters become the torch-bearers; therefore, wherever they appear, all the socio-culturalscenarios become visible. From a Campbellian perspective, most kinds of mythology have a hero's journey. In Joseph Campbell's book, *The Hero with a Thousand Faces*, he states:

A hero ventures forth from the world of common day into a region of

* Assistant Professor– Department of English, HNB Garhwal (Central) University, Uttarakhand, India

supernatural wonder: fabulous forces are there encountered and a decisive victory is won: the hero comes back from this mysterious adventure with the power to bestow boons on his fellow men (23).

But in this particular epic, the heroine's journey has become dominant. The whole text seems to be a progression of Sita's character. It reflects a dynamic shift from a male-centric to a female-centric recension of *Ramkatha*.In an India Today feature titled "On Your Bookshelf", Chitra Banerjee Divakaruni emphasises why Sita is a role model for all women:

Sita, as I said, is timeless, and she handles some timeless challenges very well.For instance, she shows us how to communicate with the person we love, and to persuade him to do what we think is right even after he has clearly said no That is when she gets Ram to agree that she should go with him to the jungle. The arguments she uses are quite striking, but I don't want to give everything away. Should a woman be like Sita? Sita is both gentle and strong. Even when faced with challenges such as being abducted by Ravana or being abandoned in the forest by Ram when she is pregnant, she doesn't lose hope. She struggles but doesn't give up. Nor does she become harsh or bitter. If we can learn this from her, our lives would be greatly enriched (Uniyal).

In the words of Suruchi Dubey, "Sitayana has been reinterpreted in the light of modern consciousness"(216). Dr. Charulata Verma rightly observes that "Iyengar's style has an easy flow while the analysis of themes and style is eminently lucid" (254).Rama and Sita are such mythological figures that have sunk with the thinking, behaviour, and attitude of Indians. Namita Gokhale rightly remarks that:

Mythology in India is not just an academic or a historical subject; it is a vital and living topic of contemporary relevance. The complex social, political and religious attitudes of 'modern' India cannot be understood without an understanding of our myths and their impact on the collective faith of the people.(xiv)

The new reinterpretations and retellings have descended Rama and Sita both from their divine persona. They have been interpreted as human beings as well. To quote Chitra Banerjee:

Sita may be the incarnation of the goddess Lakshmi but, having taken on a mortal body, she is human, too, with human failings. As is Ram. The Ramayan is filled with instances of their human emotions. They love, they grow angry or confused, they weep, they miss each other to the point of heartbreak, they are afraid. They even joke about things. Sometimes Sita longs for what she can't have, or what's bad for her. Sometimes, like all of us, she says things she later regrets deeply. Ram loves Sita so much that, at a crucial moment, he can't say no to her even though he should. At other moments, he cares too much about what his subjects think of him. He

becomes hostage to his desire to be the perfect king, which leads him into an action that will break his heart as well as his beloved's.(ix)

As A.K. Ramanujan reminds us, "No text is original, yet no telling is a mere retelling — and the story has been told in countless ways" (46). Iyengar's epic exemplifies this transformation, for it reshapes the *Ramkatha* into a Sita-centric narrative that is both translation and innovation. Paula Richman also states, "When Sita is given a voice of her own, the narrative inevitably shifts from divine destiny to human anguish, from the heroic to the domestic." (Richman, xvi)"

Iyengar's narrative technique in *Sitayana* evokes the modernist stream of consciousness tradition. In the introduction, he describes the work as more than a retelling—"a fresh recital … into her inner self," foregrounding Sita's inner journey and immediacy. Like Woolf's notion of consciousness as a 'luminous halo' (Woolf 161), Sita's own reflections spill outward, dazzling in their blending of memory, identity, and cosmic thought. Her introspection resonates with the visceral immediacy of Joyce's "yes I said yes I will Yes" (Joyce 933) and the disorienting sweep of time in Faulkner's "mausoleum of all hope and desire" (Faulkner 76). Through this technique, Iyengar invites readers into Sita's psyche—not merely as a mythic figure of devotion, but as a living, self-aware heroine negotiating existence and agency.It is also a great invention of Iyengar to showcase the inner selves of Rama and Sita.The total details of Ram's psychic situation are cast without much filtration.He sacrifices smaller interests for the larger ones. The conflict of Ravan'sinner self is also very crucial. Ravana is dreaming about his miscreancy and the foul actions of the past. He narrates those visions to his wife, Mandodari, about how he raped Rambhaand howhe assaulted many women, saints, and gods. Ravana himself asserts that he can't help himself. He cannot reverse things, can't withdraw himself from the dreadful war, and can't save Lanka from the fatal consequences.

Sitayana retains around one-fourth of Valmiki's narrative and invents the rest. Sita's childhood, her education, her habit of visiting women scholars, and the development of the features of women characters are significant successes of Iyengar. Visions (*drishti*) are very crucial to him. The text is full of philosophical traits; in the very beginning, Narada and Janaka are conversingover existential issues. Sita isseen visiting women scholars very frequently. The whole upcoming symphony of trouble in Sita's life is presumed by Ahalya in a scholarly conversation between Sita andher. Once anominous ruffle disturbs Sita, when she discusses it with Ahalya, she answers that womankind is to suffer. Thus,Sita was already awarethat she, along with Rama, was to endurethe sufferanceof the 'terrestrial humanrole'. In Ayodhya,Ahalya's company for Sita is replaced

by Arundhati's. Now Sita visitsArundhati, wife of*Guru* Vasistha, for her scholarly discussions and distinguishedcompanionship.

The devotion of Lakshman towards Ram is unchanged in this epic. Lakshman regards service for Rama as his sole duty. The brotherhood of Lakshman and Ramais considered exemplary by a large segmentof society.However, there must be a critical analysis of the feasibility and utility of this bond in the formation of Lakshman's character. This is an interesting work of analysis,whether there is any scope to rescue Lakshman's character from thatsole action –'devotion in Rama's feet.'Or does this devotion signifysomething greater in the larger frame?

Some significant incidents occur in flashbacksin this epic. Sometimes incidents are reported by the othercharacters.The deathof KingDasharathis reflected when the meeting of Bharat and Rama takes place. When Hanuman reaches Sita, he narrates the incidents of Rama's friendship with Sugriva, flyingtoLanka, the impediments Hanuman endured in his journey, and many more.

After Hanuman's departure, Sita ruminates, and her mental situation is picturised. Her musings add multifacetednessto her character. These thoughts and ideas show the levelof understanding Sita possesses. She has unconquerable mental Strength, incredible prudence,a high level of perseverance, andempowered self-confidence. The transformation of Sita's character from Valmiki to Iyengar witnesses the transformation in her inner certitude, wisdom, intellect, conscience, and scholarship. Understanding and brevity are added exponentially in this version of Sita's character.

The whole journey of Rama is for the welfare of society and the universe as a whole. Everyaction and movement done by him is a contribution to this large scale. He is prone to giving up every smaller interestfor the larger one.His whole life is an example of this determination. When Bharat goes to meet Rama in the forest to bring him back, Ram discards his request because it would spread "lower morals" in society. Every powerful man willgo against social norms, and nobody will be ready to comply with morality over strength :

Whether we like it or not, Bharata,
What we do today will set
the right pattern of public behaviour
for all the ages to come. (Iyengar 163)

Rama can't rule over Ayodhya just because the order-giveris no more. Dasharatha's order will be fully complied with. Rama says, "Let's sacrifice the private for the public." (Iyengar 165).It opens up the clue for the hermeneutics of several further incidents.Sita's second exile is the sacrifice of private pleasure for the public. Rama would have ignored the rumour, or Sita would have refused to go to the forest again, butneither of them did

either. They did what was good forsociety.

The musingsand introspectionof Ravanaare a new dimension for the Plot of *Ramkatha.*He acknowledges this to his wife :

Easy for you to say, 'Return Sita,
make friends with Rama' –I wish
I could indeed rewrite my history
and reverse my yesterdays. (Iyengar 407).

Hefinds himself entrapped in the nets of mischievous and immoral deeds he has done in the past. He is scared to see the fatal consequences coming for his Kingdom. For Mandodari, Ravana becomes a son, as well as a husband. Her *Vatsalya* (motherly love) is all for what Ravana has become now. She sees Ravana in an intensely pathetic and helpless situation. Therefore, the compassion of a woman's heart awakens for her spouse. The first-day fight between Rama and Ravana is humiliating for the latter. Rama cuts all his weapons and makes Ravana helpless on the battlefield. Ravana escapes death because of Rama's mercy, he doesnot attack the armless Ravana. Sulochana oversees this incident from the terrace of Lanka's palace.

The difference in the representation lies in the temperament of the women characters. Mandodari and Sulochana are different because they don't merely witness what is taking place but they are imparting their intellectually charged suggestions. The level of their senses and wisdom is reflected when theyconverse about matters. In the *Valmiki Ramayana*, it is Ravana's dominance over his wife that does not lether work, but in the *Sitayana,* it is Ravana's helplessness thatbecomespitiful for Mandodari. Warrior code becomes 'ruthless code' for Ravana, and that becomes unbreakable for him –the only impediment in asking for surrender. Otherwise,Mandodari would have been sufficient to stop that big war.

Mandodari is such a woman who has sacrificedher possessivenessover Ravana'shabit of polygamy. But her unspoken, silent protest over it can be traced between the lines of both epics, i.e. *Ramayana* and *Sitayana*. But when it comes to Rama, his possessiveness is quite outspoken, open to all, abnormal,and some scholars call it 'unjustifiable'.

The fire ordeal of Sita can be perceived as the result of his very possessiveness, which becomes quite uneasy for Sita, and soit must be for any human being of any gender. This can be another angle of looking at it, apart from Rama's fear of ignominy. The 'one-person authority' over the other personexists –andit will exist until love is there on the earth. It can be only a tool of preaching that Rama would have trust in his wife, but can it simply be accepted today if someone's wife lives in another person'scaptivityfor years and her husband keeps quiet about her? Anyway, our focus is on the character of Sitain *Sitayana*. When Ravana goes to kill

Sita after Indrajit's death, she escapes with the help of ogresses. At that time,Sita makes a comparison that is unique and unprecedented in itself. She compares Ravana's madness for her with Dashratha's one, which was for Kaikeyi's charms. According to her, the unjustifiable craving of both men for women is the major cause ofcatastrophe. Men's craving to quench their erotic thirst causes unnecessary wars and huge massacres. It signifies tragic flaws in the main characters, which makes the masses suffer unquestioningly. If Dasharatha hadrefused Kaikeyi's unlawful boons, the further mishaps couldn't have happened. But the epic regards it as part of the 'larger frame', otherwise the advancement of the plot would be impossible.

(…) for this fever, this sickness, this madness –
wasn't Dasaratha himself
a slave to Kaikeyi's charm? – this craving
is not Love, but a death-wish. (Iyengar 455)

In the *Sitayana*, Sita's ruminations serve concerns for the whole of womankind. She relates her sufferance with the sufferance of womankind as a whole. When Rama kills Ravana and gets Sita back, he behaves quite unpleasantly with Sita for being captivated in Lanka. He rebukes her and asks that Sita be free to go with anyone,including Lakshman, Sugriva, and Vibhishana. Sita has to give the fire-ordeal to prove herself chaste and pure. In this incident, Sita is worried more about womankind than herself alone. She says that the consequences of that act of fire-ordeal will make future womankind endure much. Sita's grief seemsto be a catalyst to enlighten her personality. She thinks of every woman who has to suffer due to unbalanced social beliefs which are predominant in favour of men.

Before leaving Lanka, Sita meets Mandodari. Theyexchange talks about the misery of womankind. Both the queens share similar grief –one has been overcome and another has started. Sita wished and met Tara and Ruma also. She took both women to Ayodhya, and there all the women of the royal familygot together with warm gestures. And, again, what they discuss is 'womanhood' and its 'sufferance'. They don't identify themselves as part of the mainstream society despite their equal capabilities and competencies.

Iyengar has written a separate canto titled '*Mothers and Sisters*' to showcase the tormented psyche shared by all the women. He paints the stream of thoughts in a distinguishably effective manner. Like all the poets of the "great-tradition", Iyengar has also attempted to provide possible solutions to the problems of some appalling incidents of the plot of *Ramayana*. He has magnified the dimension of Sita's character by highlighting her viewpoints on seeing the world and interpreting it. At the meeting in Kishkindha, Tara says to Sita that Rama rejected Sita when the

great moment of reunion came after the endurance of the pain of that long wait. The question is not so big, but the answer Iyengar conveys through Sita isvery meaningful:

Rama is almost apologetic,
He rejected me because
He had faith –I would
Emblazon my Truth before
That vast assembly. (Iyengar 525)

This answer of Sita opens new doors inthe hermeneutics of the text. It is not impossible that Rama had adopted this way to tarnish the possibly possible opinion of society about the character of 'a woman of character' – Sita. Rama must have thought that he should end that chapter of stigma before it starts. No doubt, Rama had trust in his wife. The love, compassion, and dedication to each other in this couple are exemplary throughout the ages. There is no point in humiliating his wife for whom Rama had fought that massive battle. Here, as well as in *Valmiki Ramayana,* the paratextuality can be used as a key to open the hermeneutics of 'rejection of Sita' –a rejection of a wife by the husband who endured the unbearable pains and suffering of war and injuries just for her rescue –and for a long-awaited reunion. *Sitayana* has come up with the most convincing explication for the intricate discourse of Sita's rejection. This text cogently communicates the meaning inside the text itself –Rama had profound trust in Sita, and that's whyhe resolved to emblazon Sita's truth before the vast assembly. He aimed at closing every door of public ignominy that Sita's image was prone to.

The public disagreed on Sita's sharing the throne.Hence, a king dethroned a queen, and Iyengar adds that Rama's inner certitude suggested that Sita would be safer in Valmiki's Ashrama than in hostile Ayodhya. It can be comprehended that Rama was no longer able to bear Sita's mental agony. A new kind of mental harassment was to begin in Ayodhya for Sita. That's why Rama sent his wife to Valmiki's Ashrama, where there was fresh air to breathe in. No political and social abhorrence could mix with the ambience of Ashrama, where Sita had to beget her child, far from the madding crowd of the palace.

There is another worth mentioning incidentthat occurs in the *Sitayana*. People keep on visiting Sita in Valmiki's Ashrama. One evening, Trijata came to see Sita after she had visions about Sita's living in the Ashrama. This visit can also be suggestive of the 'sisterhood and solidarity', but it seems more than that. Hanuman also rushes in to see his motherly figure, who is spending the crucial period of her life in solidarity. One aspect of Hanuman's character is seen unchanged: that is, once a *Sevak*(attendant), always a *Sevak*.He doesn't differentiate his motherly

persona from his single service that isat Rama's feet. He is devoted to Rama but goes to visit and speculate how is Sita's condition in the Ashrama.

Tara was also going through recurring visions and nightmares. So, the affinity of the other women with Sita is symbolic of the affinity of the women with womankind and its sufferance. All are helpless, but they are concerned about one another.

Bhargava was Vasumati's husband. He was defeated and captivated by the demon named Lavana. Satrughna, the youngest among the four sons of Dasharatha, came to the forest and killed him. Thus, Bhargava was rescued by Satrughna. Later on, Bhargava himself took charge of the welfare of the twins, Lava and Kusha –this incident suggests some intricate connections between both the incidents –Bhargava's rescue by Satrughna and his taking care of the twins. Bhargava narrates the story of Valmiki's talk with Narada and Brahma –how Valmikicursed Nishad due to anger aroused by the pathetic killing of one of the love-making couple of *Kraunch* birds. Bhargavamakes Sita aware that Valmikiis busy meditating and writing *Ramayana* –the story of Rama.

The enigmatic issues regarding the evil nature of the forest-dwellers are addressed explicitly in this epic. Valmiki's Ashrama is surrounded by such dwellers whose basic instinct is to disturb and destroy. As the king of the state, Rama owes responsibility to punish the wrongdoers. He frequently gets them punished; sometimes, he gives them the death sentence. Sita doesn't agree with this reaction of the king to the demons living in his forest territory. In her view, the devils should be 'wholly transformed' instead of being punished. She considers this act of transformation as one of the duties of the king. The children of the forest-dwellers should be given a proper educationfrom childhood, and they must be taught the values of humanity. Sita thinks that they tookthe wrong path due to ignorance – the ignorance of the righteous way of living life.

This idea of 'transforming the nature'of wrongdoers of the forest is also discussedin a Hindi novel titled *Trin Dhari Ot.* This novel is written byAnamika, a professor of English. This novel also narrates the *Ramkatha* through Sita's perspective. According to her, the improvement in the tendencies comes from the proper education and training (Anamika 77).

In those days of solidarity, Shrutakirti arrives to see Sita one day. The sister knew Sita's situation better than anybody else could have known. Iyengar gives a subtle voice to Sita's ruminating heart;she states, "–why didn't he come away himself with her?" (Iyengar 631).

The question is short but full ofmeaning. Why did Rama leave Sita to go to the forest alone, whereas Sita didn't leave Rama to go alone when he was given exile –she insisted, argued, requested, or whatever worked –she went with him. Then Rama is a man of words; he repays his helpmates with

intensity –why did he forget the help his wife had given him? It was Rama's responsibility to accompany the woman who accompanied him in his catastrophe. The same idea is composed in an Awadhi folk song where women around the Ashrama are amazed to see such a divinely beautiful woman in the forest, and they frankly ask Sita:

Uu ban gailan ta tu ban gailu
Tu ban aailuuukaahenaailan
Rajas dharamnibhayobhale
Patnivratdharmuunaahinibhailan.

(My trans.; You went to the forest with him when he was exiled, so why didn't he come with you when the same happened to you? He might have observed his kingly duties, but not the duties of a husband to his wife.)

Hence, the idea of *Patnivrata*has come in a regional imaginary space where women could construct this idea, whichmeans the equally owed responsibilities and duties of a husband to his wife; it emerges as a counter idea of *Pativrata*. Later on, Sarama, Anala, and many more characters visit Sita. The act of paying a visit to Sita enables the scholars to think in multiple ways. Those visits convey numerous meanings that can be deciphered after appropriate comprehension of the text and the incidents. Volga, in her novel, interprets the separation of Rama and Sita in a different way. She focuses on Sita's shift from relational identities to a self-centric life. In her words, "When Rama abandoned me, he abandoned more than his wife; he abandoned the truth of life itself." (Volga 42)"

In the epic, Rama himself tells Valmiki about his assurance of being the father of the twins, Lava and Kusha. But Rama demands one more fire-ordeal to show Sita's untampered chastity, though it was for the public's belief, but Sita couldn't bear it. She entered the eternal embrace of her Earth mother. Rama bestows the kingdom on his sons,and he leaves for the forest.

Conclusion :

K.R. Srinivasa Iyengar's *Sitayana: Epic of the Earth Born* emerges as a profound re-visioning of the *Ramkatha*, wherein the narrative centre shifts decisively from Rama to Sita. By foregrounding Sita's consciousness, Iyengar reconstructs the epic tradition into a woman-centric discourse that amplifies the psychological, philosophical, and socio-cultural dimensions of her character. *Sitayana* allows Sita's subjectivity to unfold with intellectual vigour, emotional depth, and existential awareness. Through Sita's ruminations, the epic expands into a kaleidoscopic narrative that engages not only with her personal struggles but also with the collective sufferance and resilience of womankind. The innovative alterations made by Iyengar have par excellence in reflecting Sita as a

multifaceted personality. All the significant aspects of the prism have been discovered here. In this recension, Sita is not merely the wife of a notable hero –Rama, but she is herself a strong female human being. The poet has enabled her to build her own identity through her strength. Her vibrant image has received a realistic portrayal in the narrative. The linear exposure to her character in ancient classics has come to an end in this text as it widens the lens in such a way that one can visualise the untouched gaps in the earlier epics. The writer has magnified the subtle elements in those gaps and has addressed them with appropriate reinforcement.

Works Cited :

- Anamika. *Trin Dhari Ot.* Vani Prakashan, 2023.
- Campbell, Joseph. *The Hero with a Thousand Faces.* Pantheon Books, 1949.
- Divakaruni, Chitra Banerjee. *The Forest of Enchantments*. HarperCollins, 2019.
- Dubey, Suruchi. "A POETIC GLANCE OF K.R. SRINIVAS IYENGAR." *RSIRJLE*. Vol.2. no.2, May 2014, pp. 208-220.
- https://www.academia.edu/128533668/A_Poetic_Glance_of_K_R_SRINIVASA_Iyengar
- Faulkner, William. *The Sound and the Fury*. Vintage International, 1990.
- Iyengar, K. R. Srinivasa. *Sitayana: Epic of the Earth Born*. Samata Books, 1989.
- Joyce, James. *Ulysses*. Vintage International, 1990.
- Lal, Malashri & Namita Gokhale. (eds). *In Search of Sita: Revisiting Mythology*. Penguin Random House India, 2009.
- Ramanujan, A.K. *Three Hundred RâmâyaGas: Five Examples and Three Thoughts on Translation*. Oxford University Press, 1991.
- Richman, Paula, editor. *Many Ramayanas: The Diversity of a Narrative Tradition in South Asia*. University of California Press, 1991.
  —, editor. *Questioning Ramayanas: A South Asian Tradition*. University of California Press, 2000.
- Uniyal, Parmita. "On Your Bookshelf: 'The Power of Love Is Very Strong, Says Chitra Banerjee Divakaruni." India Today, 28 Dec. 2018, economictimes.indiatimes.com/magazines/panache/on-your-bookshelf-the-power-of-love-is-very-strong-says-chitra-banerjee-divakaruni-1417700-2018-12-28. Accessed 4 Sep. 2025.
- Valmiki. *Valmiki Ramayana*. Gita Press, 2022.
- Verma, Dr. Charulata. "K.R.S. IYENGAR: A DOYEN OF INDIAN ENGLISH WRITING." *International Journal of Education, Modern Management, Applied Science & Social Science* vol.3, no.2, 2021, pp.250- 258. https://www.inspirajournals.com/uploads/Issues/1165190773.pdf
- Volga. *The Liberation of Sita*. Harper Perennial, 2016.
- Woolf, Virginia. *Mrs. Dalloway*. Penguin Classics, 2000.

●

Study of Setsuwa literature with Special Reference to Buddhism

Dr. Chandani Kumari*

Abstract : In Japanese history, Setsuwa literature has played a crucial role in shaping religious beliefs, moral values, and cultural norms. Setsuwa can be translated as 'anecdotal tales' or 'exemplary stories', and these narratives have been instrumental in disseminating Buddhist teachings, folk beliefs, and ethical lessons among the Japanese populace. These tales were narrated to common mass when the Japanese society was going through internal chaos. There have been some prominent reasons why Setsuwa literature is important in Japanese history and religious movement particularly regarding acceptance and popularisation of Buddhism among the common mass. Nihon Ryouiki is the foremost collection of Setsuwa and after that, Konjaku Monogatari is one of the major collection of such anecdotes from India, China and Japan. This paper study the role of Setsuwa literature in the popularisation of Buddhism.

Introduction :

Setsuwa (日本霊異記), literary translated as narrative, is a genre of oral literature which was first penned down and compiled in early 9th century in Japan. It is the first major collection of anecdotes and thus has a huge impact on Japanese literature. Since, the Setsuwa stories were often used for storytelling, there are many variations as these were continuously retold and rewritten. As a result, one story has many versions in different dialects with local cultural influence. In this way, story got evolved with time as it was serving different purpose to different audience. Primarily, Setsuwa stories have been divided into two categories of Buddhist and Secular. Stories propagating Buddhist Sutra, karmic retribution, cause and affect or even past life have been categorised as Buddhist stories. These stories have successfully portrayed Buddhist symbols such as Buddhist temple, Buddhist priest, past life of Buddha etc. On the another hand, stories teaching ethics and morality without any mention of new religion and belief have been categorised as secular stories. There have been many compilations of Setsuwa stories one after another as ordered by then emperor.

Now I would like to discuss the major collection of Setsuwa which are prime and crucial in the history of Japanese literature as it is first collection of Buddhist tales. The religion which was overriding Japan's social, political and cultural psych in less than a century and never left it. First and

* Assistant Professor– Department of Foreign Languages, Faculty of Arts, BHU

foremost of all the collections of Setsuwa is Nihon Ryoiki.

Nihon Ryoiki : Nihon Ryoiki (åe,g—pu‘Š), is abbreviated form of Nihon Kokugenpo Zenaku Ryoiki' which translates to 'Records of Supernatural and Strange Tales of the Compensation of Good and Evil in the Country of Japan', is the first known collection of Setsuwa(Buddhist narratives). It has three volumes and a preface compiled during Konin era in between 810-824 by monk Kyokai, who was a monk at Yakushi ji temple. The work consists of a collection of anecdotal stories, legends, and moral tales that illustrate Buddhist principles and teachings. Since, it is the first collection of Buddhist literature and thus regarded as a precedent. It records the spread of Buddhist ideas and philosophy in Japan and how the Japanese society adopted and responded to the new school of thought. Buddhism was officially introduced to Japan through the embassies of King of Korea,State of Paekche to its dissemination in common Japanese mass. Nihon Ryoiki provides a window to look into the ways Japanese Buddhist thoughts and practice started to make sense in Japanese society incorporating religious observance and material from Korea and China.

Following is a percept from one of the narratives collected in Nihon Ryoiki.

仏法を学んで人々を教化し、死ぬ時に不思議なしるしを表した話

亡くなった道昭法師は姓は船氏で、河内の国の人である。天皇の命を奉じて、仏法を求めて唐に渡り、玄奘三蔵にあって、弟子になった。三蔵は他の弟子に「この人は東国に帰って、多くの人を教化しようとしている。お前たちは軽んずることなく入用な物を与えるように」

My Translation :

Story of converting people after learning buddhism and depicting strange sign while dying

The surname of Late Dosho monk was Funauji, living in Kawachi. After receiving the order from Emperor, he went to China and met Genjo Sanzo and became his disciple.

Sanzo to other disciples, "This person is returning to Eastern Country (Japan) and trying to convert other . You all please don't look down upon him and help him with necessary things.

This part of the story clearly demonstrate the interest of the state (Japan) in the popularisation of Buddhism. An apprentice monk has been sent by the Japanese Emperor to Tang dynasty, China to learn about Buddhism. In China, he has been guided by Buddhist priest who knows his future plan.

There are many other tales which portrays miraculous power of Buddhist Sutras. People comes to temples to get rid of their pain and sorrows and they get healed. The common mass have been portrayed getting relief by chanting 'Namu Amida Butsu' (Namah Amitabh Buddha).

The Sutras have their meaning intact but the pronunciation of Sanskrit was difficult for Japanese so they customised it to the nearest sound possible. It showed them a spiritual path which lead them to healing. These tales were narrated by temple monks to their audience. This is how these tales became popular among the common mass and popularised buddhism in Japan. The other major collection of Setsuwa is Konjaku Monogatari.

Konjaku Monogatari : Konjaku Monogatari (今昔物語) literary translated as the 'Tales of time now past', is a collection of Buddhist and secular stories compiled during the late Heian period (794–1185) in Japan.It has been compiled in Thirty One volume, however only Twenty Eight volumes are still in existence. It is world's largest and diverse collection of folktales consists of over 1,000 tales that blend Chinese, Korean, Indian, and indigenous Japanese folklore and moral teachings. The collection of Thirty one Volume is called Konjaku Monogatari Shu, where Shu (集) means the collection. Though it is a matter of case by case study, however one can find that the stories of secular nature have more literary value than the stories of Buddhist nature which seems to have very less literary value. The Japanese particularly - the aristocratic classes were turning increasingly to Buddhism to solve their problems and Buddhism of the day thus grew more popular in the nature, less oriented to *jiriki* (self power) and more oriented to *tariki* (the power of others, specifically to Amida Buddha).(Kelsey, 1975, P 121-150) Each tale starts with the motif of 'at a time now past' (今は昔) and ends with 'thus it has been handed down'. The doctrine message in these tales were generally simple and were made in such a way that was easy to understood by ordinary mass. One major concern was the karmic rewards which was to be earned by making charity specially to Buddha and Monastic community.There is one instance in which Buddha enters in a village of Brahman to beg for food, a non believer confronts him saying that he is deceiving the ordinary gullible people regarding charity to which Buddha replied that your action in this world are the seeds, your rewards would be like a tree in afterlives.

Tales collected in Konjaku Monogatari has been further divided into three categories i.e. Japanese Section (Honcho), Chinese Section (Shintan) and Indian Section (Tenjiku). The first Ten Volumes have the stories from India and China mostly based on Buddhism.

Tenjiku (天竺) : Tenjiku is a term traditionally used in East Asian contexts to denote India, often serving as a poetic or archaic reference to the Indian subcontinent. The term originates from the name of the Sindhu (Indus) River, evolving first into Shindoku and subsequently into Tenjiku. In literary works, Tenjiku is frequently associated with themes of exoticism, spirituality, and the mysteries of far-off lands. The term

'Tenjiku' first appeared in *book of Han* in China. The first five volumes of KMS comprises Tenjiku. The other source is Nihonshoki compiled in 720, which found mention of Tenjiku. Bodhisena is credited with being the first person to travel from India to Japan in 736. Bodhisena's main source is Minami Tenjiku Baramon Sojohi (南天竺婆羅門僧正碑), which was written in 770. It's probable that the title was added later because Tenjiku is mentioned in the title but not in the main body of the text. Numerous texts, mostly Buddhist ones, mention Tenjiku after the arrival of Bodhisena. One such text is Naisho Buppo Soujyoketsu Myakufu (内証仏法相承血脊譜), written in 820 by Saicho (最澄), the founder of the Tendai sect.

The Japanese perception of India was largely shaped by its association with the origins of Buddhism. The Konjaku Mongatari She contains narratives that date back to the early days of Buddhism, including the story of Gautama's birth, his transformation into a Bhikshu, and his attainment of enlightenment. It recounts his visit to Banaras, where he delivers sermons to five individuals, liberating them from their defilement. These individuals were Kaundinya, Mahakashyap, Asvajit, Bhadrika, and Mahanaman. If one were to inquire why these particular five were chosen, the response lies in the ancient era when Kashyapa was Buddha, during which there existed nine fellow scholars. Among them, four were astute and achieved enlightenment from the outset, while the remaining five were less intellectually gifted. (Marian Uri, 1979)

The narratives compiled in this section underscore the significance of India within Japanese Buddhism, despite the fact that Japanese monks and aristocrats did not travel to India to learn about buddhism till that period. However, they had the opportunity to encounter Indian monks in China, as the Japanese monks, scholars and aristocrats frequently visited China.

Main features of tales compiled in Tenjiku :

1. Quest for spiritual knowledge: In Japanese folklore, Tenjiku is often portrayed as a distant and mystical land that serves as the setting for various legends and tales. Many folktales depict protagonists embarking on adventurous journeys to Tenjiku in search of spiritual knowledge, divine teachings, or magical artifacts that can bring about enlightenment or change their fate.

2. Magical Objects and Talismans:Legends of Tenjiku frequently include references to mystical objects like sacred scrolls, enchanted mirrors, transformative or powerful talismans that bestow special powers or grant wishes to those who possess them.

3. Trials and Tests of Character:The journey to Tenjiku is sometimes depicted as a series of trials or tests that challenge the protagonist's courage, faith, wisdom, or integrity. Overcoming these obstacles is

essential for achieving personal growth or unlocking hidden potentials. It often features encounters with mythical creatures such as dragon gods, celestial beings, talking animals, or guardian spirits who test the moral character of the travellers and impart valuable lessons.

4. Themes of Transformation and Rebirth:Visiting Tenjiku is often portrayed as a transformative experience where individuals undergo inner growth, spiritual awakening, or rebirth to emerge with newfound wisdom, enlightenment, or a deeper understanding of themselves and the world around them.

5. Cultural Exchange and Learning:Through encounters in Tenjiku, characters in folktales learn about different cultures, beliefs, customs, and ways of life beyond their own realm. This cultural exchange fosters mutual understanding and respect between diverse societies. The portrayal of Tenjiku in Japanese folklore reflects a blend of imagination, spirituality, adventure, and moral lessons that continue to captivate audiences with its timeless themes of exploration and self-discovery through mythical realms. Tenjiku is nothing but India in the context of Konjaku Monogatari.

Shintan (神譚) : The term Shintan has originated from word *cheensthan,* ancient sanskrit word for China. The pictorial characters used in shintan can be translated as 'divine tales' or stories related to gods or spirits.In Japanese literature, shintan often encompasses myths, legends, and folktales centred around supernatural beings. Konjkau Monogatari volume Six to Nine contains stories under Shintan, and all of it has undertone of Buddhism.

The term Shintan encapsulates stories that revolve around gods, spirits, mystical creatures, and supernatural phenomena within Japanese folklore and mythology. In this section, stories from China has been collected.These tales often explore themes of spirituality, the divine world, moral lessons, and the interaction between humans and otherworldly beings.In Japanese folklore and literature, Shintan plays a significant role in conveying cultural beliefs, traditional values, and a sense of wonder about the spiritual realm. These tales have been passed down through generations orally and through written texts, enriching Japan's narrative tradition with captivating stories that continue to resonate with audiences today.

Since earlier Japanese intellectuals and aristocrats used to visit China and imports goods and luxuries to Japan along with philosophy and scholarship. This tradition continued for a long period. The embassies which visited China from Japan were called Kentoushi and Kenzuishi. This was stopped after almost two hundred years of continuation in 867 when Sugawara no Michizane, then minister of right advised the emperor to do

so. However, Sugawara no Michizane who was a great scholar of Chinese History and Chinese Polity becomes the victim of foul play and ends up getting posted as a Governor in Shikoku and died there. In this way, Chinese influence became weaker and native culture flourished.

Honcho (本朝) : Honcho is a term that can refer to 'our country or 'this country' in Japanese.In a literary context, it may be used to refer to works that focus on Japanese subjects or themes. The stories collected in this section were set in Japan. KMS volume Eleven to Thirty 32 comprises the stories of Honcho. These tales often reflects the religious and cultural values of Japan.

Major influence of Setsuwa in Japanese Society :

1. Transmission of Buddhist Teachings : Setsuwa stories often contained moral lessons derived from Buddhist principles. These stories were used to popularise Buddhist doctrines among the common people in an accessible and engaging manner.By incorporating supernatural elements, miracles attributed to Buddha or Bodhisattvas, and parables illustrating ethical conduct, Setsuwa literature served as a vehicle for spreading Buddhism and its ethical teachings.Through engaging narratives featuring human virtues, karma (cause-and-effect), compassion, filial piety, etc., Setsuwa literature helped instilthese values within the society.

2. Cultural Preservation : Setsuwa literature served as a medium for preserving cultural heritage and traditional beliefs in Japan.Folklore, myths, legends, and anecdotes passed down through generations were compiled into written form as Setsuwa tales, ensuring their preservation for future generations. It depicted the importance of Japanese culture and efforts of Japanese to preserve it.

4. Influence on Literature and Arts : The themes found in Setsuwa tales had a significant impact on various forms of Japanese art such as painting, poetry (waka), Noh theater, etc. Buddha's life and Karma's effect became important theme for flourishing art forms. Even at present, Japanese makes animated movies on the life of great buddhist monk such as Shinran.

Conclusion :

When Buddhism was introduced in 6^{th} century, Japan was going through upheaval. There were continuous conspiracies against the emperor as various influential family wanted to rule Japan with the help of marriage diplomacy. So, at that point of time Buddhism became the only place for seeking solace for the common mass as it was promising freedom from the suffering. Buddhist philosophy introduced concepts such as impermanence (anicca), suffering (dukkha), non-self (anatta), karma (moral causation), and rebirth that have profound implications on ethics and personal conduct.

Further, it was promoted by Emperors to distract the common man from ignorant ruler. There were several art forms and cultural activities which developed to demonstrate the teaching of the Buddha, such as Flower arrangement (Ikebana), Tea Ceremony (Chadō). These art forms were symbolically representing the teachings of Buddha. Temple monks were practicing it to give visual representation of Sutras. This was helpful in making one understand the teachings of Buddha by making them participate and using visuals.

Setsuwa demonstrates various rituals and beliefs related to Buddhism, which helped common mass who were seeking refuse from the chaos in the country. Somewhere it seems to be amalgamated with native Japanese thought of Shinto as Buddhism neither opposed the native belief nor showed any interest in conversion of the common mass. Thus, we see that Shinto Shrines and Buddhist Temples are standing together for ages. We can come to the conclusion that Setsuwa lend a hand to natives belief to save its citizen from major disappointments and left.

References :

- Dohashi, KI Dohashi, Satoki. Kai mukashibanashi-shu (Folktales from Kai Province). Tokyo, Kyodokenkyu-sha, 1930.
- Hiroshima Shihangakko: Mukashibanashi no Kenkyu , Hiroshima, 1939.
- Izumoji, Osamu, *Nihon Ryoiki,* Iwanami Shoten, Tokyo, 2022
- Jongho Park, *Konjaku Monogatari Shu Volume I-VI*, Kindle Edition, 2024
- Kawakami, Chisato, *The Konjaku Monogatari Shu, (The Genesis, Structure and Historical Context)*, Kachosha, Tokyo, 2021
- Khanna, Anita, *Ancient Japanese Literature*, B. R. Publication, Delhi, 2002
- LaFleur, William R, *The Karma of Words*, University of California Press, California, 1983
- Nigam, Shobha, *Bhartiya Darshan*, Motilal Banarasidass, Delhi, 2019
- Thero, D. Rewat, *Tripitak-Digdarshika*, Mahabodhi Society of India, Varanasi, 1994
- Warder, A. K., *Indian Buddhism*, Motilal Bnarasidass, Delhi, 2015

●

Philosophy of Akho Bhagat as Emanated from his Chhappa

Dr. Dharitri R Gohel[*], Dr. Girish N Limbad[**]

Abstract : Akho, one of the most celebrated poets of Gujarati literature, is widely revered as a 'philosopher poet' who sang in praise of Nirguna Bhakti. His works pave the way for all seekers who crave to know the ultimate Truth and the purpose of human life. Akho's sharp philosophical insights revolve around *Satya Darshan* (realization of truth), *Sadbhav* (positive feeling towards others), and *Sadvichar* (virtuous ideas). At the core of his thought lies Advaita, the philosophy of oneness, which he conveys with remarkable clarity. What makes Akho unique is his ability to explain profound and complex ideas through simple, everyday examples, turning abstract philosophy into practical wisdom.This article takes selected *Chhappas* (poetic couplets) of Akho as the foundation to understand his philosophy, for these verses hold profound thoughts compressed like an ocean in a drop. Akho's mastery lies in drawing lessons from daily life, presenting them with depth, beauty, and intensity. Akho's philosophy provides an insight to make life better in today's world though only the truly courageous dare to walk on the path Akho envisioned.

Key words : Akho, *Chhappa,Brahma, Bhakti*,superficiality, Ego

Akho Bhagat (1615–1674), also known as Akshaydas Rahidas Soni, is one of the foremost philosopher-poets of Gujarati literature. Born in Jetalpur near Ahmedabad and worked as a goldsmith. Later, he left his profession and started compiling his understanding of life. he transformed ordinary experiences into profound spiritual reflections. Deeply rooted in the Bhakti movement, Akho adopted the *chhappā*—a six-line poetic form that he inherited and refined from earlier poets like Māndan—as his chief medium to express the philosophy of Advaita. With sharp wit and simple imagery, his verses question ritualism, challenge ego, and guide seekers toward realization of Truth. His literary contributions include Chhappās, Akhegītā, Pañcīkarana, Guru-śicya-samevāda, Anubhav-Bindu, Kaivalya-gītā, and several other works. Through these, Akho elevated philosophical poetry to its zenith, establishing himself as a timeless voice of spiritual wisdom in Gujarati literature.Akho composed 746 *Chhappas*, and this research article analyses a selection of them to arrive at a holistic understanding of Jiv (the individual soul) and Brahma (the universal reality). His timeless

* Assistant Professor– English, L D College of Engineering, Ahmedabad, Gujarat
** Assistant Professor– English, Government Engineering College, Modasa, Gujarat

verses invite us to relive the wisdom of his era, providing insights that awaken spiritual yearning. By internalizing the ideas behind his *Chhappas*, one can overcome superficiality in thought and behavior and gradually dissolve the ego that dominates most human actions.

The predecessors of Akho had already paved the way for Bhakti in Gujarat. The medieval Bhakti movement was a vibrant spiritual uprising that transcended caste, gender, and ritualistic barriers, enabling individuals to seek a personal connection with the Divine through devotion, love, and song. Saints such as Narsinh Mehta and Mirabai sang in the Saguna tradition, portraying God with form—Krishna being central. In contrast, Akho Bhagat followed the Nirguna path, emphasizing the formless, attributeless Brahman. Unlike Meera's emotional surrender or Narsinh's ethical devotion, Akho's contribution was intellectual, introspective, and rooted in direct experience.He belonged to a time marked by rigid social customs, caste hierarchies, and rising orthodoxy. He chose to reflect inwardly. His chhappās serve as mirrors to society—exposing hypocrisy, superficial religiosity, and pretentious behavior—while urging inner transformation. Akho's philosophy appears strikingly modern, as it values self-awareness over external show, experience over dogma, and truth over blind faith. In an age of social distractions and spiritual confusion, his words remain relevant, resonating as practical wisdom that leads seekers to simplicity, clarity, and the realization that the Divine is not elsewhere but within.

To understand Akho, two aspects are essential: the desire for salvation (Mokca) and the worship of Advaita. He beautifully explains the interplay between the tangible world, Īśvar, and Brahman in the following lines :

જેમકાચનુંમંદિરરચ્યું, નીલપીત શુભશ્યામનું,
તે ઉપર તપ્યો સૂરજ યારે, ત્યારે વિચિત્ર રૂપ થયુંધામનું.
કૈવલ્ય સૂરજ તપે સદા, માયા તે મંદિરકાચ,
ઈશ્વર નામ તે તેહનું; પણજીવથઈમાન્યુસાચ.

(*Sahityakar Akho* 61)

(Just as a glass temple was created, with hues of blue, yellow, auspicious, and dark,when the sun shone upon it, a wondrous form emerged within that abode.

The Sun (Kaivalya) always shines above, while Maya is the glass temple.The name "Ishwar" belongs to it; but the soul(Jiv) believed it to be the truth.)Translation mine

Through the metaphor of a glass temple, Akho explains the concepts of liberation (Kaivalya), illusion (Maya), God (Ishwar), and the

soul (Jiva). Just as the vibrant colors inside a glass temple appear when sunlight passes through, the soul perceives the colorful manifestation of God within the temple of Maya. However, the colorless Sun that shines above, unaffected by the temple or its colors, represents Kaivalya Brahma—the ultimate, formless reality.This metaphor accurately explains the Truth. Akho is known as philosopher poet. Because, the bottom line of his philosophy is 'Truth is one'. He has given the metaphor of mirror image, according to Akho, if a mirror is kept in front of Brahma, entire universe can be seen. So, everything is manifestation of Brahma. There is no 'ism' s here but simple understanding of the Supreme. No complications. No jargons. No big talk. God prevails in every atom in various forms. That is why he emphasizes to look into self and find the easiest path for knowing Kaivalya. He says,

અજ્ઞાનેસૌઆથડેઅનેદેવદેવીધ્યાય;
જોપ્રભુદેખેપંડમાંતોશીદબહારેજાય?''

(અખાની વાણી, પદ નં. 10, પૃ. 140) gujarativishwakosh.org

(Dut to ignorance, all worship god and goddesses, if he can see God within,then why did he go out?) Translation Mine

This couplet reflects the profound idea that true divinity resides within oneself, and there is no need to seek it in external rituals or places. It emphasizes introspection and self-realization as the path to understanding the divine.Akho says that due to the restlessness of the mind, a person cannot delve into their true self and instead adopts various strategies in pursuit of hollow and superficial happiness. Some take up asceticism and adopt different appearances, others chase gurus out of allure. Someundertake pilgrimagesor seek guidance from astrologers, while some immerse themselves in scriptures to become scholars, losing themselves in intellectual pursuits. However, these outward activities scatter a person's awareness, leaving no space to realize their true self. Akho says everything lies within us, realization of it will help in leading peaceful life. The central thought of all works of Akha lead to understanding of *Advait.* For example, *Anubhavbindu* is of 11 pages only. In these pages one can find deepest of the philosophy. Akho starts the work with following lines,

નિર્ગુણમાંગુણઅણછતાઆરોપીઅખેઓચર્યું,
'સત્યસત્યપરમાતમા, હુંનહિ' એવીસ્તુતિકરું

(*Anubhavbindu*1)

("In the Nirgun, Gun is hidden, Akha reproved, 'I praise the truth-untruth as the Supreme Being, not myself.') Translation mine

This reflects Akho's philosophy of surrendering the self and focusing on the truth and the formless divine. *Anubhavbindu* signifies profound meaning expressed concisely. The thoughts that have reached their central essence and ultimate realization. This line reflects the essence of non-dualistic (Advaita) philosophy. Here, Akho emphasizes transcending the ego (I) and recognizing the ultimate reality (Paramatma). The realization comes when one lets go of the illusion of duality (truth versus untruth) and egoistic identity. The self (I) is neither truth nor untruth but dissolves into the supreme consciousness, which is beyond such dualities. *Anubhavbindu* captures Akho's personal spiritual experiences and insightsemphasizing experiential knowledge.

In the medieval age, the purpose of human life was *Brahmaprapt*i (achievingBrahma) so the literature generated during that time was Bhakti literature and the poets of that time are known as saints like Narsih Mehta, Mirabai and Akho bhagat. Narsih Mehta is known for his *Prabhatiya* and his journey witnesses*Navdha bhakti* to *Prem lakshnabhakti* to *Gyanmarg*, while Mirabai is known for her *Premlakshnabhakti*. But Akho is unique with his style of writingand understanding of Braham. He believes in Nirguna Bhakti and that is why he shares his experience through his writing. He pointed out wrong practices prevailing in the society by writing *Chhappa*. These *chhappas* are still having their unique place in the heart of Gujarati people. Now let us go through some *Chhappas* of Akho :

Akho says that one will not get knowledge of Supreme (Brahmgyan) if he will observe superficial religious practices.

તિલકકરતાંત્રેપનથયાં, નેજપમાળાનાંનાકાંગયાં,
તીરથફરીફરીથાકયાચરણ, તોયનપહોંચ્યોહરિનેશરણ.
કથાસુણીસુણીકૂટ્યાકાન, તોયઅખાનઆવ્યુંબ્રહ્મજ્ઞાન.

(*Chappa of Akha* 135)

(Despite countless religious rituals, wearing out prayer beads, and undertaking numerous pilgrimages, the true path to God remained elusive. Even after hearing endless sermons, Akha observes, the ultimate wisdom of the divine still eludes the seeker.) Translation mine

Akho describes a person as a fool if he follows external practices without true inner devotion or realization in following words,

એક મૂરખ નેએવીટેવ, પથ્થરએટલાપૂજેદેવ,
પાણીદેખીકરેસ્નાન, તુલસીદેખીતોડેપાન.
એઅખાવડુંઉત્પાત, ઘણાપરમેશ્વરએક્યાંનીવાત?

(*Chappa of Akha* 136)

A foolish person blindly worships stone idols, mistaking them for God. They bathe at the sight of water and pluck sacred Tulsi leaves without thought. Akha criticizes such superficial rituals, emphasizing that true understanding of the divine cannot arise from mere outward actions devoid of wisdom or deeper connection. Akho writes,

રંગ ચઢે તે જાણો મેલ, પોતે રહે તો સહામુ સહેલ,
આપે આત્મા સ્વયં પ્રકાશ, કર્મ ધર્મ નો કાં દે પાશ?
અખા એ સદ્ ગુરુ ની કલા : વર્ત્યા જાય તે ઉપરછલ્લા

(*Chappa of Akha 2*)

(Show or Intoxication of any kind is dirt; Remaining what you are makes everything easy.The soul is self-illuminating, why then be bound by the chains of deeds and rituals?Akho says, the wisdom of the true Guru lies in this:Living superficially only leads to shallowness.)

Translation Mine.

This verse highlights the importance of inner purity and self-awareness. It advises recognizing the impurities (attachments and desires) that cloud the soul and embracing the innate light of the self. The poet critiques blind adherence to rituals and external practices, urging a deeper understanding and authentic living guided by the teachings of a true Guru.

Akho is very clear with what is needed and what is not. He says one can achieve knowledge of Supreme if he remains simple, he believes that adopting superficial appearances is a path of delusion,once caught in it, escape becomes impossible. Further,Akho says that ego dangerously hinders the process of upliftment so discardit. Man keeps himself busy to prove others that he is the best. And whatever is done by him must be recognized by all. In these false activities he wastes his entire life and forgets real purpose of life. That is why Akho says,

હું ટાળી અછતો થઇ રહે, હરિપ્રભામાં હેઠો વહે;
પોતાપણે થી જે નર ટળે, તે અનાયાસે હરિસાગર ભળે.
અખો વાત વિચારે વિદ્યે :જહાં છે ત્યાં આકાશ ને મધ્યે .

(*Chappa of Akho 6*)

(Avoid I, remain selfless, flowing low in the stream of divine light;The one who detaches from their own self,effortlessly merges into the ocean of the Divine.Akho reflects upon this truth: where one stands, there lies the sky and the center.) Translation Mine.

The verse can be better understood with this simple understanding that a man may be regarded as the center of his own universe, for he constructs his world according to his perception of self and reality. Akho

illustrates this through the metaphor of a river: just as the river continues to flow, while joy, sorrow, and adversity merely stand as its banks, so too should human life advance amidst changing circumstances without being confined or disturbed by them. The river observes everything yet remains untouched, and likewise, the individual who accepts all experiences without resistance and aligns with the natural order transforms existence itself into an act of bhakti. In such a state, living becomes a blessing rather than a burden. For Akho, the true devotee is one who realizes the ultimate truth—recognizing that the Lord resides everywhere. Further, Akho describes *Brahmagyan* in following words,

પડે નહિ જે પૃથ્વી સૂએ, કને નહિ તે શું ખુએ ? ટાઢું -ઉહનું નોહે આકાશ, પાણીમાં નોહે માખણ-છાશ, બ્રહ્મજ્ઞાન એહવું છે અખા, જહાં નહિ સ્વામી,સેવક ને સખા.

(*Chappa of Akho 7)*

One who sleeps on the bare ground cannot fall, and one who possesses nothing has nothing to lose. Just as the sky remains unaffected by heat or cold, and as butter or buttermilk cannot be produced from mere water, so too is the nature of divine knowledge. In this state, Akho observes, all distinctions disappear—there is neither master nor servant, neither friend nor foe. Translation Mine

This verse reflects the transcendental nature of true spiritual wisdom (*Brahmagyan*). It compares divine knowledge to elements like the sky and water which remains unaffected by worldly conditions. Akho emphasizes the state of unity and non-duality, where distinctions such as master, servant, or friend dissolve, leaving only the pure essence of existence.

Besides, Akho had targeted so called gurus having superficial knowledge and false ego in his chhappas, he had also talked about importance of *antarsuj*in developing understanding of self.Akho critiques the human ego (Ahankar), which blinds individuals to the divine reality. He observes that people often boast of superficial knowledge, unaware of the darkness within. Example: “Pandits always boast of their superficial knowledge, but their inside is filled with darkness.” Akho reflects on the interplay of form, motion, cause, and effect in the universe. He believes when individuality dissolves, the universe merges into the absolute.Akho also emphasizes that Gnan (knowledge), Bhakti (devotion), and Vairagya (detachment) are interconnected, not separate paths. True realization (Atma Soojh) arises when clarity (Soojh) is cultivated through pure thoughts and virtuous living. “Insight (Soojh) is the means for the seeker, but true knowledge is the realization of the self.”Additionally,Akho views poetry as a timeless reflection of human thought and experience. Poetry, for him, is a medium to express profound truths about life and spirituality. “Many poets have composed and departed, but the ultimate reality remains unchanged.” So, he instructs people not to get stuck with Maya of words.

Thus, Akho's philosophy blends devotion with knowledge and introspection (*Atmanirikshan*).Akho advocates *Aparoksha Anubhuti*—the direct realization of ultimate truth without intellectual interference.This experience transcends words and intellectual understanding, uniting the seeker with the divine essence.Akho stresses that amidst the diversity of animate and inanimate objects, there is one essence permeating all—Brahman. The realization of this essence requires transcending ego and recognizing the interconnectedness of all creation.Akho views Maya as dynamic and progressive, not a passive force. It constantly misleads individuals. Ignorance is not merely intellectual but ingrained as a latent tendency in the soul. He warns seekers to remain vigilant, as even words, knowledge, and action can become distorted manifestations of Maya. Words, knowledge, and tradition often bind the seeker without them realizing it.Akho sharply criticizes blind rituals and customs performed in the name of religion.He questions the futility of seeking fulfillment from lifeless idols while being a living entity.Example: "Living being has created idols and then begs fulfillment of desires from the non-living."

This analysis highlights Akho Bhagat's *Chhappas* as a remarkable fusion of incisive social critique, profound philosophical reflections, and an earnest call for self-realization through clarity, knowledge, and devotion. It is true that the understanding of *Vairagya* (detachment) and *Brahmgyan* (spiritual wisdom) is rare and transformative experiences, accessible only to a few. However, even the pursuit of these ideals can lead to a meaningful and enriched life, as thoughts—being the most powerful force—shape and govern the mind. Akho's writings possess an almost alchemical beauty, serving as an elixir that dispels the darkness of ignorance and illuminates the mind with wisdom and light.

References :

1. Akho., *Anubhavbindu.* Vasans Mudranalay, 1932
2. Patel, Narendra K., translator. *Chappa of Akho*. Gujarat Sahitya Academy, 2008.
3. Mehta, R. R. Narmadashankar Devshankar. *Akho*. L. D. Bhartiya Sanskruti Vidyamandir, 2009.
4. Majumdar, Manjulal Ranchhodlal, editor. *Sahityakar Akho*. For Premanand Sahityasabha by Manilal Prabhakar Vyas, Lakshmi Electric Printing Press, 1949.
5. Soni, Raman, editor. *Gujarati Sahityano Itihas Granth -2*. Vetted by Chimanlal Trivedi, Bhagavati Offset, 2003.
6. Tripathi, Govardhanram. *The Classical Poets of Gujarat and Their Influence on Society and Morals*. Education Society Press, 1894.
7. Joshi, Umashankar. *Akho: Ek Adhyayan*. Gujarat Vernacular Society, 1941.
8. https://gujarativishwakosh.org

Revisiting the Chittagong Armoury Raid: The Revolutionary Vision of Masterda Surya Sen

Zeenat Mahzabin*

Abstract : A vast part of modern Indian history deals with the Indian freedom movement and several political leaders; however, historians have neglected several essential freedom fighters and their contributions. The story of the Chittagong Armoury Raid and its leadership under Masterda Surya Sen is a forgotten part of modern Indian history. The present research has investigated the impact of the Chittagong Armoury Raid on the regional-to-national level Indian freedom movement and further emphasised the instrumental role of Masterda Surya Sen in this extremist revolt against the British administration and police system. This investigation has revealed the lesser-known factors and contributions of several unsung extremist revolutionaries, using primary sources such as archival documents, personal letters, newspaper articles, and historical photographs. Further, this research has contributed to understanding the chronology and impact of one such mutiny against the colonial government in Bengal, in which the freedom fighters took control of the critical city of Chittagong. This article discusses the oppressive policies of colonial administration and the consequences of courtroom trials against freedom fighters.

Keywords : Chittagong Armoury Raid, Masterda Surya Sen, Indian Republic Army, Kalpana Dutt, Indian Freedom Struggle.

Introduction : The Indian Independence Movement, a pivotal moment in India's history, gained momentum after the 1920s. Diverse ideologies, ranging from liberal movements to extremist revolutionary movements, converged with the singular goal of achieving independence from British colonialism. While both contributed significantly, historical accounts often overlook the contributions of extremist revolutionaries.

Amid this rising tide of the freedom struggle, figures like Master Da Surya Sen emerged, embracing revolutionary ideologies and advocating armed resistance. Born on March 22, 1894, in Noapara, Chittagong (now Bangladesh), Surya Sen, affectionately known as "Master Da," dedicated his life to Indian independence. A school teacher by profession, earning him the moniker "Master Da," Sen's involvement with nationalism began during his college years at Berhampore College in 1916, leading him to join the Anushilan Samiti. As the founder and chief of the Indian Republic Army, he is best remembered for leading the Chittagong Armoury Raid of 1930. This research aims to explore Master Da Surya Sen's role, his

* Centre for Women Studies and Development, Banaras Hindu University

organisations, associated radical activities, and the subsequent trials, highlighting their contribution to the rise of radical ideologies against British colonialism and the oppressive policies of the British Indian police in Bengal.

Fg: 1 (a) Directorate of State Archive, Calcutta

Indian Republic Army : Following their release from detention under the Bengal Ordinance in late 1928, Surya Sen, Ananta Singh, Ganesh Ghosh, and other Chittagong revolutionary leaders returned home, prioritising the spread of radical nationalism among the populace. They believed that achieving independence required a strong foreign military support and that merely eliminating a few British officials or law enforcement personnel would not dismantle British rule. This realisation led them to pursue a joint extremist movement, establishing a radical group capable of organised armed rebellion against the British Indian government.

In 1929, Surya Sen and his associates – Ambika Chakrabarty, Nirmal Sen, Ganesh Ghosh, and Anant Singh – formed the Indian Republican Army, a secret anti-British force intended to inspire revolutionaries nationwide. Mirroring the Irish model, their objective was to develop a national Indian Republican Army, with Chittagong revolutionaries playing a crucial role. Surya Sen was appointed General of the Chittagong branch, and efforts to establish the army commenced after a May 1929 meeting. By the early 1930s, the organisation was founded on the conviction that armed insurrection was the only path to liberate the country. Influenced by past revolutionary movements, Sen aimed to build a formidable, structured military force to confront British rule directly. In a secret, five-hour-long first council meeting in 1929, Surya Sen and other members planned a bold effort to weaken British control in Chittagong. This involved capturing arms, seizing rifles, disrupting railway and communication networks by breaking telegraph lines, and targeting British officials. The ultimate goal was to establish a provisional revolutionary government to challenge and overthrow British colonial rule (Sharma, 2019).This initiative demonstrated the foresight, intelligence, and courage of Surya Sen and his

demonstrated the foresight, intelligence, and courage of Surya Sen and his associates. The revolutionary group established an agenda that forbade robbery for financial support, requiring members to contribute funds and acquire weapons through armoury raids. The planned assassinations of British officers were to be conducted in an organised manner, with strict instructions to avoid harming women, children, or other Indians. On October 15, 1929, the revolutionaries formalised their plan with a pact to collaborate on the mission, changing their slogan from "do or die" to "do and die" (Sharma, 2019).

Chittagong Armory Raid by the Indian Republican Army : The Chittagong Armoury Raid, a major revolt against British colonial rule in what is now Bangladesh, was part of a broader revolutionary effort led by Surya Sen and his associates in April 1930. The revolutionaries aimed to cripple colonial authority by targeting armouries and communication infrastructure. On April 18, 1930, the group sabotaged telephone and telegraph lines and raided two armouries, facing obstacles like insufficient ammunition. While they disrupted communications, they were unable to sustain a prolonged insurrection.The rebels strategically severed communication lines, isolating the Chittagong police barracks and preventing reinforcements. They attacked the telegraph office and destroyed railway lines, aiming to weaken the colonial defence system through armed conflict and disruption.The revolutionaries intended to attack a European social club, hoping to ignite a major confrontation and liberate Chittagong, inspiring future generations to fight for independence. They distributed pamphlets claiming Gandhi had called for civil disobedience, explaining the raid's purpose and asserting that it would free Chittagong by violating treason laws.

During the raid, Major Ferrol and two senators were killed. The revolutionaries seized control of the armoury and police barracks. After the District Magistrate escaped and requested reinforcements, government forces counterattacked. The rebels, after initially repelling the attack, retreated to the hills, setting fire to the armoury. Himangsu Sen was severely burned during this process and later died. The survivors regrouped to plan further action, while Ananta Gosh and others took Himangsu to town.

The Incidence of Jalalabad Hill : On April 22, 1930, following the Chittagong Armoury Raid, Surya Sen's Indian Republic Army clashed with the British Indian Police at Jalalabad Hills near Chittagong (now in Bangladesh). The revolutionaries, low on arms, had gathered on the hills to defend their position after the raid. Alerted to their presence, British forces surrounded the hills, resulting in a fierce battle where the outnumbered and poorly equipped rebels fought bravely but suffered heavy losses(Sharma,

2019).

Later that day, around 4:30 p.m., revolutionaries attempting to escape by train near the Jhanjhariya mosque were ambushed by the Eastern Frontier Rifles and Surma Valley Light Infantry, who had positioned machine guns on nearby peaks. The British deployment aimed to capture the revolutionaries, and the fighting continued until dusk, causing significant casualties on both sides. Initial British machine gun fire killed eleven insurgents and severely wounded four. Ambika Chakravarty, mistakenly presumed dead, escaped with two wounded comrades. Ardhendu Dastidar was captured, tortured, and died in custody. Government casualties remain uncertain. The Jalalabad ambush, which also led to the capture of Ganesh Ghosh and others, forced the revolutionaries to abandon plans for another raid a few months later.The day after the battle, the revolutionaries resolved to continue their fight for independence through guerrilla warfare, with only those willing to endure the hardships of underground life remaining.On April 22, 1930, following the Chittagong Armoury Raid, Surya Sen's Indian Republic Army faced off against the British Indian Police at Jalalabad Hills, located near Chittagong (present-day Bangladesh). The revolutionaries, facing a shortage of arms, had assembled in the hills to fortify their position after the raid. British forces, alerted to their presence, surrounded the area, leading to a fierce engagement during which the outnumbered and inadequately equipped rebels displayed remarkable bravery but incurred substantial losses(Dutt, 1975).

Later that afternoon, around 4:30 p.m., revolutionaries attempting to escape by train near the Jhanjhariya mosque were ambushed by the Eastern Frontier Rifles and the Surma Valley Light Infantry, who had positioned machine guns on adjacent peaks. The objective of the British forces was to capture the revolutionaries, and the confrontation persisted until dusk, resulting in significant casualties on both sides. Initial machine gun fire from British forces resulted in the deaths of eleven insurgents and severe injuries to four others. Ambika Chakravarty, who was mistakenly presumed dead, managed to escape with two wounded comrades. In contrast, Ardhendu Dastidar was captured, subjected to torture, and ultimately lost his life while in custody. The exact number of government casualties remains uncertain. This ambush at Jalalabad, which also led to the apprehension of Ganesh Ghosh and several others, compelled the revolutionaries to abandon their plans for a subsequent raid planned for a few months later(Dutt, 1975).

In the aftermath of the battle, the revolutionaries resolved to persist in their struggle for independence through guerrilla warfare, with only those willing to embrace the challenges of underground life choosing to remain.

Government actions against the Indian Republic Army : After the Jalalabad encounter, police started to chase the revolutionary members of the Indian Republic Army. Some of those who had not yet come under police suspicion were deliberately instructed to return home for the sake of the movement. The authorities became suspicious two days later, on April 24th, when they noticed a young boy in a derelict house in Sadarghat, a town. The young boy instantly dropped down from the second floor and sought refuge beneath a roadway culvert. Shots were exchanged until his handgun ran out of ammo, at which point troops from the other end shot him down. This young boy was Amarendra Nandy, and Masterda had dispatched him to town to make contact with Ananta da and others before fleeing to the hills during the Armoury Raid (Dutta, 1975).

After fulfilling his duty, he was on his way back when he heard about the Jalalabad event, so he took the road to the villages, but he returned to town, vowing to avenge his companions' deaths. However, on the way, he sacrificed his life in a police encounter. Ananta da was unable to connect with Masterda Surya Sen and the other members of the organisation. They evacuated the town after learning about the fight in Jalalabad. The police caught four of them on suspicion at Feni Station, but they escaped by shooting at one of the guards. On May 6th, 1930, a group including Devi Prasad Gupta, Manoranjan Sen, Rajat Sen, Swadesh Roy, Phanindra Nandi, and Subodh Chaudhury emerged to attack the European quarters along the Hoogli riverbank. However, the planned attack could not be carried out on the same day. On their way back, they encountered a group of armed cops at Kalarpole. Four of them were martyred during the encounter with the police, while Subodh and Phani were wounded and imprisoned. Several locals brought in to assist the British police were killed and injured during this encounter with the members of the Indian Revolutionary Army. Within a month, the police arrested several members of the Indian Revolutionary Army, and later, the British Indian military took control of Chittagong and imposed a curfew throughout the city.

Furthermore, police interrogated several family members of revolutionaries, including Rajat's (martyred at Kalarpole) father, Debi and Ananta Singh, who were among those detained by the police. The police warned them of severe consequences for their sons and others who were helping him. Frenzied efforts were made to persuade the Crown to oppose the rebels (Ghosh, 2022). Lastly, at this point, one of the active members of this group, Ananta Singh, surrendered, foiling the government's efforts to demoralise the captives. In 1930, 30 inmates were charged, including Ananta Singh and other leaders. A special tribunal court was established for their trial; the primary indictment against them was "waging war against the King-Emperor." Because their operations began with the raid on the

Armoury, the trial became known as the Chittagong Armoury Raid Trial. On September 1st, 1930, police surrounded a residence in Chandernagore, Hooghly District, at night, and arrested Ganesh Ghosh, Ananda Gupta, and Loknath Bal before transporting them to Chittagong (Chatterjee, 2010).

The Chittagong Armoury Raid Trial : Following the revolutionaries' capture after the Chittagong Armoury Raid, the government initiated legal proceedings. Police fatally shot Jiban Ghoshal during the Chandernagore dispute. A critically ill Ambika Chakravarty was arrested two months later; his case was postponed, and he was jailed. Amidst daily arrests and escalating police oppression aimed at gathering information, the revolutionaries recognised the futility of remaining passive and being apprehended, especially with severed links to those incarcerated. They began formulating new strategies.

On December 30, 1930, Ramkrishna Biswas and Kalipada Chakravarty mistakenly assassinated Inspector Tarini Mukerji at Chandpur Station, believing him to be Inspector General of Police Mr Craig. Both were arrested. Ramkrishna Biswas was sentenced to death at their Calcutta High Court trial, while Kalipada received a life sentence (Dutt, 1973).In June 1931, a dynamite scheme was uncovered in Chittagong. Arms, electric wires, explosives, and daggers were found in and around the jail, with dynamite hidden underground at the courthouse and other key locations. This widespread conspiracy shocked the public and the government. Bail for five defendants in the Armoury Raid Case was revoked, and two were acquitted of charges related to the explosives. Further arrests brought the total to eight in the Dynamite Conspiracy Trial, which began before a special tribunal. Authorities attempted to negotiate with Anantada and his team, offering lenient sentences in exchange for guilty pleas. Public concern arose that these individuals would receive life sentences. Ultimately, three defendants received three-year sentences, while the others received six- or eight-month sentences. Ananta Singh and Ganesh Ghosh's influence, which compelled the government to negotiate, astounded the public.

The Armoury Raid Case concluded on March 1, 1932. Sixteen were unconditionally acquitted but imprisoned under the Bengal Ordinance. Ananta and twelve others received life sentences; Ananta Singh's brother, Nandulal Singh, was sentenced to three years, and Anilbandu Das to five. The fathers of Rajat and Debi were released after the final charge sheet was filed.Following this, eighty-four revolutionaries were arrested in connection with the Pahartali raid but released due to insufficient evidence. The Armoury Raid Supplementary Case commenced with Ambika Chakravarty and two others. After a two-month trial, Ambika Chakravarty was sentenced to death, one defendant received life imprisonment, and the

other was detained. Subsequently, revolutionaries attempted to evade police, leading to increased vigilance and the stationing of military personnel in every community, creating a constant threat.

In February 1933, a police encounter occurred at Gairala village; after two hours of combat, Masterda Surya Sen and a local youth named Brojen Sen were captured. Brojen was later sentenced to four years. Others escaped, though Santi Chakravarty and another colleague were severely wounded. The homeowners, Purna Talukdar and his brother Nisi Talukdar, were killed by police fire for sheltering rebels, along with a young comrade, Manoranjan Das (Ray, 1984).The Armoury Raid Second Supplementary Case began in June 1933 and involved Masterda, Tarakeswar Dastidar, and Kalpana Dutt. Initially sentenced to death, they received life sentences instead. Subsequently, individuals were apprehended one by one. Santi Chakravarty, Mani Dutta, and Kalikinkar Dey, who had maintained the organisation, were captured around this time. The British government offered a reward of 10,000 rupees for Surya Sen's capture. Based on information from a traitorous companion, Netra Sen, British police arrested Surya Sen on February 16, 1933. Younger members, desperate, assassinated Netra Sen on January 2 in Gairala for revealing Masterda's location (Ray, 1984).

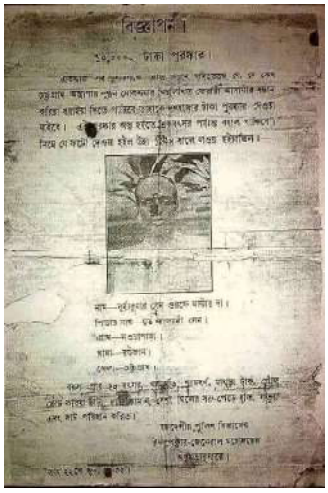

Fg: 2 Inspector General of the Police Division of Undivided Bengal – Directorate of State Archive, Calcutta

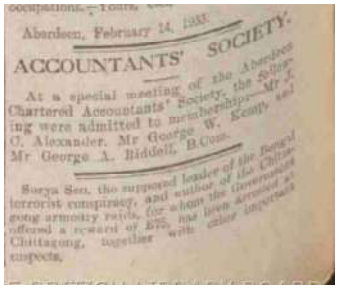
Aberdeen, February 14, 1933.

ACCOUNTANTS' SOCIETY.

At a special meeting of the Aberdeen Chartered Accountants' Society, the following were admitted to membership—Mr J. C. Alexander, Mr George W. Keenty and Mr George A. Biddell, B.Com.

Surya Sen, the supposed leader of the Bengal terrorist conspiracy, and author of the Chittagong armoury raids, for whom the Government offered a reward of £10, has been arrested at Chittagong, together with other important suspects.

Fg: 3 Aberdeen, February 14, 1933

They were also executed following their trial. Ten days later, on January 12th, at midnight, the government, which had held the entire town and jail under military occupation, executed Surya Sen and Tarakeshwar Dastidar. In greed of this, on the information of a treacherous companion, Netra Sen, the British police arrested Surya Sen on February 16th

1933. After one year of court trial on January 12th, 1934, Surya Sen was sentenced to death along with his companion Tarakeshwar in Chittagong Central Jail (Dutt, 1975).

Still, before hanging, they were given many inhuman tortures. The height of cruelty and humiliation of the British rule was that their dead bodies were also locked in a metal box and thrown into the Bay of Bengal. After independence, the hanging platform of Chittagong Central Jail was declared the Master Surya Sen Memorial by the Bangladesh government.

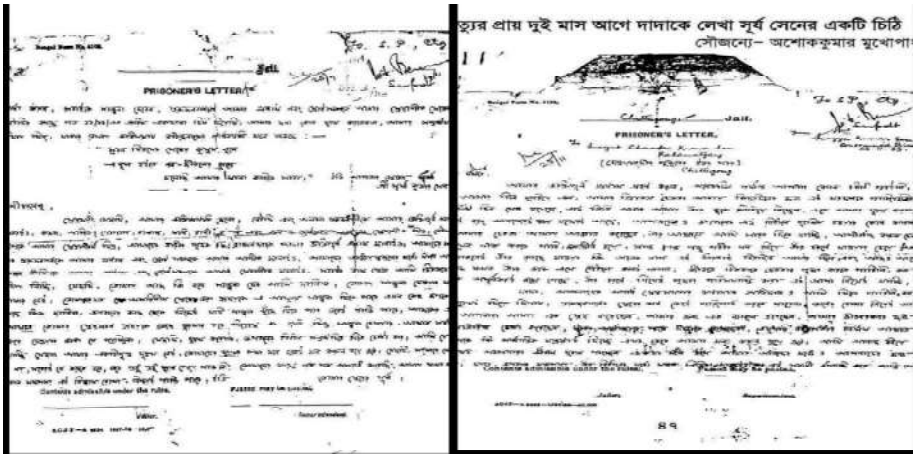

Inspector General of the Police Division of Undivided Bengal – Directorate of State Archive, Calcutta

Master da Surya Sen's letter to his elder brother, Chandra Kumar Sen, Surya Sen's letter to his sister-in-law, Birajmohini

Summary

This paper explores the significant contributions of Master Da Surya Sen and his extremist organisation, the Indian Republican Army, to revolutionary activities against British rule, focusing on pivotal events such as the Chittagong Armoury Raid and the Jalalabad Hill encounter. The brave actions of the freedom fighters of the Indian Republic Army won the admiration of Chittagong through the armed rebellion at the Chittagong Armoury. The colonial police strictly suppressed this extremist revolutionary action. They started a three-year-long search and trial operation against the freedom fighters who were involved in the Chittagong Armoury Raid. In 1930, during the search operation against the members of the Indian Republic Army, the encounter at Jalalabad Hill starkly revealed the oppressive face of the police forces, as they confronted and encountered several unarmed revolutionaries and killed several others, including a 14-year-old boy, Amarendra Nandy, who was suspected of being involved in this revolutionary group. Further, this research has

discussed the subsequent trial against members of the Indian Republic Army and family members of freedom fighters. This research has described the cruel face of the colonial judiciary and administrative practices where the colonial British police had not only encountered the freedom fighters connected with the Indian Republic Army but also filed a case against the family members of Rajat and Debi. The selective action of colonial police has taken this revolutionary movement as a priority and tried to neutralise the revolutionary leaders by mass killing and mass arrest.

The study emphasises the narratives and documented history surrounding these key acts of resistance, as well as the British judicial responses to the Revolt. Additionally, it highlights the sacrifices of prominent figures in the movement, including Ganesh Ghosh, Ananda Gupta, Loknath Bal, Tarakeswar Dastidar, Kalpana Dutt, Pritilata Waddedar, Santi Chakravarty, Mani Dutta, and Kalikinkar Dey. It underscores their roles in shaping the course of Chittagong's revolutionary struggle.

Reference

I. ঘোষশংকর, মাস্টারদাসূর্যসেন, কলকাতা: প্রমিথিউস, ২০১২

II. ঘোষ, গণেশ, চট্টগ্রামযুববিদ্রোহ: ১৯৩০-৩৪আলেখ্যমালা, কলকাতা: প্রকাশক, ১৯৭০।

III. তৃতীয়র্যাডিক্যালপ্রকাশ, কলকাতা: র্যাডিক্যালইম্প্রেশন, ২০২০।

IV. দাশগুপ্ত, তুষারকান্তিওসেন, দিলীপকুমার, বিপ্লবীমহানায়কসূর্য্যসেন, বারাসাত: শ্রীস্বপনকুমারসেন, ১৯৭৪।

V. পাকড়াশী, সতীশ, অগ্নিযুগের কথা, কলকাতা: র্যাডিক্যাল ইম্প্রেশন, ২০১৫

VI. মজুমদার, শুভেন্দু, অগ্নিযুগেরঅভিধান, কলকাতা: র্যাডিক্যালইম্প্রেশন, ২০২২।

VII. Bhattacharya, M. *Chittagong Summer of 1930*, Kolkata: HarperCollins Publishers, 2012.

VIII. Datt, K., *Chittagong Armoury Raiders: Reminiscences*, Kolkata: Peoples' Publishing House, 1979.

IX. Datt, K., *Chattagram Astragar Akramonkaridar Smritikatha (Revised and Digitalised)*, Kolkata: Agniyuga Granthmala, 2013.

X. Halder, G., "Revolutionary Terrorism," in A. C. Gupta (Ed.), *Studies in Bengal Renaissance*, Kolkata: National Council of Education, 2002.

XI. Laushey, D. M., *Bengal Terrorism and Marxist Left—Aspects of Regional Nationalism in India, 1905-1942*, Calcutta: Firma KLM, 1975.

XII. Mukherjee, P., and Patnaik, N., "The Last of the Rebels: Ananda and His Master," *Ananda Gupta Birth Centenary Commemorative Issue*, Mumbai: Bushfire Publishers and Biplab Teertha Chattogram Smriti Sanstha Prakashan, 2016.

XIII. Pramanik, N., *Gandhi and the Indian National Revolutionaries*, Calcutta: Sribhumi, 1984.
XIV. Ray, N. R., *Challenge, a Saga of India's Struggle for Freedom*, New Delhi: PPH/Chittagong Uprising Golden Jubilee Committee, 1984.
XV. Roul, K., "Leftism in India: 1917–1947", *Social Scientist*, Vol. 40 (7/8), 2012, pp. 85–88.
XVI. Roy, S., *Chittagong Armoury Raid: A Memoir*, New Delhi: LeWord Books, 2015.
XVII. Sen, A., "Souvenir on the 125th Birth Anniversary of Sahid Surya Sen and Golden Jubilee Celebration of Biplab Tirtha Chattogram Smriti Sanstha", Kolkata: Sahid Surya Sen Bhaban, 2005.
XVIII. Sharma, P., *Master Da Surya Sen*, New Delhi: National Book Trust, 2019.
XIX. Official Records
XX. Judgment of the Special Tribunal in Chittagong Armoury Raid Case No 1 of 1930 (e Emperor vs Subodh Chandra Biswas and Others)
XXI. Judgment of the Special Tribunal in Chittagong Armoury Raid Supplementary Case (e Emperor vs Ambika Charan Chakravarty, Hemendu Bikash Dastidar and Saroj Kanti Guha) of 1933)
XXII. Judgment of the Special Tribunal in the Chittagong Second Supplementary Armoury Raid Case No. 1 (6) of 1930/33
XXIII. Judgment of the Special Tribunal in the Chittagong Second Supplementary Armoury Raid Case (Emperor vs Surjya Sen, Tarkeshwar Dastidar, and Kalpana Dutt).
XXIV. Sen, M. 2022. *Women in the War of Freedom Unveiled, Bengal 1919-1947: Glimpse from Archival Records*. Kolkata: Hyphen Publishers.

●

Desire and Discontent, T232he Two Sides of the Same Coin : A Lacanian Psychoanalytical Study of Sarojini Naidu's *"The Queen's Rival"*

Aiswarya Jayan*, Dr. Shibani C. Aich**

Abstract : The poignancy of desire in human existence has always been a coveted area of discussion among philosophical and critical thinkers. In psychoanalysis, desire is a key concept of contention that furnishes explanations for human behavior and actions. This paper aims to analyze the poem, "The Queen's Rival," by Sarojini Naidu, using the Lacanian psychoanalytic concepts of 'Desire' and the 'Mirror Stage.' The poem details the excessive preoccupancy with beauty and the insatiable desire for validation that is inextricably merged with human existence. Queen Gulnar, shrouded in her 'countless treasures', basks in the glory of possessing unassailable beauty. Nevertheless, the queen is borne down by the burden of discontent arising from the absence of unbridled rivalry. She longs for a rival who challenges and exhilarates her, a worthy rival that poses a threat to her beauty and wealth. In the absence of such a rival, the queen wallows in despair and disaffection, hoping for an unexpected revival of her moribund existence. Thus, the poet dabbles in the matter of human desire and discontent while urging the readers to reflect on the vice of human insatiability. The paper seeks to reflect on desire from a psychoanalytic perspective by exploring the character of Queen Gulnar and her tryst with discontent.

Keywords : Desire, Discontent, Lacanianism, Psychoanalysis.

Introduction : Desire, need, satisfaction, and discontent are the variables that condition the human psyche and temper their behavior and actions. In psychoanalysis, the subject of desire is often seen as a complex, foundational phenomenon that serves as a gateway to analyzing the human mind. The psychoanalyst, Jacques Lacan, had extensively dealt with the baffling intricacies and constitution of human desire.

Lacan's theory of desire is centered on the theory that desire is inherently a result of lack or incompleteness rather than a drive to achieve something. This paper aims to validate and explain the theme of desire presented in the poem by utilizing Lacan's theory of desire, the concept of *objet petit a,* the unattainable nature of desire, and the distinction between need and desire.

"The Queen's Rival" by Sarojini Naidu is a masterclass in deciphering the complex nuances of the female psyche. Even a queen draped in the splendor of richness is not above the trifling mysteries that haunt the female mind. The poem, modeled on a Persian tale, tells the story

* Research Scholar– Dept. of English, Amrita University, Amritpuri, Kollam, Kerala
** Assistant Professor– Dept. of English Amrita University, Amritpuri, Kollam, Kerala

of Queen Gulnaar, who possessed enviable beauty and all the riches of the world. However, the queen was worn out by the deep discontent that left her with insatiable and implausible desire. She desired to have an enviable rival who could challenge her in terms of beauty, wealth, and grace.

The poem entails the story of how the king desperately tries to fulfill her desire to "clear the sky" (12) of her discontent. The king even strode to the extremes by taking in seven beautiful brides for him to stir the flames of envy and rivalry in the queen's burdened heart. But the "seven bright petals of Beauty's flower" (34) could not awaken the rush of envy or the angst of threat in her.

The poem eventually finds its resolution in the queen taking in her beautiful little daughter, the only worthy rival who can quell her unbridled desires. It can be argued that Queen Gulnaar's desire indeed stems from a feeling of absolute void amidst the disarray of worldly luxuries. Thus, the paper explores the subtleties of desire and how it peculiarizes and intensifies the complexity of the human psyche.

Bridging the Distance between Desire and Need: Evaluating the Lacanian Theory of Desire

"Desire is neither the appetite for satisfaction, nor the demand for love, but the difference that results from the subtraction of the first from the second." (Lacan 690).

Jacques Lacan's psychoanalytical theory of desire mainly centers on the human preoccupation with achieving the unattainable. According to Lacan, desire is an eternal, perpetual pining for something nonexistent, as desire arises from a lack and is characterized by an incompleteness. Desire is merely a metonymic pursuit for a fundamental lack; thereby, it is left unfulfilled.

According to Lacanian perspectives, desire never functions to attain a specific object but remains itself as desire. This non-existent object or the fundamental lack is called the *objet petit a,* a concept crucial when discussing Lacanian desire. *Objet petit a* represents the void, the absence that creates desire, thereby creating a sense of perpetual privation and an eternal quest for pleasure.

Lacan's conception of desire is also closely linked to the way desire is distinct from need and demand, based on the quotient of satisfaction. All these distinctions and connections can only be made clear once the context of the 'Other' is introduced.

"Man's desire is the desire of the Other."

This is a core principle of Lacan's theory, and it simply means that our desires are not entirely our own but shaped by the desires of the 'Other.' Lacan believed that desire emerged from the urge to identify and relate oneself to the outside world through language and order. In doing so, we are bound to live with a constant need for approval and acceptance from the 'Other' (the external social order).

Need, according to Lacan, is a biological instinct that is the result of a

demand articulated by the subject (the self) to the 'Other', and unlike desire, need can be fulfilled. However, even after the articulated need is fulfilled, the subject bears an unspoken demand, which can be the acceptance or love of the 'Other.' This unfulfilled, unspoken demand leaves behind a residue in the subjects' unconscious, which becomes the so-called unattainable desire. However, as suggested earlier, desire is not formed in the subject's psyche with the goal of satisfaction but with the reason to merely exist in its true form.

The Indivisibility of Desire and Discontent: Analyzing Queen Gulnaar's Desire using the Lacanian Perspective

Sarojini Naidu lures her readers to step into the poem as if they were entering a fairy tale from the 'Arabian Nights' with her opening stanza:

Queen Gulnaar sat on her ivory bed,
Around her countless treasures were spread;
Her chamber walls were richly inlaid
With agate, porphyry, onyx and jade;
The tissues that veiled her delicate breast,
Glowed with the hues of a lapwing's crest;
But still she gazed in her mirror and sighed
'O King, my heart is unsatisfied." (Naidu, lines 1-8).

One of Lacan's most poignant contributions to psychoanalysis is, indubitably, the concept of the 'Mirror Stage.' The mirror stage is perceived to be responsible for developing the early sense of 'Self' or the 'I'. This self-image is retained till the subject is exposed to the views, desires, and expectations of the 'Other.' This exposure to the 'Other' can either bring about a moment of relatability or it can cause a fragmentation of the unified ego. The' Mirror stage' is also considered to be responsible for the creation of the 'ego.' The undiluted 'Self' in the mirror stage is merely a symbolically idealized and imagined version of the subject.

In the poem, The Queen's Rival,' desire, need, demand, ego, and the 'self' find a significant representation in the absurdity of the queen's whimsical wish. The queen is enveloped by the finest of the luxuries, yet she covets something beyond her reach, something absent and unprocurable. She sits pining all day in the bedazzled chamber, holding a mirror and a conviction of being the epitome of unrivaled beauty and richness.

However, the conviction is outweighed by a discontent stemming from the 'lack' of an equal, a rival. This discontent gives way to a tiring pursuit of constant validation, both internally and externally. The desire for the 'lack' and the search for validation from the 'other' drives the subject away from the 'real' self. Queen Gulnaar's continuous action of holding a mirror is her internally seeking the acceptance and approval that is absent in the external, real world.

The queen's fixation with her mirror image can be further reviewed using the Lacanian concept of the 'mirror stage.' Lacan talked about the

'mirror stage' with reference to the infants' early development of their sense of the 'self.' It happens through the process of either identifying with a unified image of itself in a mirror, or through the gaze of another person (the 'Other'), to form its sense of the self and the 'ego.

The 'ego' or the 'I,' thus formed, is an illusioned, fragmented construct that is broken when the subject enters the real ('symbolic') world. Therefore, this concept is useful in understanding adult behaviors like narcissism, fixation with images, rivalry, egotism, etc. Thus, the queen's obsession with her own reflection points to the narcissistic trait that drives her to find competition in a rival who represents the conceptually idealized self-image that is absent in the real world.

The theme of 'beauty' presented in the poem is central to analyzing and validating desire as the outset of egoistic idealization and narcissistic obsession. Queen Gulnaar's desire for beauty can be characterized as a 'desire of the other', in this case, the society's collective desire for and obsession with beauty. The societal conception that holds beauty as the supreme contender for acceptance is a dire factor that permanently fragments one's unified sense of self. Thus, Queen Gulnaar's fervent self-reverence comes from her being positioned as the most beautiful woman with none to contest with her.

Her narcissism is a subjective element formed as a result of the internalization of an image approved by the 'Other.' However, the fragile ego fails to satisfy the queen's 'desire', as she is constantly conflicted by a feeling of deprivation and discontent. Her search for a rival is a futile attempt to appease her ego from collapsing into a void of meaningless existence.

"Queen Gulnaar sighed like a murmuring rose/ 'Where is my rival, O King Feroz'?"(Naidu, lines 36-37)

Her desperate question voices her own resigned acceptance of the rhetorical nature of the question and her desire. She is aware that such a rival is non-existent, and even if they do exist, it won't suppress the aggravating insufficiency in finding contentment. The 'rival' is nothing but the queen's desire for a manifested symbol of the 'ideal self' or the 'ideal ego', she thinks she embodies. And if she were to find such a rival, it is a self-vindication of her belief in the existence of the supposedly ideal 'Other.'

When the king brings in the seven beautiful brides, the queen momentarily abandons her mirror to look up at the supposed rivals. From the Lacanian perspective, this can be analyzed as a disturbance in the mirror stage, when the focus shifts from within to the external, that presents an alienated abstract of a reality beyond the grasp of the 'ideal ego' while reinforcing the state of lack and desire. The nonchalant dismissal of the prospective rivals either hints at a narcissistic conviction in her superiority, or it could be a denial of accepting the truth about 'desire.'

Queen Gulnaar's interaction with her daughter, as depicted in these

lines, can be analyzed multifariously by applying the concept of the 'mirror stage':

Queen Gulnaar's daughter two spring times old,
In blue robes bordered with tassels of gold,
Ran to her knee like a wildwood fay,
And plucked from her hand the mirror away.
Quickly she set on her own light curls
Her mother's fillet with fringes of pearls;
Quickly she turned with a child's caprice
And pressed on the mirror a swift, glad kiss.
Queen Gulnaar laughed like a tremulous rose:
"Here is my rival, O King Feroz." (Naidu, lines 45-54)

When the queen finds a rival in her two-year-old daughter, it is not to be perceived as a fulfillment of her desire, but rather a detachment from it. As she finally looks away from the mirror (the ideal ego) and at her daughter, who is not a signifier of the 'other', the queen finally breaks free from her oppressive trance. On the other hand, the daughter could also be the representation of that 'other' with which the subject initially identifies in the mirror stage.

The queen could have presumed the daughter to be her reflection, thus incidentally asserting the unified sense of self, when she states she found her rival in her daughter. The real question is if the queen has truly mastered her desire and has found contentment in having her own successor as a worthy rival or not. It is not a question that the poem answers, even if she did find her rival, whether has she freed herself from the perpetual state of lack and desire is a quandary by itself.

A repeated inspection of the ending of the poem offers a worthwhile insight, which can further cement the poignancy of Lacan's 'mirror stage' to the formation of the sense of self. According to Lacan, the mother's desire is the foundational desire, as the mother is the first 'other' for the child. The daughter's mimetic action of adorning her mother's ornaments and adoring her own reflection in the mirror is suggestive of the early integration of a 'desire of the other.' It can also be seen as an instance where the child is being conditioned to accept the obsessive compulsion with the deification of beauty as the norm. Thus, the baggage of the painful cycle of longing, desire, and discontent is passed on to the subsequent generations as well.

Along with the themes of beauty and desire, the poet subtly explores the theme of alienation. The poet presents alienation as a companion to desire and discontent, which can be self-inflicted or the consequence of a narcissistic estrangement. Throughout the poem, the queen is depicted as confined to her regal chambers, with little to no contact with the external world:

When spring winds wakened the mountain floods,
And kindled the flame of the tulip buds,

When bees grew loud and the days grew long,
And the peach groves thrilled to the oriole's song,
Queen Gulnaar sat on her ivory bed,
Decking with jewels her exquisite head;
And still she gazed in her mirror and sighed:
"O King, my heart is unsatisfied." (Naidu, lines 37-44)

Time passed, seasons changed, but the queen sat gazing at the mirror, hoping to find peace and resolution, all the while distancing herself from reality. Lacan contended 'alienation' as a natural and inevitable extension of the 'mirror stage.' When the subject solely identifies with the unified self in the mirror, they tend to separate themselves from the externalized 'other'. Lacan argued that it is a never-ending process, as the subject is constantly alienated through the process of being defined by external forces.

Conclusion : "Desire, a function central to all human experience, is the desire for nothing nameable. And at the same time, this desire lies at the origin of every variety of animation." (Lacan 223-224)

The poem, 'The Queen's Rival' by Sarojini Naidu, is a striking rendition of the fallacies of human desire. It is fascinating how a poem published in 1905 can be analyzed and reread using a theoretical concept that came out almost fifty years later. Queen Gulnaar's interaction with desire is emblematic of the complexities that characterize the human psyche.

The poet has cleverly depicted the frailty and insatiable fervour of human desire. By making a queen the central character of a poem that thematizes discontent, the poet brilliantly exposes the conspicuousness of human greed. The poem's candid portrayal of human nature is what makes it a suitable subject for a Lacanian psychoanalytical discourse. In conclusion, the poem depicts how the detrimental nature of desire and the agonizing discontent that follows continuously plagues human existence.

Works Cited

- Hewitson, Owen. LACANONLINE.COM – Exploring Psychoanalysis Through the Work of Jacques Lacan. 1 Oct. 2025, lacanonline.com.
- Naidu, Sarojini. "The Queen's Rival." Poetry.com, 2023, https://www.poetry.com/poem/34641/the-queen's-rival.
- Sheikh, Farooq Ahmad. 'Subjectivity, Desire and Theory: Reading Lacan'. Cogent Arts & Humanities, vol. 4, no. 1, Informa UK Limited, Jan. 2017, p. 1299565, https://doi.org/10.1080/23311983.2017.1299565.
- Wikipedia contributors. "Lacanianism." Wikipedia, Wikimedia Foundation. 14 October. 2025, https://en.wikipedia.org/wiki/Lacanianism. Accessed 17 October. 2025.

●

Deep Ecological Paradigm in Ecodystopian Futures : Environmental Ethical Reflections in T.C. Boyle's *A Friend of the Earth*

Lavanya K. M.[*], Dr. Raichel M Sylus[**]

Abstract : Environmental philosophy and ethics play a pivotal role in influencing the future of ecophilosophical inquiry. Environmental philosophy imparts a crucial analytical framework to address the urgent contemporary environmental issues such as global warming, climate change, and biodiversity loss. As foundational discourses, environmental ethics and philosophy have given rise to diverse perspectives such as deep ecology, social ecology, ecofeminism, bioregionalism, and ethics of place. This research articleexamines the evolving environmental ethical perspectives through the lens of deep ecology, analysing how T.C. Boyle's ecodystopian fiction, *A Friend of the Earth*, portrays human-nature relationships and contemporary environmental issues. The study highlights the necessity of reinforcing ethical, moral values in environmental stewardship and argues that environmental administration requires a grassroots level analysis to understand the core of ecological crises.

Keywords : Deep ecology, Diversity of species, Environmental ethics, Ecodystopia, and Intrinsic Value

Introduction : Humans are responsible and intellectual beings who need to care for the natural world and its biotic communities including plants, animals, forests, streams, and mountains. Humans have to respect and preserve the values of nonhumans. The research delves into the environmental ethical dimensions of the narrative *A Friend of the Earth,* employing the first two platforms of deep ecological perspective to unravel the novel's portrayal of nonhuman and human relationships. It also emphasises the need to address the contemporary environmental crises and to find solutions for the present day and the future of the planet. The novel reflects a poignant exploration of environmental degradation and environmental activism set against a near-futuristic dystopian background. It foresees a prospect where environmental collapse is a stark reality experienced at various scales and has different impacts at multiple timelines. The characters' interactions with their environment and the underlying philosophical questions are examined to understand Boyle's contribution to contemporary discussions on environmental challenges

* Ph-D. Research Scholar– Department of English, Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore, Tamil Nadu- 6410143.

** Professor– Department of English, Avinashilingam Institute for Home Science and Higher Education for Women, Coimbatore, Tamil Nadu- 6410143.

represented in the novel.

Environmental Ethics and Deep Ecology : A Shared Vision : Environmental ethics is concerned with the ethical relationship between humans and nature. Deep Ecology is a comprehensive worldview of humans in harmony with nature. It seeks to address questions about the value of nature, the rights of nonhuman entities, and the ethical responsibilities of humans toward the environment. Deep Ecology is a prominent movement within environmental ethics that advocates for a profound shift in human consciousness regarding humans' relationship with nature. 'Deep Ecology' is a term coined by philosopher Arne Naess in the 1970s that asserts all living beings and ecosystems possess intrinsic value, independent of their utility to humans. A deep ecological perspective calls for a fundamental rethinking of human values that prioritise equitable and respectful coexistence with the natural world. According to deep ecologists, the shift in ecocentric perspective is expected to lead to a more harmonious and sustainable existence to foster a better planet.

Deep ecology renders a specific and transformative approach that emphasises 'intrinsic value', 'biospherical egalitarianism', and 'ecological self" to interact with the natural world (28,175). While environmental ethics provides a broad philosophical foundation for understanding one's moral obligations to the environment. Both deep ecology and environmental ethics stress a deeper understanding of environmental responsibility and suggest valuable insights for fostering sustainable and ethical relationships with the environment. As an outcome of the deep ecology movement, Arne Naess and George Sessions developed the 'deep ecological platform' consisting of eight principles. This study focuses specifically on the first and second principles of deep ecology.

Ethics of Inherent Values in Ecodystopian World : Environmental ethics promotes the intrinsically valuable welfare of nonhumans. John O'Neil and others in"Environment, meta-ethics and intrinsic value,"put forth"Environmental ethics is to hold that beings and states of affairs in the non-human world have intrinsic value" (114). Naess'intrinsic value framework, a core component of his deep ecology philosophy, posits that all living beings and ecosystems have inherent worth beyond their instrumental benefits to humanity. The fundamental and primary ideology of the deep ecological principle is that "the flourishing of human and nonhuman life on Earth has intrinsic value. The value of nonhuman life forms is independent of their usefulness for narrow human purposes" (29). The first principle underscores the ethical and philosophical dimension of environmental conservation by valuing the inherent worth of nonhuman beings.

The value of nature is reflected through the depiction of the

protagonist Tyrone O'Shaughnessy Tierwater's commitment to preserve the environment not merely for its resources or economic value but for its inherent worth. He is a former ecoactivist who once fought passionately to preserve endangered species and ecosystems. His ecophilosophical belief is to "Live and Let Live, Adat, Deep Ecology, No Compromise in Defense of Mother Earth" (5). Tierwaters' efforts to conserve the loss of species and habitats in the novel elevate as a poignant reminder of the importance of maintaining ecological balance and the interconnectedness of all life forms.

The narrative encapsulates how the intrinsic value of nature motivates the characters to advocate for and protect the biotic communities and natural landscapes portrayed as valuable in their own right. In her essay "American Environmentalism and Encounters with the Abject: T. Coraghessan Boyle's *A Friend of the Earth*," Sylvia Mayer argues "the characterization of his protagonist Ty Tierwater, Boyle's novel ultimately points successfully toward many issues that are crucial for early twenty-first-century environmentalism: it envisions what ecological collapse might mean for human (and animal) . . . addresses the issues of local, regional and global spatial experience. (233). Naess, alongside the concept of intrinsic value, also introduces other concepts such as 'biospherical egalitarianism', 'self-realization' or 'ecological self,' which relate to understanding intrinsic value (28, 175). Deep ecology advocates the principle of intrinsic value through 'biospherical egalitarianism,' which asserts that all forms of life have equal intrinsic worth. For instance, Tierwater asserts, "'I want to save the animals nobody else wants . . . unglamorous things of the world the warthogs, peccaries, hyneas and jackals'" points out the difference in the treatment of animals that have aesthetic value and beneficial for human purposes. Tierwater's representation to protect the species calls for rejuvenating the values of other beings present in the earth. Therefore, it implies that the preservation of biodiversity and ecosystems is crucial not only for human benefit but also for the sake of the natural world itself. A central tenet of deep ecology, 'self-realization' or 'ecological self,' involves expanding one's sense of self to include the natural environment. The shift from an egocentric perspective to an ecocentric perspective fosters a deeper understanding of one's place within the broader ecological system. Sierra Tierwater's active involvement in ecodefense movement, creating ecoawareness, influencing her father, stepmother, and other college students, shows her dynamics and dedication towards protecting nature. It entails her self-realization and determination to conserve nature right from her childhood days to her teenage days even extended to the cost of her life. Her life becomes remarkable with due credits to her sacrifices in the form of a life credit

story, "MARTYR TO THE TREES: THE SIERRA TIERWATER STORY BY APRIL F. WIND" (331). Thus,the life experience of Sierra creates an impact as a literary exploration of how the intrinsic value of nature can inform and transform environmental ethics and activism. The character arc of Tyrone Tierwater from an idealistic activist to a disillusioned persona captures the tension between idealism and realism in a world that needs radical environmental change. Tierwater's pursuit of self-realization is framed as a means to achieve a greater collective 'Self-realization,'the selfless commitment promotes the well-being of the planet (175). Boyle uses his characters to explore and critique environmental ethics the novel highlights the interplay between personal, ideological, and societal dimensions of environmental activism.

Fragility of Diversity: Ecological and Philosophical Perspectives : The diversity of plant and animal species plays a significant role in illustrating the consequences of environmental degradation and the ethical implications of humanity's impact on nature. According to Naess, "Richness and diversity of life forms are values in themselves and contribute to the flourishing of human and nonhuman life on Earth" (29). Through Tierwater's experience Boyle highlights the fragility of ecological diversity and the catastrophic consequences of human actions on the environment. Andrew McLaughlin asserts that, "Cherishing diversity appreciates differences and rejects a single standard of excellence" (87). Thereby, Boyle uses a myriad range of species, both plant and animal to emphasise biodiversity loss, ecological interconnectedness, and the inherent value of all life forms.

The animal sanctuary where Tierwater works also includes a greenhouse filled with exotic and rare plants most of them are endangered. The animals in the sanctuary are symbols of the last remnants of the Earth's biodiversity. The effort to preserve these plants highlights the importance of plant diversity in maintaining ecological balance and the ethical responsibility humans have to protect these species from extinction. The Patagonian fox is emblematic of the broader theme of species on the brink of extinction and highlights the ethical dilemma of saving individual species in a world where the overall environment is in collapse. Tierwater worries about "the Patagonian fox got loose, and that's the last native-born individual known to be in existence on this worn-out planet" (2). Similarly, Sierra's deepcommitment to environmental activism, such as voicing out for animal welfare, tree-hugging, and practicing vegetarianism, envisages the importance Sierra gives to the smallest creatures in the ecological web.The novel subtly suggests that the loss of diversity can have cascading effects on other species,which highlights the interconnectedness of all life forms.

Consequently, the novel vividly depicts the natural environment, particularly forests and wildlife, as entities with inherent value. One notable example is the portrayal of the California wilderness, which is depicted as a rich, interconnected system of life forms that are under threat from human encroachment and environmental destruction. The forest is not just a backdrop but a living entity with intrinsic value, reflecting its importance beyond its economic or recreational use. The forest is the home for a rich array of plant and animal life that are cleared due to "industrial logging" operations (Devall 60). The destruction of old-growth forests includes the felling of majestic redwoods, which are emblematic of the loss of plant diversity. Tierwaters' protest against the felling of the "woods are being raped and the world stripped right down to the last twig . . .somebody's got to save it" (28). The loss of these ancient trees not only represents a reduction in plant diversity but also the loss of entire ecosystems that depend on these forests for survival.

Throughout the novel, Boyle uses the diversity of species of both plants and animals as a symbol of environmental health and vitality. The decline or extinction of these species servesas a metaphor for the overall degradation of the natural world. Boyle in the interview with Peter Wild says, "the resources are dwindling, all of the other animals are extinct etc etc". Byfocusing on a wide range of species, from charismatic megafauna like elephants to less glamorous creatures like hyenas and insects, Boyle emphasises that the loss of any kind of plant and animal species diminishes the richness of ecosystems.

Consequently, the other form of diversity in the novel is the moral and ethical differences of the characters. Boyle portrays the ethical dilemmas faced by environmental activists, such as the use of violence in the name of conservation. Tierwater's past actions as an eco-terrorist raise questions about the morality of using extreme measures to protect biodiversity. In *Wisdom in the Open Air*, Peter Reed contends that imposing uniformity would "destroy their lively, suggestive diversity of responses to the great crises of our time and the unknown future that awaits us" (35).The novel instigates readers to consider the ethical implications of prioritising certain species or ecosystems over others. Overall, the novel uses diversity of species to explore the interconnectedness of life, the ethical complexities of environmentalism, and the consequences of human actions on the natural world. The researcher S. Priyadharshini in the article"Deep Ecology: A Framework for Sustainable Living in Thomas Coraghessan Boyle's *A Friend of the Earth*," reiterates "to entirely eliminate environmental issues philosophical intervention into human behaviour is required to incorporate . . . ethics of value, and deep regard for nonhuman nature (306). Boyle's nuanced approach encourages readers to reflect on their values and

responsibilities in the face of global environmental challenges.

Inherent Value and Diversity: Confronting Key Environmental Dilemmas : The ethical approach in the novel aligns with the deep ecological perspective that challenges the anthropocentric belief that human needs and interests are of primary importance. Boyle critiques the human-centred view by showing the devastating impact of human activities on the environment and other species. Boyle suggests through the Tierwaters' family that environmental ethics require a shift away from viewing nature as a resource to be exploited and towards recognising the inherent rights of all living beings to exist and flourish.

Tierwater's contemplations on the purpose of his activism and the meaning of nature's destruction reveal a deep-seated belief in the intrinsic worth of all life forms. His struggle to reconcile his idealistic views with the harsh realities he faces underscores the novel's exploration of the inherent value of nature. Paul Gleason in the book *Understanding T.C. Boyle* describes about the Tierwaters' view on environmental problem that, "Ty goes on to categorize the new California weather as 'floods, winds, thunder, and lightening, even hail' and describes a world in which environmental neglect has resulted in global destruction" (116). Boyle effectively illustrates the inherent values of all life forms through his vivid descriptions of nature, the motivations and actions of his characters, and the philosophical reflections embedded in the narrative. Naess's intrinsic value of deep ecological theory has had a profound impact on environmental philosophy; other eco theorists have expanded, critiqued, and contextualised this concept in various ways. Their contributions enrich the discourse by addressing the practical, cultural, and relational dimensions of recognising nature's inherent worth.

The Earth First! activists in the novel advocate for the preservation of nature as a response to its exploitation by anthropocentric systems. The radical actions are driven by a deep respect for the intrinsic value of all living beings. The activists' campaigns to protect wilderness areas from logging and development reflect their belief that the natural world has value beyond its immediate benefit to humans. The willingness to engage in civil disobedience and direct action underscores their commitment to conservingthe biodiversity of nature. The novel's depiction of environmental collapse enables a stark reminder of the consequences of failing to recognise the inherent value of nature. The degradation of ecosystems and the extinction of species are portrayed as tragic losses that impact the balance of life on Earth. Such events highlight the novel's message about the intrinsic value of all life forms and the far-reaching effects of their destruction on the broader ecosystem.

One of the most prominent solutions explored in the novel is eco-

terrorism, where Tierwater, engages in radical actions to disrupt activities that harm the environment. These actions include sabotaging logging operations and other environmentally destructive activities. Boyle presents eco-terrorism as a controversial and ethically complex solution. It raises questions about the morality of using violence and destruction to achieve environmental goals. The novel suggests that while such actions may stem from a genuine concern for the environment, they can also lead to unintended consequences and moral dilemmas.

In addition, the conservation efforts represent a more traditional and ethical approach to environmentalism. The sanctuary's work underscores the importance of preserving biodiversity for its own sake, not just for human benefit. However, Boyle also portrays the futility of these efforts in the face of overwhelming environmental collapse, raising questions about the effectiveness of such solutions in a world where the root causes of environmental degradation are not addressed.

The characteristics of Tierwater's varying approaches to environmentalism, from radical activism to resigned apathy highlight the need for a more sustainable and respectful interaction with the natural world. The ethical solution to environmental problems should involve a fundamental change in how humans view and interact with nature. The need for environmental ethics is central as the novel portrays a world devastated by ecological collapse. The novel's near-future settingis a direct consequence of a world that has failed to adopt a more sustainable and ethical relationship with nature, where natural disasters and extreme weather conditions have become customary for people to encounter. The environmental collapse demarcates as a powerful argument for the need to move beyond anthropocentric ethics and toward a more holistic approach.The novel highlights the significance of a robust environmental ethic in addressing the complex challenges posed by environmental degradation. It also depicts a world where anthropocentric ethics, which prioritise human needs and desires over the well-being of the environmentthat have led to disastrous consequences. The rampant exploitation of natural resources, driven by short-term economic gains and consumerism, results in widespread environmental destruction, loss of biodiversity, and climate change. Boyle critiques the human-centred approach, suggests that it is insufficient to addressthe deep-rooted environmental crisis. The novel critiques the short-term, profit-driven mindset that has led to ecological devastation, advocating instead for an ethic that takes into account the well-being of future generations and the planet as a whole. The characters' struggles and the collapse of natural systems illustrate the urgent need for an ethical approach that prioritises sustainability and responsibility for the future.

Conclusion : T.C. Boyle illustrates the dire consequences of neglecting environmental ethics and the need for a shift toward a more ecocentric and sustainable worldview. His portrayal of a world in environmental crisis serves as a powerful reminder of the importance of environmental ethics in addressing the challenges of climate change, biodiversity loss, and ecological degradation. By exploring the ethical dilemmas and potential solutions within the novel, Boyle encourages readers to reflect on their responsibilities toward the planet and the urgent need for a more ethical and sustainable relationship with the natural world.Emphasising the collective efforts of individuals to advocate for ethical rights and promote a shift from egocentric to ecocentric perspectives is crucial. Such an approach involves fostering a deeper understanding of the interconnectedness between human actions and environmental impacts, thereby encouraging a transition towards a more holistic and ethical engagement to encounter environmental challenges.

Works Cited :

- Boyle, T.C. *A Friend of the Earth*. Penguin, 2000.
- Devall, Bill. *Living Deep Ecology: A Bioregional Journey*. Edited by Sing C. Chew, The Rowman & Littlefield Publishing Group, Inc., 2021.
- Gleason, Paul. *Understanding T.C. Boyle*. University of South Carolina Press, 2009.
- Mayer, Sylvia. "American Environmentalism and Encounters with the Abject: T. Coraghessan Boyle's *A Friend of the Earth*", *The Abject of Desire: The Aestheticization of the Unaesthetic in Contemporary Literature and Culture*, 2007, pp. 221-234.
- McLaughin, Andrew. "The Heart of Deep Ecology."*Deep Ecology for the Twenty First Century*. Edited by George Sessions, Shambhala Publications, Inc., 1995, pp. 26–36.
- Naess, Arne. *Ecology, Community and Lifestyle: An Outline of Ecosophy*. Edited and translated by David Rothenberg, Cambridge UP, 1989.
- O'Neil, John, et al. "Environment, Meta-Ethics and Intrinsic Value." *Environmental Values*, Routledge, 2008, pp. 112-121.
- Priyadharshini. S. "Deep Ecology: A Framework for Sustainable Living in Thomas Coraghessan Boyle's *A Friend of the Earth*." *International Journal of English Literature and Social Sciences*, vol. 6, no. 5, Sep.-Oct. 2021, pp. 304-307.
- Reed, Peter. Introduction. *Wisdom in the Open Air: The Norwegian Roots of Deep Ecology*. Edited by Peter Reed and David Rothenberg. University of Minnesota, 1993.
- Wild, Peter. "3: AM Interview with Peter Wild." *3 AM Magazine*, 2003, www.3ammagazine.com/litarchives/2003/jun/interview_tc_boyle, Accessed on 18 Jan. 2023.

●

Marginalized Narratives in Temsula Ao's Short Stories: Voices of Resistance from Subaltern Women

Dr. Biraj Jyoti Kalita*, Lavita Das**

Abstract : The objective of the work is to explore the marginalization of women in Northeast India, particularly through the literary works of Temsula Ao, framed within the subaltern perspective.In fact, Temsula Ao's literary works, which is recognized as an ethnographic literature, provide a critical examination of gender roles and societal inequalities in the Naga tribal society. Temsula Ao's short stories not only reveal the voices of those on frontier periphery but also a significant influence on the discourse of post-colonial modernity in Indian literature. However, by analyzing Temsula Ao's short stories, the study aims to offer a poignant critique of female discrimination in the male dominated Naga tribal society.

Key Words : *ethnographic literature, female discrimination, gender, marginalized narratives, Naga tribal society, societal inequalities, Temsula Ao*

1. Introduction : Northeast India is one of the geographically and culturally marginalized areas of the Union of India. The state of Arunachal Pradesh, Assam, Meghalaya, Nagaland, Manipur, Tripura, and Sikkim are the eight states which consists of North East India. It is noteworthy that the entire North Eastern land of India was separated into three provinces prior to independence: Manipur, Tripura, and Assam. The northeastern part of India is a postcolonial fabrication that has caused a variety of political and social problems.[1] It is obvious that the region of North East India is a mosaic of unique geographical characteristics populated by people of various ethnicities.[2] In terms of linguistic identity, Assamese served as the sole communication language between the many languages-speaking groups living in the North Eastern states of Assam, Nagaland, Arunachal Pradesh, and Meghalaya during the colonial period. However, since India's independence, the seven states of North East India (excluding Sikkim) have gone through a tumultuous period in their political history. In fact, it is a matter of the fact that the history of geo-politics of North Eastern part of India is littered with periods when issues such as belonging, immigration, and racial origin drove the state to mass assassination and the annihilation of human life. It is worth noting that famous Naga scholar Dolly Kikon stated that the North Eastern regions' experiences with violence and conflict during British administration, especially between the first and second world wars and after India's independence, have inextricably shaped the social, political, and gender identities that exist today.[3]In fact,

* Assistant Professor– Department of History, Devicharan Barua Girls' College, Assam, India

** Assistant Professor– Department of Assamese, Devicharan Barua Girls' College, Assam, India

Uddipana Goswami also express a similar view. She stated unequivocally that confrontations between and among groups, as well as against the State, have grown to be commonplace in the postcolonial Northeast.[4]

Although those hailing from other regions of India perceive North East India to be a homogeneous thing, it is its plurality in languages, customs, and traditions that serves as a crucial reflected component in North East India writers' literary works. With the rapid transformations that are taking place in North East India, writers from this region have expressed a great desire to trace their historic or cultural heritage, which appears in their literary works. Indeed, their literature has portrayed the voices of the country's peripheral regions. They take on the ethnic mission of recovering their forgotten traditions and place an emphasis on oral customs in identifying their ethnic origins. Despite the fact that the North Eastern states separated due to political or linguistic causes, there are still similarities between these states in a wide range of fields. Each state has its own literature and language. In terms of literary practice, many tribal or non-tribal writers in the North East have applied their native tribal languages as well as *linked languages* as their means of expression, and some have applied English as their medium of instruction. These tribal and non-tribal writers have made significant contributions to the advancement of Indian literature. The literature of the North East differs from other Indian literature in the same way as tribal communities differ from other societies. The literature of the North East India refers to the literature of the states that fall within its geographical boundaries at the periphery.

The literary exploration in North East India has evolved as a result of various events experienced by the people of the North East over the years, such as political assassination, human brutality, terrorist activity, separatist states of mind, indigenous social and social traditions and customs, women's lives, and their position in society. Actually, the rich native culture of Northeast India has been an important concept in any form of writing produced from this region, which is also seen as 'different' in mainstream India. In this context, Tilottoma Misra observes:

'An intense sense of awareness of the cultural loss and recovery that came with the negotiation with other culture is recurrent feature of literatures of the seven north-eastern states.'[5]

It is also important to note that, RangbangTerang, Bishnu Prasad Rabha, Yeshe Dorjee Thongchi, Lummer Dai, Aruni Kashyap, Mitra Phukan, Temsula Ao, Nabanita Kanungo, YisheyDoma, Tarun Chandra Pamegam, and others are the famous writers from the land of North East India whose works explore the region's socio-economic and political landscape. The issue of marginalization in the conflicted region is a critical one, as expressed by North East Indian writers. Their writings appear to put into question related questions in the face of terrorism and brutality, as well as the geographical marginalization of the Northeastern region. They have concentrated more on female characters from the edges in the 'conflicting'

parts of North East India, addressing themes of 'gender' bias, 'body' victimization and 'silence voice' in male-driven patriarchy discourse. This social reality is courageously portrayed in North East India's writings, particularly in the works of women writers.

'……. They are acts of resistance that challenge the status quo and literature is used as a tool for intervention breaking the silence of the suppressed and marginalized voices. These are literary responses to the realities of political and social conflict in the region. They can be considered as 'interventions' because they bring to the fore, the concealed issues and call for our attention to address them. Violence is inflicted on women in various forms be it sexual, physical, verbal, emotional or psychological…'[6]

Indeed, the sensation of marginalization can be seen in Temsula Ao's works of fiction, particularly in renowned short stories. She was concerned regarding women's marginalization in the context of male dominated patriarchy. Her literature is the marginalized theory, which examines women not only from a patriarchal and oppressive standpoint, but also from a perspective of social parameters.

2. Objectives of the Study : This study centers on Temsula Ao's literary works, which vividly portray the periods of violence, insecurity, and upheaval that have affected Northeast India, particularly Nagaland. Through her writings, this research aims to highlight the contrasting identities of women in Naga culture, as examined through the lenses of gender and political discourse.

The objectives of the study are as follows :

1. To analyze Temsula Ao's short stories to explore how gender and class biases continue to affect native tribes in Northeast India, even decades after India's independence.
2. To investigate the ways in which women have been exploited, marginalized, and deprived in tribal societies in Northeast India, drawing on Temsula Ao's literary works.
3. To examine the role of Naga women in the struggle for self-identity within Naga tribal communities.

3. Methodology : The study predominantly employs a qualitative methodology, anchored in the theoretical frameworks of 'Gender' and 'Feminism' from both cultural and physiological perspectives. Primary sources include Temsula Ao's *These Hills Called Home: Stories from a War Zone* (2006) and *Laburnum for My Head* (2009), alongside other literary works, while secondary sources are drawn from a diverse range of scholarly references. Furthermore, in order to strengthen the analysis, relevant materials on the history and culture of Northeast India in the post-independence period have been extensively consulted.

4. Discussion : Temsula Ao (October 25, 1945 – October 9, 2022) was an English-language Indian poet, short story writer, and ethnographer of Nagaland. She was also one of Nagaland's most prominent

contemporary folklorists, scholars, poets, and one of the country's best writers. She was awarded the Padma Shri in 2007 by the Government of India and the Nagaland Governor's Award for Literary Distinction in 2009.She was also awarded the prestigious Sahitya Academy Award for her short story collection, *'Laburnum for My Head'* (2009)published by penguin India. Temsula Ao, who was born in the Assam district of Jorhat and educated there till the secondary level, brought the literary heritage of the entire North Eastern region of India to the global world through her works of fiction about the everyday lives of the Naga people. Temsula Ao wrote about a Naga society that was undergoing fundamental social changes, especially in the 1950s and early 1960s.[7] Temsula Ao's short stories and poetry represent obstacles that ordinary people in Nagaland have suffered for a long time, as well as the regulations enforced by the Government of India to crush insurgents of the Nagas. Temsula Ao grew up through various sufferings since childhood so she felt the sufferings of the common people and tried to express them through her literary literature.

It is noteworthy that Temsula Ao was well known for her many writings on oral tradition, folk songs and women centered fictions based on the Naga society. Temsula Ao has produced seven poetic works: *'Songs that Tell'* (1988), '*Songs that Try to Say'* (1992), '*Songs of Many Moods'* (1995), '*Songs from Here and There'* (2003), '*Songs from the Other Life'* (2007), '*Book of Songs: Collected Poems 1988-2007*' (2013), '*Songs along the Way Home*' (2019). Temsula Ao was also famous story writer from Northeast India. Her three short story works are: *These Hills Called Home: Stories from A War Zone* (2006), *Laburnum for my Head (2009),* and *The Tombstone in my Garden: Stories from Nagaland (2022).*

Temsula Ao's debut collection of short stories, '*These Hill's Called Home: Tales from a War Zone'* (2006), consists of ten stories, notably 'The Jungle Major', 'Soaba', 'the Last Song', 'The Curfew Man', 'The Night', 'The Pot Maker 659', 'Shadows', 'An Old Man Remembers', 'The Journey' and 'A New Chapter'. All of her stories in *'These Hills Called Home: Stories from A War Zone'* are about the Naga tribes' historical sufferings and fights for identity (both collective and individual) as a result of globalization, nationalistic sentiments, extravagant idealism, colonization, insurgency, and center-state rivalry. Temsula Ao's fiction in '*These Hills Called Home: Stories from A War Zone'* focuses forgotten past by revising cultural inheritances and mobilizing voices against state power.

Laburnum for My Head (2009) is a collection of eight short stories, 'Laburnum for My Head', 'Death of a Hunter', 'The Boy Who Sold an Airfield', 'The Letter', 'Three Women', 'A Simple Question', 'Sonny' and 'Flight'.The stories are based on the lives of people from Nagaland's troubled region. The stories in this book are mostly about Naga society, nature, women's pain, aspirations and desires, and patriarchal hegemony's cruel treatment of women. Anusua Mukherjee compares the voice of the narrator to that of 'of an elderly town lady telling the stories, who has been

there and seen it all, and within the intelligence born of continuance, can smoothen the jagged edges of encounter within the wealthy surface of the embroidered artwork that's the stories she weaves.'[8]

Temsula Ao's third short story collection, titled '*The Tombstone in My Garden: Stories from Nagaland*' 2022), features five short stories, each unique and full of magical ramifications and reflections on Naga society.She published her autobiography, 'Once Upon a Life: Burnt Curry and Bloody Rags: A Memoir', in 2014. It is divided into three chapters and includes every aspect of her life. This autobiographical book portrays Naga society's customs, women's education, and their attempt to build a life amidst hurdles and challenges. This fictional narrative can act as an inspiration to any girl and woman in our culture.

4.1. Echoes of Marginalized Women's Voices in Temsula Ao's Short Stories : The first story in Temsula Ao's short story collection titled 'Laburnum for my Head' depicts the life of a brave Naga woman. The story presents a lovely image of how women can be empowered to handle various challenges in their lives, or how women can express their rights and play a role in society's progress by eliminating traditional patriarchy. The storyteller portrays the female character Lentina as a brave woman in the context of the narrative. When her husband's body was taken for burial after his death, Lentina wanted to go on the final journey, which was against the traditional rules of a society dominated by males.According to Naga tradition, all funeral arrangements were performed by men, and women did not attend the ceremony of burial. As a result, a woman's decision to give priority to her wishes under such circumstances was a brave and unusual decision for every Naga woman.

"Usually, it is men who take part in the last rites at the gravesite and stay on to supervise the erection of the temporary fence around the fresh grave. But when Lentina saw the group, including her son's and her own brothers, step out of the house behind the hearse, some impulse urged her to join them. Her words were met with silence, because no one was prepared to voice dissent at such a moment."[9]

In this story, the beautiful golden flowers of the laburnum tree represent womanhood. These flowers, with their heads down to the ground, appear to represent a subservient position that, at some point, resembles that of a woman; women in society appear to be exactly the same as these flowers.

"She had always admired these yellow flowers for what she thought was their femininity; they were not brazen like the gulmohars with their orange and dark pink blossoms. The way the laburnum flowers hung their heads earthward appealed to her because she attributed humility to the gesture."[10]

The story also portrays Naga society's family-centered concerns and the hard struggle of a woman until her death to fulfil her inner ambitions. After the death of Lentina's husband, the two daughters-in-law clashed

over funeral expenditures. So, Lentina built a cemetery with everything she would need after her death, such as a plot of land, and put her favourite yellow golden flowers in it. He paid for the cemetery land entirely on his own and did not want to depend on his sons and daughters-in-law in any manner. The following quoted lines clearly show a woman's strong mindset:

"Why are you all worked up about such a trivial matter? After all, I haven't spent anyone else's money. And another thing: you don't need to worry about any headstones for me. I want none."[11]

Her husband and children doubted her psychological wellness in her youth as she desired the yellow golden flower (Indian Laburnum), but no one could kill her inner longing. As a result, without having the help of any family members, she arranged for a plot of land on which to lay her body after her death and put yellow golden flowers in the grave before to her death. In fact, the story clearly shows that, if the willpower is strong, a woman can fulfill her desires and aspirations without relying on others even at the end of her life or after death.

"Lentina discontinued her visits to the cemetery because she was beginning to feel a fatigue that comes after sustained effort and achieving a long-cherished dream. How that plot of land came into her possession was still a mystery to her when all she had craved for was a spot to be buried where a laburnum tree would bloom every May. Ah, the laburnum tree!"[12]

In Temsula Ao's short story *Three Women*, from the collection *Laburnum for My Head*, the character of Medemlavividly exemplifies a poignant representation of the strength and autonomy of Naga women, who challenges traditional societal and patriarchal norms. Born from an illicit affairbetween her mother, Lipoktula, and a man named Merensachi, Medemla remains unaware to her true parentage. This ignorance leads Medemla falls in love with Merensachi's son, Imsutemjen, unaware that they are half-siblings, and plans to marry him. However, Lipoktula, knowing the fact, interferes to stop the marriage with the support of Merensachi. Medemla, unaware of the family secret, is confounded when Imsutemjen refuses to marry her, leading her to a moment of deep heartbreak. Instead of surrendering to the patriarchal dominations, Medemla chooses to live self-reliantly and raise her daughter, Martha, on her own, without the support of a male partner.

Medemla's decision to remain single, as reflected in her words : "They were shocked that I would do such a thing, especially in a case or two where they had tentatively given their consent to the boys' parents. When it became apparent to everyone, my parents included, that I was determined to remain single, they simply left me alone."[13]

By depicting Medemla as a independent woman, Temsula Ao highlights the empowerment that comes from rejecting patriarchal outlooks. Medemla's life without a male counterpart, raising her daughter on her own, symbolizes her disobedience of traditional roles that often

define women's worth through marriage or male approval. In this sense, Medemla's story becomes a powerful illustration of feminist ethics, advocating for women's autonomy, independence, and agency, all while challenging the gendered system of the society that seek to confine them.

Most of the short stories in Temsula Ao's short story collection, named *These Hills Called Home: Stories from A War Zone,* describe the problems faced by the native Naga tribes as a result of the invasion of militants as well as the unrest in Nagaland at that time. However, the character of Libeni in the story **'**The Last Song' reflects the hardships and struggles of a strong Naga woman.

After her husband's death, Libeni's relatives forced her to remarry so that she could live in the shadow of a man. Many believed that a woman could not raise her daughter alone. Therefore, for future security reasons, the widow Libeni was asked by her relatives to remarry, and they did not accept her decision to live alone with her children. As a single mother, Libeni found it difficult to complete all of the agricultural labour while caring for her nine-month-old child, but this was nothing new for her, and she refused the marriage proposal.

"Many of the relatives told her to get married again so that she and little Apenyo would have a man to protect and look after them."[14]

In addition to caring for the household, Libeni was in charge of earning the family's income by working in the agricultural fields. In fact, Libeni also had a reputation for hand sewing and weaving, and she manufactured and sold numerous clothing by hand to supplement her family's income.

"Libeni had the reputation of being one of the best weavers in the village and her shawls were in great demand."[15]

It is also worth noting that Temsula Ao's story 'The Jungle Major' depicts a heroic woman named Khatila. During the Naga uprising, Khatila boldly fought the Indian Army to protect her husband and villages from the Indian Army. In fact, the soldiers threatened Khatila with rape if she would not reveal the location of her husband. Khatila did not give up despite several threats, torture, and death. Khatila's character is a testament to women's brains and competence. Temsula Ao depicts women as a separate entity and the women of Naga tribal society as a whole through hardworking characters.

4.2. Illustrations of the sexual assault of women in Temsula Ao's literary works : Temsula Ao's short stories provide insight into how women become victims of sexual abuse throughout history in a male-dominated culture such as Naga tribal society. Her best-known short story, 'Three Women', depicts women's lives through three separate narratives focusing on three individuals. The plot revolves around three women named Martha, Medemla, and Lipoktula, who are diametrically opposed to one another but are linked by a natural bond. Medemla's adopted daughter and Lipoktula's grandchild is Martha. Lipoktula's identity represents the

life of an exploited and helpless woman. The protagonist of the narrative paints a clear image of how males take advantage of such women's vulnerability to sexually abuse them, as they do not have the courage to speak out against the wrong being done to them. After the marriage, Lipoktula's husband went out for work and was raped and sexually assaulted by a villager named Merensashi. She eventually accused Merensachi of this, but after she was raped twice for long lengths of time, she did not scream or yell for her release. Despite being a married woman with a husband, Lipoktula appeared to have often succumbed to Merensachi's violence, only to find happiness in enjoying the company of other men.

"When he rolled off me the second time, visibly spent, I grabbed my clothes and sprinted out of the hut and made a detour to the stream to wash myself thoroughly. It was when I was squatting in the water to wash out what he had poured into me that I realized what had happened to me. Though I started to blame the man, there was a recurrent question in my mind: why had I not resisted more vigorously, screamed or even scratched his face when he was groping for my sex?"[16]

She did not reveal what happened to her to anyone except her mother for fear of criticism or reproach. Lipoktula's mother did not openly protest the incident or advise her to keep the secret forever like an ordinary woman for her daughter's social status and family.

"…. in the end she said to me, 'You know, it is always wise for a woman to keep a part of the self all to herself and sometimes she has to choose between telling the truth which destroys, and living with a lie which may remain a secret forever'..."[17]

The sharing between Lipoktula and her mother, who lacks the confidence to speak out against the injustice being done to her, exemplifies the vulnerability of female mind. It is also worth noting that Lipoktula made no move to rescue herself from Merensachi's brutality because of her infirmities, and so, she did not disclose the incident to society or her husband.

4.3. Gender Discrimination and Identity Politics in Naga Society : Insights from Temsula Ao's Short Stories : Temsula Ao's fiction demonstrates how women are discriminated against in society due to cultural norms and rules of a society dominated by males. Her short story 'Three Women' illustrates both gender and class inequality. Through three separate stories about three different women, the story presents a picture of women's life. The story depicts the gender prejudice present in Ao Naga society well. The temperament of this deceased woman's husband exemplifies men's unhappiness at not having a male successor in a male-dominated culture. This definitely reflects an image of gender disparity:

"But when he learned the child was a girl, his entire demeanor changed. He stood up in a rage and railed against the nurses, the hospital and above all against a cruel God who had denied him a son. When asked

what he was going to do about the baby girl, he shot back, 'what will I do with another girl? Do whatever you want; I don't want to see her ever, she who has killed my wife."[18]

Temsula Ao's another short story, 'The Jungle Major', also deals with class and gender prejudice of the Naga society. The storyline describes class, gender and youthful love based on the social context of Nagaland. The story illustrates the fact that despite disparities in looks, beauty, work, education, economic level, and familial status, the two main protagonists of the novel, Punaba and Khatila, marry for romance. However, this is not an easy task in the Naga society. A significant aspect of the story is that Khatila has her own identity as a woman or girl, yet society defines her identity primarily with her physical appearance and the educational status of her family relatives.

Temsula Ao's writings also reflect the search for a distinct Naga identity. Her writings depict Indian military aggression on Naga territory. Temsula Ao's story 'The Last Song,' in which a mother and daughter were brutally raped and murdered by Indian soldiers, clearly reflects sexual abuse and violence events in the Nagaland. Temsula Ao's other literary works, such as 'The Night', 'The Curfew Man' and 'Soaba' show the political instability that infiltrated every stratum of Naga society. Similarly, in the story 'The Jungle Major,' the socioeconomic circumstances are classified in terms of community or class motifs.[19] If Temsula Ao's story 'The Jungle Major' attempts to depict how a village's geographical and social reality becomes trapped and placed in the dispute, her other story 'Shadows' illustrates how forests in a war zone become disarticulated of their environmental value.[20]

Similarly, in the story 'The Jungle Major', there is the classification of the social conditions in terms of motifs of community or class. If the story The Jungle major tries to write how the geographical and social world of a village gets caught and positioned in the contestation, her another story 'Shadows' highlights how forests in a war zone become disarticulated of their ecological significance.

5. Conclusion : The two findings based on the analysis of Temsula Ao's literary works are as follows :

1. Agency and Resilience of Women : Temsula Ao's literary works depicts the ethnic past of the indigenous Nagas, their life full of violence and terror, socio-economic and political aspects, the role of women in Naga society, the influence of British colonialism and the contemporary ethnic politics. Temsula Ao's literary works are easily attractive to readers because they are mostly concerned with the socio-cultural lives of the Naga subaltern history. As consequence, her books represent a form of 'history from marginalized.' Temsula Ao's literary fictions depict the most fascinating episodic of Naga women history.

2. Intersection of Fiction and Historical Reality : In spite of the fact that the short stories analyzed above are fictional stories written by

Temsula Ao, these literacy fictions have a sense of historical consciousness. In fact, Temsula Ao's short stories reflect the social and political distress in Nagaland since the 1950s. Her short stories record the history of Naga people, bringing out issues about how insurgency caused catastrophe, injury, and change in society for the Nagas. Her stories reflect violence against people regardless of sex, race, and social status and patriarchal systems that persecute women.Temsula Ao can be considered a frontier writer from Northeast India with a strong sense of subaltern history.

6. References

1. Elizabeth Vizovono, 'Gendered Violence: A Look at Northeast Women's Writing as Literary Interventions', The Creative launcher, Vol. 6, No. 3, 2021, pp. 27-33. https: //doi .org/ 10. 530 32/ TCL.2021.6.3.06
2. Kakoti, Priyanka, *Spatial Dimensions in Selected Fictions from Northeast Writing in English*, Ph.D. Thesis, Dibrugarh University, 2018, p.1
3. Kikon, Dolly. "Women at Work: The Gender, Culture and Customary Law Debate in Nagaland." In *Centrepiece: New Writing and Art from Northeast India*, Zubaan, edited by Parismita Singh, Zubaan, New Delhi, 2017, pp. 113-124
4. Goswami, Uddipana, *Conflicts and Reconciliation: The Politics of Ethnicity in Assam*, Taylor & Francis Group, London, 2014, p.1
5. Debnath, Suroshikha, "Understanding the Poetics of Resistance in Indigenous North East Writings in English with Reference to Select Authors and Poets." In *Indigenous Communities of North East India: Issues and Challenges*, edited by Mridusmita Mahanta and Dipyoti Deka, Olympia Prakashan, 2017, p.407
6. Elizabeth Vizovono, *op. cit*., p.29
7. Baruah Manjeet, 'Temsula Ao's Literary Representation of the Nagas: Motifs, Text and Representation', Indian Literature, Vol: July-August, 2023, p.162
8. Mukherjee, Anusua, 'Foregrounding the Feminine', Biblio: A Review of Books, Vol.15, No.5 & 6, May-June, 2010, p.14
9. Temsula Ao, *Laburnum for my Head*, Penguin India, New Delhi, 2009, p.4
10. Ibid., p.2
11. Ibid., p.11
12. Ibid., p.14
13. Ibid., p.67
14. Temsula Ao, *These Hills Called Home: Stories from a War Zone*, Zubaan, New Delhi, 2006, p.24
15. Ibid., p.24
16. Temsula Ao, *op. cit.*, 2009, p.74
17. Ibid., p. 75
18. Ibid., p. 68
19. Baruah, Manjeet, *op. cit.* 2023, p.166
20. Ibid, p.168

●

Evidence in the Ancient Indian Legal System

Dr. Basuki Nath Dubey[*], Swati[**]

ABSTRACT : The law of evidence plays a vital role in the judicial system by providing courts to pursuit justice. In India, its philosophical roots can be traced to the *Dharmashastric* texts, which upheld truth, impartiality, and fairness as the foundations of justice. Ancient works such as the *Manusmriti*, *Narada Smriti* and *Katyayana Smriti* laid down detailed rules on testimony, witness credibility, documentary proof, and even divine intervention in adjudication. With colonial rule, these traditions were replaced by codified laws, culminating in the Indian Evidence Act, 1872, which remains the cornerstone of evidentiary law in India.This paper examines the historical and conceptual evolution of the Indian law of evidence, tracing its journey from dharmic principles to statutory law. It explores the treatment of testimony, documentary and circumstantial evidence, and presumptions. The study shows that India's law of evidence is not merely a colonial legacy but an evolving system rooted in indigenous legal thought and adapted to serve justice.

KEY WORDS : Origin of evidence in law, Ancient modes of proof, documentary and oral evidence, burden of proof.

I. INTRODUCTION : The study of evidence in any legal system is fundamental because without a proper framework to determine truth, the law loses its meaning. The rules of evidence not only decide what can be presented before the court but also determine how justice is ultimately delivered. In ancient India, evidence held a central place in legal proceedings, and society developed mechanisms to ensure that truth was discovered and disputes were resolved fairly. In this system, justice was tied to dharma and the legitimacy of judgment depended upon reliable proof that the court could accept.[1] The ancient Indian jurists devoted great attention to who could testify, what could be produced as documentary proof, how possession functioned as a title, and what should be done when ordinary methods failed. The predominant method was straightforward, but hard. The rule was trial by evidence and the exception was ordeal situation where the disagreement could not be resolved by human evidence.[2] This two-fold system demonstrates that the Indian law was both pragmatic and spiritual enough to hang on material facts but at the same time spiritual enough to invoke divine action when human reason failed. Evidence studying of the ancient Indian legal system can also be used to understand how a complex society thought of truth without modern forensic science.

* Assistant Professor-- Law Centre-1, Faculty of Law, University of Delhi
** Research Scholar-- Faculty of Law, University of Delhi

The rules were considered to evaluate the credibility of the witnesses, evaluate documents, and weigh circumstantial facts in the absence of direct testimony.[3]

This research also examines how ancient Indian evidentiary rules compare with modern principles. When the British codified the Indian Evidence Act in 1872, they brought in uniformity and modern methods, but they were not writing on a blank slate. The long history of Indian evidentiary thought had already recognized the importance of proof, credibility, and fairness.[4] In this research paper, the researcher will examine the concept and practice of evidence in ancient India, the sources of proof, the standards for evaluating them, the role of judges and assessors, and the connection between truth and punishment.[5]

II. CLASSIFICATIONS AND JUDICIAL PROCEDURES AND EVALUATION OF EVIDENCE IN THE ANCIENT INDIA : The law of evidence in ancient India was not a haphazard piece of work, it was constructed based on precise categories that sought to provide assurance and equality in the verdict. The classical jurists, Manu, Yajnavalkya, Narada, and subsequent commentators, such as Katyayana and Brihaspati, all paid much attention to the question of what could be taken as evidence and weighing it.

a) Witness Testimony (Sansin): The most prominent form of evidence in ancient India was the testimony of witnesses. Witnesses are the eyes of justice. Manu and other lawmakers repeatedly emphasized that disputes could rarely be resolved without the word of people who had direct knowledge of the facts. Thus, witnesses were considered the "eyes and ears" of the court, and their role was indispensable. A valid witness had to meet certain qualifications. He must be impartial, of good character, not hostile to either party, and socially competent. False witnesses were regarded as committing a grave sin, and their perjury attracted both legal punishment and religious condemnation.[6]

There were apta-sakcin (trustworthy witnesses), whose testimony carried great weight, and anapta-sakcin (unreliable witnesses), who could only testify under suspicion or corroboration. Interestingly, women and children were often excluded from giving evidence in serious matters, though some texts allowed their testimony in disputes concerning family or property within the household. This exclusion reflected the patriarchal nature of society, but at the same time, the law acknowledged the practical necessity of calling whoever had actual knowledge in certain cases.[7]

Cross-examination was also recognized, though not in the modern sense. The judge was expected to test the credibility of the witness by asking probing questions, observing demeanor, and comparing statements with known facts.

b) Documentary Evidence (Lekhya) : Another column of evidence was the documentary evidence together with the oral test. What has been written is mightier than what has been said. Written documents, contracts, and deeds possessed great authority particularly when it is concerned with a property dispute, a debt or a contract. Both manuscripts, Manusmriti and Yajnavalkya Smriti and Narada Smriti emphasize that documents with signatures of parties and witnesses were credible types of evidence. The script was specifically highlighted by the fact that it had a seal or a signature which made it authentic.[8]

Katyayana rules of documentary proof also provided the rules of preservation, renewal and challenge. As an example, a document might lack validity when it was too old and was not confirmed, or when it had evidence of alteration. Therefore, the written evidence was said to be more permanent and less subject to human error as compared to witnesses.

c) Circumstantial and Material Evidence : Though less developed than in modern jurisprudence, ancient Indian law did recognize the importance of circumstantial evidence. In cases where direct proof was absent, courts relied on surrounding circumstances, conduct of the parties, and material facts that pointed towards guilt or innocence. For example, possession of stolen property soon after a theft was a strong indicator of culpability. Similarly, sudden enrichment without explanation or suspicious conduct at the scene of a crime could be taken into account.[9]

Material evidence, such as physical objects connected to the dispute, was sometimes referred to indirectly in texts. The Indian system did not develop an elaborate forensic science, but it did show awareness of physical indicators. For example, in boundary disputes, physical landmarks and measurements served as evidence. In cases of assault, visible injuries or marks on the body were considered relevant. The principle was clear 'when human testimony was unavailable, the facts themselves could speak through material indicators'.

d) Ordeals (Divya) : One of the most controversial features of ancient Indian evidence law was the use of ordeals (divya). These were tests invoking divine intervention to reveal truth when human means were insufficient. The underlying belief was that the gods would not allow an innocent person to suffer harm during the ordeal, while the guilty would inevitably be exposed.[10]

There were nine main types of ordeals described in the Smritis and later texts- the balance, fire, water, poison, sacred libation, rice grains, heated gold, ploughshare, and lot. Each was regulated by ritual, time, and place. For example, the ordeal of balance involved weighing the accused twice, and if he was lighter the second time, he was considered innocent. The fire ordeal required carrying a red-hot iron ball without injury, while

the water ordeal demanded immersion until an arrow was retrieved.[11]

While modern readers may view this as superstition, ordeals served two practical purposes:-

a) They resolved disputes where human testimony was unavailable or unreliable.

b) They provided psychological closure, as both parties accepted the outcome as final.

Moreover, they were not applied indiscriminately. Texts prescribed rules limiting their use, such as considering the physical ability of the accused and the season of the year. The ordeal system reveals the willingness of ancient courts to blend rationality with spiritual faith in the search for truth.[12]

e) Oaths and Affirmations : Most similar to ordeals were oaths. Witnesses had to take oaths before testifying as often as they were to swear by deities, sacred objects, or moral obligations. It was believed that they would tell the truth in fear of retribution by the Deity. Oaths were also looked upon and the transgression was thought to bring bad fortune not only in the present life but also in the future rebirths. There was also a certain flexibility of the system of oaths. As an illustration, in cases where an individual was uncertain over his word, he would be required to take an oath of office to confirm his words.

Similarly, in property disputes, parties were sometimes required to swear to the legitimacy of their claims. Oaths thus worked both as psychological deterrents against lying and as supplemental proof when other evidence was weak.

f) Presumptions and Burden of Proof : The examination of witnesses followed recognizable principles. The judge had the power to question witnesses directly. The Yajnavalkya Smriti prescribes that witnesses be examined separately to prevent collusion. Further, their statements were to be recorded in the presence of both parties to ensure fairness.[13] Cross-examination took the form of probing questions designed to test memory, consistency, and motive. Ancient jurists advised judges to compare testimony with the known conduct of the parties. For example, if a witness testified to the generosity of a notoriously miserly man, the court was instructed to treat such testimony with suspicion.

Ancient Indian texts developed nuanced standards of proof depending on the seriousness of the case. Civil disputes like debt recovery often required a lower standard, usually credible witnesses or a valid document sufficed. In criminal cases, especially those involving severe punishment, stricter proof was required. Manu insists that a judge should not convict a person of a grave offence without overwhelming and corroborated evidence.[14] In some instances, circumstantial evidence combined with

strong presumptions was sufficient. For example, possession of stolen goods was nearly conclusive unless the accused could provide an alternative explanation.

g) Ethical Legacy and Modern Reform in Indian Evidence Law : The colonial codification of Indian evidence law in the form of the Indian Evidence Act, 1872, marked a decisive shift from the traditional system to a modern, rational-legal framework. The Act was prepared by Sir James Fitzjames Stephen and it was founded on English common law principles and aimed at unifying the principles of admissibility, burden of proof and presumption. This way it distanced itself with the religious and moral principles of the ancient Indian practice. These aspects of focus on truth, moral duty of witnesses and acknowledgement of presumption in property lawsuits are extensions of older traditions.[15]

In modernist discussion, it is gaining more acceptance that the law cannot be separated out of morality. Misrepresentation of evidence, false testifying, and fabricated documents still are the problems of Indian courts.[16]

III. STATUTORY PROVISIONS REFLECTING ANCIENT INDIAN TRADITIONS:

- **Section 32 of Indian Evidence Act[17] (Dying Declaration)**

This provision, admitting statements made by a person on the verge of death, carries a moral echo of Antim Satya, i.e., the belief that one's final words are free from deceit. Ancient Indian society regarded truth as a divine principle (Satya Dharma), and the modern recognition of dying declarations reflects a continuation of that faith in the sanctity of truthful speech at life's end.

- **Section 60 of Indian Evidence Act[18] (Oral Evidence to be Direct)**

The requirement that oral evidence must be direct echoes the Satya-vakya principle of ancient Indian jurisprudence, where truth in speech was considered a sacred duty. The focus on personal observation as the basis for testimony aligns with the moral weight ancient texts placed upon honest witnesses (Sakcin) and their divine obligation to speak the truth.

- **Sections 101-104 of Indian Evidence Act[19] (Burden of Proof)**

These sections represent the doctrine of Pramana-bhara, i.e. the onus of proving the fact is placed on the claimant. Manu and Yajnavalkya, the ancient Indian jurists, made it clear that he who asserts must prove. The codified response to this entails maintaining this rational fairness whereby responsibility and accountability of generating evidence is central to judicial adjudication.

- **Section 114 of Indian Evidence Act[20] (Presumptions of Fact)**

This provision empowers the courts to make assumptions regarding

some facts depending on human behavior and natural likelihood. It is a reflection of the old dependency on Vyavaharika Nyaya, i.e., the practical argument on experience. Similarly to the judgments of ancient jurors who determined whether an individual was guilty or not based on behavior and situation, the present day law also takes into consideration the possibilities of the inference that can lead a judicial decision in cases when no direct evidence is present.

IV. JUDICIAL RECOGNITION OF EVIDENTIARY PRINCIPLES - CASE LAW PERSPECTIVE :

- **State of Gujarat v. Shyamlal Mohanlal Choksi**[21]

In this case, the Supreme Court brought to light that the law of evidence should maintain a balance between safeguarding the accused and upholding of morality in society. The ruling reflected the traditional Hindu teaching that truth (satya) is the most important, and resembled ancient Hindu regulations on testimony in the Dharmashastra.

- **Maneka Gandhi v. Union of India**[22]

In this landmark case, the Court broadened the definition of the procedure that is formed by law and introduced fairness, reasonableness, and non-arbitrariness. This is indicative of the Indian vision of Nyaya in which justice has to be both substantive and procedural. The demands that all legal measures should be directed by equity echoes ancient teachings that equated law with righteousness (Dharma) and not formal legality.

- **State of Bihar v. Murad Ali Khan**[23]

The Supreme Court emphasized the fact that safeguarding of collective interest and the fulfillment of moral responsibility are pillars on which justice is administered. The logic of the Court made some comparisons with Dharma, stating that law is not a technical mechanism but a moral institution which is meant to maintain social balance. This is quite similar to the ancient Indian principles whereby evidence (Pramana) was closely related to moral behavior and the role of the State to promote justice.

- **Arnesh Kumar v. State of Bihar**[24]

The Supreme Court had warned against the automatic arrests in cases covered by Section 498A IPC in which the evidence must be subjected to scrutiny before a person is denied liberty. This is reminiscent of the old evidentiary moderation according to which judges were directed to judge the evidence prudently (Yukti) and to be sparing of punishment. The decision brings about continuity of ancient caution in judgment and contemporary procedural protection.

V. CONCLUSION : The study of evidence in the ancient Indian legal system reveals that the law of evidence was not just a code of technical rules but was always inseparably connected with ethics, morality and

religion. Truth was considered the supreme virtue and the whole organization of the practice of evidence since witness testimony and the ordeals was aimed at protecting the truth. The system was not only focused on dispute resolution but also on the maintenance of dharma which was the greater order of justice and righteousness that regulated society. In this regard ancient India was more of an approach to evidence as a moral act, unlike many other traditions of the ancient world.

Meanwhile, there was nothing flawless about the system. The dependence on caste, gender, and social hierarchies in the credibility of witnesses had inequalities that contrast with the contemporary equality before law. In the same manner, the ordeals, though they had a religious implication, were not rational and could end in unfair results. Such restrictions were an expression of the social and cultural circumstances of their era although they also suggests to us that all systems of law are changing with the society. The evidence law of ancient India should thus be seen as a factor of its era and as a source of the roots of legal knowledge of the present day.

Evidence in the ancient Indian legal system was not just an instrument of adjudication but it was an expression of the world view of a certain civilization. It combined philosophy, morality and law in a manner that was uncommon with other systems. Considering it now, we are user to the fact that law is not simply about rules and procedures, but also about values and ethics. The value of truth and dharma in ancient India ever remains relevant in the current study of law, and would provide eternal guidance and advice on how to achieve justice.

Footnotes

1. J. D. M. Derrett, Religion, Law and the State in India (Faber & Faber, 1968) at 251-272.
2. Dr. P. V. Kane, History of Dharmasastra, Vol. III (Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1973) at 389-401.
3. Robert Lingat, The Classical Law of India (Berkeley: University of California Press, 1973) at 137-146.
4. Dr. Werner Menski, Hindu Law: Beyond Tradition and Modernity (Oxford University Press, 2003) at 72-83.
5. Patrick O livelle, The Dharmasutras: The Law Codes of Ancient India (Oxford University Press, 1999) General Introduction, at xv-xxiii.
6. Dr. P. V. Kane, History of Dharmasastra, Vol. III (Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1973) at 407-420.
7. Robert Lingat
   - The Classical Law of India (Berkeley: University of California Press, 1973) at 151-160.

8. Dr. L.M. Singhvi, Evolution of Indian Judiciary: Examining the Development of India's Legal System (Prabhat Prakashan; 1st Edition, 2016) at 235-249.
9. Patrick Olivel le, The Dharmasutras: The Law Codes of Ancient India (Oxford University Press, 1999) at 233-240.
10. A. S. Altekar, State and Government in Ancient India (Motilal Banarsidass, 2016) at 301-312.
11. Dr. Werner Menski, Hindu Law: Beyond Tradition and Modernity (Oxford University Press, 2003) at 96-105.
12. Dr. Werner Menski, Hindu Law: Beyond Tradition and Modernity (Oxford University Press, 2003) at 84–91.
13. Patrick Olivelle, The Dharmasutras: The Law Codes of Ancient India (Oxford University Press, 1999) at 245-250.
14. A. S. Altekar, State and Government in Ancient India (Motilal Banarsidass, 2016) at 318-327.
15. J. D. M. Derrett, Essays in Classical and Modern Hindu Law, Vol. I (Leiden B.J. Brill, 1976) at 187-194.
16. Upendra Baxi, The Crisis of the Indian Legal System (Vi kas Publishing, 1982) at 267-272.
17. The Indian Evidence Act, 1872 (Act 1 of 1872), s.32.
18. The Indian Evidence Act, 1872 (Act 1 of 1872), s.60.
19. The Indian Evidence Act, 1872 (Act 1 of 1872), s. 101-104.
20. The Indian Evidence Act, 1872 (Act 1 of 1872), s.114.
21. AIR (1965) SC 1251.
22. (1978) 1 SCC 248.
23. (1988) 4 SCC 655.
24. (2014) 8 SCC 273.

●

The Entry of the British Raj in Assam : A Brief History

Dr. Luish Gogoi*

Abstract : This paper explores the historical convulsions surrounding the entry of the British East India Company into Assam during the early half of 19th century, shedding light on the significant impact on the socio-economic, political and cultural scenario of the state. The beginning of the colonial rule in Assam in the early 1800s was a turning point that reshaped the state's overall infrastructure. Before this, Assam was home to various independent kingdoms and each kingdom had its own ruler and cultural heritage. Treaty of Yandaboo in the year 1826 that ended the First Anglo-Burmese War, made the British entered Assam easily after exploiting the political turmoil between the Ahom and Burmese rulers, which brought Assam under British control. However, their primary motivation was not merely political but rooted in economic expansion and desire to dominate key trade routes. The abundant natural resources like tea, wood and silk of Assam caught the company's attention. They primarily aimed to use these precious resources and boost trade to increase their profit. Despite facing resistance from the long-ruling Ahom dynasty, internal conflicts and war weakened local opposition, allowing the British East India Company to consolidate control over Assam. The Company's rule brought big changes to the socio-economic scenario of Assam. They made the layout of tea plantations and promoted infrastructure development. The introduction of railways communication focused basically on facilitating the extraction of resources from the state. Some economic growth of the state was catching though; this led to deep adversity in Assam's cultural and political aspects and consequently setting the stage for increased colonial control in the future.

Keywords : British, East India Company, Assam, Treaty of Yandaboo, Trade, Socio-economic transformation, Cultural Impact.

Introduction : In the early 19th century, imperial policies of the British entered to Assam and marked a new era in the history of north eastern part of the sub-continent. As the state possessed rich bio-diversity and diverse cultural ethnicities, the economic aspirations and trade dominance was the primary concern of the Company vis a vis the British. The treaty of Yandaboo, signed in 1826, set the platform to take over Assam to their surveillance and it leveraged to end the First Anglo-Burmese War officially. This treaty paves the way for Assam from a self governing state

* Assistant Professor- Department of Assamese, Kaliabor College, Kuwaritol Nagaon, Assam, India

to being under foreign control. However, many challenges occurred from the Ahom kingdom for the British officials which had been ruling in Assam for centuries. The Ahom rulers tried to fight back against British colonial power at the very initial stage. But several conflicts were existing among the indigenous residents of Assam along with the war tensions and atrocities with Burma. This weakened the resistance and opposition of local Assamese people for colonial power. Thus the situation provided a golden opportunity for the British to bargain, making it easier for them to take charge of the state. The arrival of the British into Assam significantly shaped the state's history. This period deregulated the equilibrium in the system and left a multifaceted imprint on the people and the region. As a result that brought advancements and setbacks as well as new possibilities and difficulties. The effects of this time continue to influence the lands cape and culture of Assam which still align with the lasting significant consequences of those eventful years. Thus, this research paper primarily wants to bring forth two concerned objectives that have been set to focus on the role played by the British in the growth, development as well as economic drain of the state. The first one keeps the aim to examine the historical contexts surrounding the entry of the British in the land of Assam during 19th century and second one delves to explore the dynamics of the First Anglo-Burmese war and the Treaty of Yandaboo along with its implications in Assam. The methodology used to write the paper is primarily secondary sources which comprised library visits, articles, journals and different archival sources.

The research is principally concerned to the present political state of Assam. The state was always a treasure with plenty of fertile land. The Brahmaputra River nourished its fertile plains making it ideal for farming. The state's tea, silk and wood were highly prized which made it a tempting target for trade and economic growth. The early contact with Europeans, including the British East India Company was made possible only by the extensive river network of Assam. Rich in bountiful natural resources, Assam proved irresistible to the Company's expansion motto which sparked a desire of intense economic interest in them. With an intension of profit, the company swiftly established sprawling tea plantations across the state's fertile hills. They further recognized the need for efficient transport as a result of which the Company embarked one efficient infrastructure projects, laying down an intricate network of railways that made its way through the country side. However, these developments were not merely about convenience while in reality these developments were calculated moves of the company to streamline the extraction of Assam's natural wealth and facilitate swift trade. This economic exploitation for facilitating the company's interest had severe implications in both social and cultural

context in the state of Assam. The Company's presence seeped into the very cultural bedrock of Assam, altering age-old customs and reshaping identities. Most significantly, this historical turning point marked a huge change in the state's power dynamics also cal autonomy which was once taken for granted began to decline as the Company's influence aroused. The political landscape was altered, with new ruling pattern and new rules fundamentally altering the scenario.

The Treaty of Yandaoo in 1826 and its different implications : The arrival of British in Assam was initially prompted by an invitation from the ruling authority, seeking protection from Burmese aggression. Later this request, however, soon became entangled with territorial disputes and the British East India Company's concerns over the expanding power of Burma. The Burmese attempt to put forward control over Assam further exacerbated tensions, intensifying British unease. As the conflict accelerated, it led to fierce battles across various regions, including Assam of present-day. The war was marked by tough battles and clever military moves in Assam and elsewhere. The outcome of the war shaped not just the future of Assam, but the whole region also. The 1826 Treaty of Yandaboo was a turning point in Southeast Asian history, which ended the first Anglo Burmese war, basically for malaise the annexation of Assam by the British East India Company. This agreement did reshape the boundaries of the region shifting the balance of political power, which eventually evolved after a long struggle between the British and Burmese forces. As a result of territorial disputes and British concerns over Burmese expansion, the first Anglo-Burmese war lasted two years from 1824 to 1826. The Treaty was negotiated near the village of Yandaboo situated on the bank of Kartowa River, marked a turning point for the Burmese Empire. This treaty compelled Burmato put an end to the state of power in the territories of Assam, Manipur and Arakan giving authority to the British East India Company that marked the formal annexation of Assam into British India. The desire of the East India Company was keen towards Assam mainly due to great potential in its natural wealth and presented lucrative opportunities for economic expansion and trade dominance. The Yandaboo treaty drafted territorial boundaries newly and it provided the British with a legal framework to assert control over the region through the entry of the British with a legal framework to assert control over the region through the entry of the British East India Company into Assam. The first economic policy of the British was to set up plantations, especially in the form of tea soon after the agreement, which consequently turned Assam into an important part of the worldwide tea business. The Yandaboo treaty represented a crucial forefront geopolitical force in history that converted reshaping South East Asian region and leaving an indelible mark on Assam's destiny. The

foundation of the critical colonial legacy was laid through the annexation and subsequent economic exploitation.

The dynamic of the first Anglo-Burmese war that led to the Yandaboo treaty, had comprehensive implications for Assam and drastically altered the political landscape of the region. During a power struggle, the indigenous population always had to undergo severe sufferings. As a result the powerful mass fought for their power building where as the ordinary mass was fighting for their basic survival. The treaty weakened resistance for foreign rule by the residents. The Ahom dynasty was fighting against the British to creating a political vaccum, but they failed in attempt due to poor local support. Internal conflicts and external pressures facilitate the East India Company's dominance and varied the power dynamics within Assam. Thus, the dynamics of the first Anglo-Burmese war and the subsequent Yandaboo Treaty not only reshaped borders but left profound implications for Assam also.

Challenges and Resistance : The arrival of East India Company into Assam during the early 19th century was met with intimidating challenges and local resistance. After many decades of long reign, the Ahom dynasty resisted British expansion in the early years of British annexation of the land. The Ahoms, with a significant historical presence and a well-organized administration, provided a substantial challenge to the East India Company's expansion is ambitions. The Ahoms and other local leaders fought foreign influence, protecting their autonomy and history against outside pressures, despite internal struggle within Assam. However, the series of Burmese invasions in Assam and British-Burmese was primarily restricted between the two Empires; its consequences diminished the local resistance in Assam. Moreover, as the internal conflicts and external pressures disturbed political stability in Assam and resulted in a power imbalance by which East India Company attempted to explore it. When the Yandaboo Treaty was signed in 1826 caused Burma to surrender Assam territory to British, it revealed a negative effect on the local ruling authority, and exposed local governments' vulnerability in the face of colonial invasion. With the aid of the failures of the Ahom dynasty and other local resistance, the annexation allowed the British East India Company to establish its headquarters in Assam.

Economic Exploitation : Abundance of natural wealth dueled in the interest to the British and one of the key components of the colonial agenda became economic exploitation in the region of Assam. This economic turmoil had far-reaching and long-term ram factions for Assam's socio-economic framework. As the plains along the Brahmaputra River are fertile enough, that provided an ideal environment for agricultural activities. Assam's green landscapes with rich woodlands, climate-friendly farming

methods and good soil for agriculture made the British greedy for many of the resources that distinguished Assam from others. The British wasted not much time in utilizing Assam's resources and wealth and soon plantations were developed, resulting in a dramatic shift in the utilization of land and economic activity. These plantations focused on tea, timber and silk, then three main commodities. The colonial administrators initiated large-scale production to meet global demand recognizing Assam's ideal climate and soil for tea cultivation. The plantation of tea plants not only revolutionized landscape in some way, but provided foundation for the Assam's emergence as a major global tea producer also, proceeding in this direction, they started to focus on the vast forest lands of Assam enriched with an infinite number of timber resources. The company exploited these forests for timber after fulfilling the growing demand for wood within the colonial economy. Timber extraction became a profitable venture and contributed significantly to the British economic agenda in Assam. Another noteworthy economic achievement was their involvement in Assam's long-established silk industry that stretched the East India Company out to seek exploiting for profit making business. Therefore, they established silk-producing enterprises that aimed to serve both domestic and foreign markets. The silk industry became a crucial component of the larger economic exploitation agenda. Hence, economic exploitation in Assam had approbatory social and environmental implications. The land tenure setup and labour practices resulted in changing scenario due to introduction of plantations that transformed the agrarian landscape. The introduction of cash crops such as tea changed the traditional means of livelihood. Although the economic activities of East India Company provided way to wealth for some, the social disparity and disturbed traditional ways of living were worsened distinctly. The legacy of this type of economic exploitation continues to define economic framework of the state and social dynamics, demonstrating the long-term impact of colonial epoch on the development needed for the region.

Long-term consequences : The arrival of the British into Assam in the early part of 19^{th} century left a trace that lasted far beyond its initial influence. The economic, political and cultural consequences of these developments persisted over time, influencing every phase of the state's evolution, with both positive and negative effects.

- In economic ground, the exploitation started by the colonial power established the basis for integration of Assam into the global trading network. The establishment of the tea, timber and silk industries became long-lasting pillars of the economy of the state, significantly contributing to its growth. The long-term consequences upn Assam was its growth as an important part in global market for these commodities. The pattern of land

use changed and cash crops were introduced, which had a significant impact on land tenure systems and traditional social structures. Plantations caused modifications to agriculture, altering the traditional agrarian setting and affecting local communities. These changes had wide-ranging social and economic consequences for Assam.

● The annexation of Assam by the East India Company, followed by British rule, initiated a political shift that lasted for decades. The administrative bodies established during colonial administration had a long-term impact on Assam's political framework, shaping the state's governance even after independence.

● Under colonial rule, Assam's cultural structure underwent significant transformation. During the East India Company's administration, indigenous traditions interacted with external influences, lying the groundwork for a distinct cultural identity. This convergence of forces shaped the complex and resilient cultural landscape of modern day Assam.

● The East India Company's entry into Assam was not only a historical event, but it also laid the ground work for future colonial ventures in the Indian sub continent.

Conclusion : The acquisition of Assam by the British East India Company was part of a bigger plan to strengthen British imperial power on South Asia. The accomplished is Assam boosted British confidence and helped strengthen their power in the Indian subcontinent. The East Indian Company's successful intrusion into Assam established a trend inspiring other European countries to explore and exploit the region for commercial and socio-political gain. The extraction of resources for commercial benefit became prevalent approach used by colonial nations throughout the world. In a nutshell the East India Company's invasion into Assam had far-reaching and long-lasting consequences transforming the territory's economic, political and cultural landscape for future generations. Furthermore, it played an important role in the greater history of British rule in South Asia which had extended up to the eastern most of the sub-continent. Politically, the dominance of East India Company changed and modified the traditional ruling pattern and loses support by the local residents which further led to the decline of the Ahom dynasty. The imposition of colonial rule laid the foundation of new admin is trativetructures which is still observed in the state. In the cultural sphere, the period of colonial power witnessed an amalgamation of diverse influences which shaped a hybrid identity in Assam. In the religious sphere, Christianity surpassed all the regional belief structures of the ethnic community. Although the state retained elements of its rich cultural heritage, the foreign rule introduced new dynamics that is still prevalent in

defining the cultural landscape of Assam.

The entry of the British colonial power into Assam showcased the inter connectedness of economic interests, political expansion and cultural transformations emphasizing the enduring impact of colonialism on the state's existing conditions. Understanding and analyzing the history of the state's colonial period is crucial for comprehending the complexities that characterizes the contemporary era of Assam.

Bibliography :

- Barua, S. (1990): *A comprehensive History of Assam* (pp.45-78). Munshiram Manoharlal publishers.
- Bhuyan, S.K. (1937): *The Genesis of British India: A study in Provincial Administration* (Vol. 1, pp. 102-125).
- Brown, G. (1874): *Statistical Account of Assam* (pp. 112-135). Trubner & Company.
- Butler, J. (1848): *Travels and Adventures in Province of Assam* (pp. 34-55). Smith Elder and Company.
- Chaube, S.P. (1975): *Hill Politics in Northeast India* (pp. 65-82). Vikas Publishing House.
- Choudhury, G. (1975): *Trade and Commerce in the Ancient World*. Firma KLM., Private Ltd.
- Gait, E. A. (1906): *A History of Assam* (pp. 78-95). Thacker, Spink & Co.
- Goswami, U. (1998): *Assam's Trade in the Post-Gupta and Early Medieval Period* (pp. 88-105). Vikas Publishing House.
- Goswami, U. (2003): *Assam's History and its Graphics* (pp. 89-104). Vikas Publishing House.
- Holcombe, C. (1988): *A History of East Asia: From the Origins of Civilization to the Twenty First Century* (pp. 234-255).
- Imperial Gazetter of India (1908): *Assam Province* (pp. 265-290).
- Kakati, B. (1995): *Aspects of Historical geography of Assam* (pp. 76-93). Mittal Publications.
- McLane, J.R. (1969): "Indian Civil Business in the Late Eighteenth Century: Economic War fare and the' Process of Civilization". *The Journal of Asian Studies,* 28(2), 235-252.
- Phukan, J.N. (1975): *Assam-Burma Relations in the 19th Century* (pp. 40-57).
- Sharma, A.K. (2004): *British Relations with the Hill Tribes of Assam in the 19th Century* (pp. 112-130).
- Talukdar, S.P. (1979): *British Relations with the Hill Tribes of Assam, 1824-1858*. (pp. 78-91). Firma KLM Private Ltd.

●

Environmental Degradation and Socio-Economic Impact of Tehri Dam Lake : Challenges and Conservation Strategies

Dr. Sharad Kumar Tripathi*

Abstract : The establishment of the Tehri Dam Lake in Uttarakhand, India, has resulted in considerable environmental deterioration and socio-economic repercussions for the local community. This study investigates the diverse forms of environmental degradation resulting from the dam, encompassing deforestation, habitat destruction, seismic hazards, water quality decline, and impacts of climate change. The displacement of numerous individuals has led to the loss of livelihoods, cultural legacy, and socio-economic instability. Furthermore, the reservoir has led to landslides, soil erosion, and heightened pollution levels, adversely impacting biodiversity and agricultural output.

Not with standing these problems, numerous conservation techniques have been enacted, including afforestation initiatives, sediment control, and sustainable water utilization policies. Nonetheless, the adverse effects on local populations endure, encompassing the erosion of traditional livelihoods, psychological anguish, and insufficient rehabilitation efforts. This study underscores the pressing necessity for sustainable environmental regulations, enhanced rehabilitation frameworks, and environmentally conscious conservation initiatives to alleviate the long-term impacts of the Tehri Dam Lake.

Key Words : Tehri Dam Lake, Environmental Degradation, Socio-Economic Impact, Deforestation, Habitat Loss, Seismic Risks, Water Quality Deterioration, Climate Change, Landslides, Soil Erosion

Introduction : Extensive hydropower initiatives are frequently perceived as emblems of advancement, enhancing energy security and fostering economic development. Nonetheless, they present considerable environmental and socio-economic concerns, especially in ecologically sensitive areas. The Tehri Dam, one of India's tallest dams, is situated on the Bhagirathi River in Uttarakhand. The dam has been essential for hydroelectric power generation, irrigation, and flood control; nonetheless, its long-term environmental and socioeconomic consequences are a matter of concern.

The creation of the Tehri Dam Lake has resulted in significant environmental deterioration, encompassing deforestation, habitat destruction, seismic hazards, soil erosion, and water contamination. The

* Assistant Professor– Department of Geography, Government Postgraduate College Laksar, Haridwar, Uttarakhand

displacement of numerous local populations has resulted in significant socio-economic instability, impacting traditional livelihoods, cultural heritage, and overall well-being. The depletion of arable land, insufficient rehabilitation efforts, and heightened natural disaster risks have intensified the difficulties encountered by the impacted people.

In response to these challenges, many conservation techniques have been enacted to alleviate environmental degradation, encompassing afforestation initiatives, sediment control, and sustainable water resource management policies. Nonetheless, such initiatives have proven inadequate in alleviating the ongoing socio-economic difficulties faced by displaced communities.

This study is to examine the forms of environmental deterioration resulting from the Tehri Dam Lake, assess its socio-economic impacts, and evaluate the efficacy of current conservation initiatives. The article examines potential policy interventions that can enhance sustainable environmental management while assuring improved rehabilitation and livelihood restoration for impacted people.

Chronology and Fabrication of Tehri Dam : The Tehri Dam, situated on the Bhagirathi River in Uttarakhand, India, is among the highest dams globally, with a height of 260.5 meters. The proposal to construct a dam at Tehri originated in the 1960s, accompanied by feasibility studies undertaken by the Central Water Commission (CWC). The project received formal approval in 1972; nevertheless, its construction encountered multiple delays attributed to environmental issues, budgetary limitations, and opposition from local people.

The dam's construction commenced in 1978 under the oversight of the Tehri Hydro Development Corporation (THDC). It received funding from the Government of India and foreign financial institutions, including the World Bank. In 1990, the World Bank retracted its assistance owing to escalating environmental and societal apprehensions, particularly regarding the dam's placement in a seismically active region.

Notwithstanding these obstacles, building recommenced with domestic financing, culminating in the dam's completion in 2006. The dam's reservoir, termed the Tehri Reservoir, spans roughly 42 square kilometers and possesses a storage capacity of 2.6 billion cubic meters. The dam produces 1,000 MW of hydroelectric power, possesses supplementary pumped storage capacity, and supplies agricultural and potable water to multiple northern Indian states.

The construction of the Tehri Dam resulted in the inundation of Tehri town and several villages, displacing more than 100,000 individuals. This displacement incited extensive demonstrations, spearheaded by environmentalists like Sunderlal Bahuguna, who contended that the project

would inflict lasting ecological harm and societal disruption. The project encountered criticism for its potential to induce earthquakes because to the substantial weight of the reservoir in a geologically unstable area.

Notwithstanding these obstacles, the Tehri Dam remains a notable engineering achievement, enhancing India's electricity infrastructure, however its environmental and socio-economic repercussions are still subjects of contention.

Categories of Issues Arising from the Tehri Dam Construction Affecting the Environment and Local Populations :

Categories of Environmental Issues

1. Deforestation and Habitat Degradation : The construction of the Tehri Dam has resulted in significant deforestation and habitat destruction in the ecologically delicate Himalayan region. The establishment of the Tehri Reservoir, spanning roughly 42 square kilometers, led to the inundation of extensive areas of forested terrain, abundant in biodiversity.

This region's forests housed diverse flora and animals, including uncommon and endangered species. The extensive deforestation not only obliterated wildlife habitats but also upset the fragile ecological equilibrium of the region. The deforestation has compelled species such as leopards, bears, deer, and many avian species to relocate, resulting in population reduction and heightened human-wildlife conflict.

The reduction of forest cover has directly affected the local climate, leading to heightened soil erosion, landslides, and diminished groundwater recharge. Forests are essential for preserving soil stability, and their destruction has increased the region's susceptibility to natural disasters such as landslides, particularly during the monsoon season.

The displacement of forest-dependent communities, including tribal groups and villages reliant on the forest for their subsistence, exacerbated socio-economic issues. These populations relied on the forests for fuelwood, fodder, medicinal plants, and food resources, all of which were eradicated owing to the inundation produced by the dam.

Initiatives to alleviate deforestation, including government-led afforestation efforts, have shown minimal results owing to inadequate execution and insufficient community involvement. The ecological degradation resulting by the dam is irreversible, with enduring implications for the region's biodiversity and environmental sustainability.

2. Seismic Hazards : The Tehri Dam is situated in the Himalayan seismic zone, classified as Seismic Zone IV, which is very susceptible to earthquakes. This has generated considerable apprehension regarding the dam's safety and the possible risks it presents to the adjacent regions.

The Himalayas have formed due to the continuous collision of the Indian Plate with the Eurasian Plate, rendering the area one of the most

seismically active regions globally. The substantial mass of the Tehri Reservoir, containing around 2.6 billion cubic meters of water, applies significant pressure on the Earth's crust. This mechanism, termed Reservoir-Induced Seismicity (RIS), has the potential to induce earthquakes.

Numerous tremors have been documented in the vicinity following the dam's construction, intensifying concerns of a potential catastrophic failure. A 6.8 magnitude earthquake might inflict significant damage on the dam structure, resulting in flooding of densely populated downstream regions, including the towns of Rishikesh, Haridwar, and sections of Delhi.

The inundation of land caused by the dam has rendered the adjacent slopes more susceptible to landslides and soil erosion, hence further destabilizing the area. Additionally, seismic activity in the region may induce cracks and fissures in the dam structure, jeopardizing its integrity and presenting a substantial risk to the local populace and infrastructure.

The dam is engineered to endure earthquakes of up to 8.5 magnitude; nonetheless, the unpredictability of seismic activity in the Himalayas persists as a source of concern. The displacement of local communities resulting from seismic hazards exacerbates the existing socio-economic issues in the region.

Continuous seismic monitoring systems have been established at the dam site; however, some environmentalists and experts, including Sunderlal Bahuguna, have persistently opposed the dam, stressing its potential for catastrophe in a geologically unstable area.

3. Soil Erosion and Landslides : The establishment of the Tehri Dam Lake has markedly exacerbated soil erosion and landslides in the adjacent regions of the Garhwal Himalayas. The inundation of extensive regions resulting from reservoir creation has transformed the natural terrain, causing slope destabilization and frequent landslides.

The woods that formerly stabilized the delicate Himalayan soil were inundated, resulting in desolate slopes susceptible to erosion during precipitation. The persistent variation of water levels in the reservoir undermines the soil structure along its banks, resulting in land erosion into the water body. This has led to the loss of cultivable land for local farmers, diminishing agricultural output and exacerbating their economic difficulties.

Furthermore, the development of roads, tunnels, and other infrastructure associated with the dam has intensified the issue. The excavation and blasting of rocks during the dam's construction destabilized the soil, increasing its vulnerability to erosion.

Frequent landslides obstruct roads and hamper traffic while also posing a persistent threat to villages and towns next to the reservoir,

including New Tehri, Chamba, and other localities. The reservoir's mass has modified the natural drainage systems, exacerbating landslides, particularly during the monsoon season when the earth is significantly saturated with water.

The augmented sedimentation in the Tehri Reservoir, attributable to soil erosion, has diminished its storage capacity over time, so impairing its efficacy in power generation and irrigation. The accumulation of sediment adversely impacts water quality, becoming it murky and unfit for aquatic organisms.

Initiatives to mitigate soil erosion, including afforestation and slope stabilization methods, have been implemented; however, their efficacy has been constrained by the magnitude of the issue and the challenging topography. The local populace endures the compounded difficulties of environmental deterioration and livelihood depletion resulting from the geological alterations caused by the dam's construction.

4. Deterioration of Water Quality : The establishment of the Tehri Dam Reservoir has resulted in considerable degradation in water quality, adversely affecting the aquatic ecology within the reservoir and downstream water consumers. A primary worry is the stagnation of water in the reservoir, which has impeded the natural flow of the Bhagirathi River.

The stagnant water in the reservoir has caused the buildup of sediments, contaminants, and organic matter, resulting in a deterioration of water quality. Agricultural runoff, untreated sewage, and industrial effluents from adjacent regions exacerbate the reservoir's contamination. Over time, these sediments accumulate at the bottom, diminishing the reservoir's storage capacity and impacting its overall efficiency.

The inadequate water circulation in the reservoir has resulted in a substantial reduction in dissolved oxygen levels, a phenomenon referred to as hypoxia. The reduction of oxygen has significantly impacted aquatic life, resulting in the mortality of fish and other aquatic species, therefore disrupting the region's natural environment.

The water discharged from the dam downstream frequently exhibits worse quality owing to the accumulation of contaminants and sediments in the reservoir. This impacts the agricultural regions irrigated by the dam's waters and presents health hazards to nearby residents dependent on the river for potable water and other daily necessities.

A further worry is the spread of algal blooms resulting from nitrogen enrichment in stagnant water. These blooms further diminish oxygen levels and emit chemicals detrimental to both aquatic species and people.

Initiatives to regulate water quality, including regular desiltation and pollution mitigation strategies, have been executed; nonetheless, the reservoir's extensive dimensions and persistent influx of contaminants

complicate the maintenance of ideal water quality. The local populace, particularly agriculturists and fishers, persists in encountering economic difficulties owing to the declining water quality impacting their livelihoods.

5. Effects of Climate Change : The construction of the Tehri Dam and the establishment of its extensive reservoir have significantly altered the local microclimate of the Garhwal region in Uttarakhand. A substantial water body covering roughly 42 square kilometers has modified the temperature, humidity, and precipitation patterns in the adjacent regions.

A notable climate change seen is the rise in humidity levels resulting from ongoing evaporation from the reservoir's surface. This has resulted in increased humidity, particularly in the summer, impacting both the natural ecology and agricultural practices in the area. Agricultural products that were formerly well-suited to the regional climate are now encountering difficulties due to increased moisture levels and shifting meteorological patterns.

The creation of the reservoir has also influenced rainfall distribution in the area. Research indicates that regions next to the Tehri Dam have undergone alterations in both the intensity and frequency of precipitation. Some regions have experienced heightened precipitation, resulting in flooding and soil erosion, while others have encountered erratic rainfall patterns, negatively impacting crop cycles and irrigation water availability.

Furthermore, the modified microclimate has impacted the region's vegetation and fauna. The humid conditions have facilitated the proliferation of exotic plant species, which vie with indigenous flora and disturb the ecological equilibrium. Furthermore, the shifting climate has influenced the migratory patterns of avian species and the reproductive cycles of both aquatic and terrestrial organisms.

The dam's presence has resulted in temperature variations, characterized by elevated daytime temperatures from heat absorption by the reservoir and reduced nighttime temperatures. This temperature fluctuation impacts local residents, particularly farmers, who depend on consistent weather patterns for agricultural yield.

Initiatives to alleviate the climate repercussions of the Tehri Dam encompass afforestation projects, climate monitoring programs, and sustainable water management methods; yet, the enduring consequences of these climatic alterations persist in presenting issues for the region's ecosystem and its inhabitants.

Categories of Socio-Economic Issues Affecting Local Populations

1. Displacement of Indigenous Inhabitants : The construction of the Tehri Dam resulted in the displacement of over 100,000 individuals, rendering it one of the most substantial human displacements in India

attributable to a development initiative. The inundation of the former Tehri town and many villages in the area compelled local populations to forsake their residences, arable grounds, and customary means of subsistence.

The displaced populace predominantly comprised farmers, traders, and small-scale artists, whose existence was intricately linked to the land and river. The depletion of arable land, which sustained centuries, has resulted in significant economic hardship for numerous families. Deprived of their principal source of income, many were compelled to relocate to urban areas in pursuit of employment, many accepting low-wage positions in unfamiliar settings.

The relocated populations confronted a significant difficulty due to the little rehabilitation and compensation offered by the authorities. Numerous families indicated little compensation for their lost properties, while others experienced delays in obtaining any assistance. The newly established towns, including New Tehri, were deficient in fundamental infrastructure, including as educational institutions, healthcare services, and adequate sanitation, hence intensifying the difficulties encountered by the displaced population.

The displacement resulted in considerable cultural loss, as long-standing customs, festivals, and communal ties were disturbed. The inundation of temples, markets, and historical sites disrupted the connection between individuals and their cultural history, resulting in a loss of identity and psychological hardship, especially among the elderly and indigenous communities.

Activists, notably Sunderlal Bahuguna, emphasized the struggles of displaced communities and advocated for improved rehabilitation programs. Nonetheless, despite these initiatives, numerous families persist in grappling with unmet commitments, substandard living conditions, and the erosion of livelihoods, rendering the relocation a highly contentious element of the Tehri Dam project.

2. Loss of Employment : The construction of the Tehri Dam resulted in significant livelihood losses for thousands in the region, mainly impacting farmers, pastoralists, and small-scale traders. The inundation of extensive fertile agricultural land along the Bhagirathi River compelled numerous communities to forsake their principal source of income.

For millennia, the local populace depended on agriculture and livestock rearing as their principal source of sustenance. The fertile alluvial soil adjacent to the riverbanks facilitated the production of crops like as wheat, rice, legumes, and vegetables, while livestock farming yielded dairy products and additional income. The inundation of these territories caused by the dam's reservoir rendered numerous farmers landless and unemployed.

Many displaced families, unable to pursue their traditional occupations, were compelled to travel to urban regions like Dehradun, Rishikesh, and Haridwar, where they had to engage in low-paying, labor-intensive employment such as construction work, daily wage labor, or minor trades. The transition from a rural agrarian lifestyle to an urban labor economy resulted in economic difficulties, since several individuals found it challenging to acquire new skills and adjust to different work conditions.

Furthermore, the displacement hindered animal husbandry, as grazing areas were inundated, and new towns were deficient in resources for cattle rearing. The decline of traditional occupations resulted in financial instability and induced social and psychological misery, especially among older generations who struggled to adapt to new vocations.

The authorities' assurances on alternate employment prospects and skill development programs were frequently inadequately executed, resulting in several individuals lacking support. Notwithstanding certain governmental initiatives to offer recompense and employment, the economic repercussions of the dam persistently afflict the local populace, with numerous individuals still contending with poverty, indebtedness, and insufficient economic stability.

3. Cultural Displacement : The construction of the Tehri Dam not only physically displaced hundreds but also resulted in significant cultural displacement by inundating the old town of Tehri and its rich cultural and historical legacy.

The town of Tehri, formerly the capital of the Tehri Garhwal Kingdom, has considerable cultural importance, featuring ancient temples, palaces, and markets that embodied the distinctive traditions, architecture, and history of the area. The inundation of these landmarks by the dam's reservoir led to the erosion of historical identity for the local populace, disrupting their ties to ancestral heritage.

Numerous historic temples, including the Badrinath temple's pathway, sacred ghats, and other religious places, were submerged, depriving the community of its spiritual and religious traditions. The destruction of these landmarks interrupted customary festivals, rituals, and communal gatherings, which were essential to the region's social fabric.

The relocation compelled individuals to resettle in new regions, such as New Tehri, where they were required to reconstruct their lives from the ground up. The new communities were devoid of the cultural vibrancy and historical value of the old town, resulting in feelings of alienation and a loss of identity among the displaced inhabitants.

The local populations, entrenched in their cultural traditions, encountered difficulties in safeguarding their folklore, music, dance, and artistic expressions, as displacement fragmented families and disrupted

their everyday existence. This cultural loss has notably impacted the older generation, who experienced the inundation of their hometown and faced challenges in acclimating to the new socio-cultural landscape.

Notwithstanding the endeavors of certain local organizations to save and chronicle the cultural history of old Tehri, a significant portion of its historical essence has been irretrievably gone. The psychological effects of this cultural displacement persist among the relocated families, exacerbating the socio-economic difficulties they already encounter due to the dam's development.

4. Mental Distress : The construction of the Tehri Dam and the consequent displacement of thousands of individuals inflicted significant psychological suffering, especially among the elderly, women, and marginalized groups. The coerced displacement from their ancestral residences, arable territories, and known environments resulted in significant emotional and psychological difficulties.

The displacement of numerous elderly individuals from their lifetime residences, places of religion, and community connections elicited emotions of sorrow, nostalgia, and powerlessness. Having resided predominantly in a singular environment, acclimatizing to new locales like New Tehri proved to be overwhelming, resulting in instances of sadness, anxiety, and social isolation.

Women, frequently pivotal in overseeing domestic and agricultural responsibilities, encountered significant stress owing to the abrupt upheaval of their daily routines. The loss of homes and livelihoods, along with the obligation to manage displaced families in foreign environments, resulted in heightened instances of psychological distress, interpersonal disputes, and emotional trauma.

Children and adolescents faced distress as they were compelled to abandon their schools, friendships, and familiar surroundings. The interruption of education and social interactions exacerbated their emotional strain, impacting their academic achievement and psychological health.

The displacement process, characterized by insufficient rehabilitation, poor compensation, and uncertainty over the future, exacerbated the psychological effects on the impacted community. A multitude of displaced individuals expressed sentiments of uneasiness, frustration, and animosity against the authorities accountable for their transfer.

Moreover, the loss of identity, cultural heritage, and traditional lifestyles has resulted in a collective psychological trauma that persists in the affected relocated groups. The dearth of mental health care and counseling facilities in the new settlements intensified these obstacles,

forcing many to confront their emotional difficulties in solitude.

Initiatives to mitigate psychological anguish have been scant, with certain NGOs and local organizations offering little assistance. The enduring mental health consequences of the Tehri Dam displacement constitute a significant concern that necessitates immediate attention and action.

5. Insufficient Rehabilitation Strategies : The displacement resulting from the construction of the Tehri Dam underscored considerable deficiencies in the rehabilitation and resettlement process, leaving several displaced individuals grappling with insufficient support and unmet commitments.

Notwithstanding guarantees from the authorities, some displaced families said that the compensation pledged for their lost land, homes, and livelihoods was either delayed, inadequate, or both. For others, the remuneration did not accurately represent the genuine worth of their land, while others encountered bureaucratic obstacles that postponed payments for years, exacerbating their financial difficulties.

The recently established resettlement communities, including New Tehri, frequently lacked the necessary resources to accommodate the requirements of the displaced populace. Fundamental amenities, like potable water, decent sanitation, healthcare services, and educational establishments, were either insufficient or completely lacking in numerous resettlement settlements. The absence of infrastructure adversely impacted the quality of living and impeded displaced families' capacity to reconstruct their lives efficiently.

Furthermore, numerous displaced individuals encountered difficulties in obtaining employment prospects in their new locales. Disrupted in their customary agricultural and animal husbandry jobs, they were compelled to pursue alternative livelihoods in unfamiliar metropolitan environments, characterized by restricted and competitive labor prospects.

The restoration efforts neglected to include the social and cultural integration of displaced communities. Numerous families experienced isolation, without support systems or community networks, resulting in feelings of alienation and social fragmentation.

The deficient planning and implementation of the restoration projects elicited extensive criticism from activists and civil society organizations, who underscored the hardships faced by displaced families. Despite several corrective measures implemented over the years, the rehabilitation process continues to be a contentious and unresolved matter, with numerous families still awaiting equitable compensation, sufficient amenities, and appropriate livelihood assistance.

The construction of the Tehri Dam resulted in considerable

displacement and environmental alterations, causing the State Government of Uttarakhand and the Government of India to enact numerous rehabilitation and compensation initiatives for the impacted inhabitants.

Rehabilitation and Compensation Programs :

1. The Rehabilitation Policy for the Tehri Dam Project was established to direct the resettlement procedure. This policy delineated the rights of families affected by the project, encompassing compensation and allocation of housing sites.

2. Financial Compensation : In 2021, it was determined that 415 affected families would receive ¹ 74.4 lakh apiece, in addition to compensation for their structures and other assets. Provisions were established to provide two acres of developed land in districts like as Haridwar and Dehradun, or alternate sites, for families whose land was substantially impacted. Furthermore, ¹ 60,000 was designated for building construction support.

3. The Supreme Court of India ordered the construction of three bridges at Dobra, Ghonti, and Chinyali Saur to reestablish communication interrupted by the dam's reservoir. Until the completion of these bridges, ferry services or ropeway facilities were to be established to assist transit over the reservoir. The court mandated the repair of public edifices and institutions inundated or impacted by the dam.

4. Fundamental Amenities : Initiatives were undertaken to guarantee that resettlement zones were furnished with requisite services. The authorities were mandated to finalize drinking water projects, including the Koshiyar Tal, Sarjyula, and Pratap Nagar pumping systems, within a designated timeline to supply clean water to the displaced populace.

5. Dam restoration Initiative : India has initiated one of the largest dam restoration initiatives globally to improve the safety and efficacy of its dams. Since 2012, with assistance from the World Bank, the nation has enhanced 200 big dams, prioritizing safety, decision-making efficacy, and the cultivation of proficient dam specialists. This program seeks to optimize the performance of dams such as Tehri while protecting the interests of impacted communities.

Challenges and Ongoing Efforts : Notwithstanding these initiatives, difficulties endure. Several displaced families have indicated delays or deficiencies in compensation and rehabilitation efforts. Affected communities have emphasized issues such as inadequate land rights, insufficient basic utilities, and challenges in restoring livelihoods. The government and numerous groups are making ongoing efforts to solve these issues and enhance the living conditions of displaced persons.

Conclusion :

The construction of the Tehri Dam, a notable engineering

achievement that supplies hydroelectric power, irrigation, and potable water to millions, has resulted in considerable environmental and social repercussions. The dam has caused the inundation of extensive regions, leading to the displacement of thousands, the loss of arable land, and the disruption of social systems. It has disrupted the natural flow of the Bhagirathi River, impacted aquatic species, and heightened the danger of seismic activity due to its placement in a seismically active region.

In response to these issues, the government has instituted several rehabilitation and resettlement initiatives, providing financial compensation, new housing, and infrastructural amenities to the displaced inhabitants. Environmental mitigation initiatives have encompassed afforestation programs, catchment area management, and ongoing surveillance of seismic activities. Nonetheless, the efficacy of these policies is contentious, as numerous impacted communities continue to contend with little compensation, livelihood deprivation, and cultural disintegration.

It is imperative for the government to augment its support networks for displaced persons, guarantee prompt and sufficient compensation, and reinforce environmental protection measures. Practices of sustainable development, community participation in decision-making, and thorough environmental evaluations are essential to reconcile developmental requirements with ecological and social welfare. The Tehri Dam exemplifies the fragile equilibrium between development and sustainability, underscoring the necessity for more inclusive and environmentally mindful infrastructure initiatives moving forward.

References

- **Kedia, Satish. "Assessing and Mitigating the Health Impacts of Involuntary Resettlement: The Tehri Hydroelectric Dam Project."***Journal of Advances in Science and Technology of Water Resource*, vol. 23, no. 2, 2003, pp. 1-15.
- **Terminski, Bogumil. "Development-Induced Displacement and Resettlement: Theoretical Frameworks and Current Challenges."** Indiana University, 2013.
- **Newton, Jason. "Displacement and Development: The Paradoxes of India's Tehri Dam."***The Geographical Bulletin*, vol. 49, no. 1, 2008, pp. 25-36.
- **Sati, Vishwambhar Prasad. "Changing Landscape and Ecotourism Development in a Large Dam Site: A Case Study of Tehri Dam, India."***GeoJournal*, vol. 84, 2019, pp. 123-135.
- **Cernea, Michael M. "The Risks and Reconstruction Model for Resettling Displaced Populations."***World Development*, vol. 25, no. 10, 1997, pp. 1569-1587.

- **Dwivedi, Ranjit. "Models and Methods in Development-Induced Displacement (Review Article)."***Development and Change*, vol. 33, no. 4, 2002, pp. 709-732.
- **Heggelund, Gørild. "Resettlement Programmes and Environmental Capacity in the Three Gorges Dam Project."***Development and Change*, vol. 41, no. 1, 2010, pp. 225-253.
- **Tilt, Bryan, and Andrew Gerkey. "Dams and Population Displacement on China's Upper Mekong River: Implications for Social Capital and Social–Ecological Resilience."***Global Environmental Change*, vol. 36, 2016, pp. 153-162.
- **Scudder, Thayer. "The Future of Large Dams: Dealing with Social, Environmental, Institutional and Political Costs."** Earthscan, 2005.
- **McCully, Patrick. "Silenced Rivers: The Ecology and Politics of Large Dams."** Zed Books, 2001.
- **D'Souza, Rohan. "The Politics of Large Dams: India's River Basin Development."** Sage Publications, 2003.
- **Baviskar, Amita. "In the Belly of the River: Tribal Conflicts over Development in the Narmada Valley."** Oxford University Press, 2004.
- **Khagram, Sanjeev. "Dams and Development: Transnational Struggles for Water and Power."** Cornell University Press, 2004.
- **Morse, Bradford, and Thomas Berger. "Sardar Sarovar: Report of the Independent Review."** Resource Futures International, 1992.
- **Goldsmith, Edward, and Nicholas Hildyard. "The Social and Environmental Effects of Large Dams."** Wadebridge Ecological Centre, 1984.

- I acknowledge the use of Google and other online search engines for accessing relevant research materials during the preparation of this research paper.

●

Echoes in the Corridor
Ageing, Gender and Silence in the Goan Old Age Homes

Rakshanda Ramesh Mayekar*

ABSTRACT : The intersection of ageism and sexism, adouble burden of discrimination,habitually leaves women marginalised in later life. The number of older women outnumbers the older men in Goa, signifying a dual experience of stigmas of old age and marginalisation in the socio-economic domain as they grow old. Ageing is related to social stigmas, affecting the social and emotional well-being of older women in Goa. This paper analyses how Goa's elderly are invisible in old age homes and marginalised socially, economically, and legally. The narrations of the elderly have been studied. The results showed common experiences of women living in old-age homes: isolated and becoming invisible in society.

Keywords : Older Women, Goa, marginalisation, stigma, dependency, old age homes

1. INTRODUCTION : Older women in Goa, as in much of India, face a complex web of marginalisation that intensifies with age. The literature highlights a range of interlinked challenges: social isolation, health problems those including chronic diseases and mental health issues, financial insecurity, family conflicts, and limited access to social support services. Studies from Goa and broader Indian contexts reveal that negative perceptions of ageing, fears of widowhood or incapacity, and strained family relationships are common, often leading to emotional distress and a sense of being a burden (Cohen et al., 2016; Patel & Prince, 2001; Mayekar, 2025).The intersection of ageism and sexism, as well as caste and economic status, exacerbates discrimination and exclusion, impacting both physical and mental well-being(Chakraborty & Kundu, 2024; Hossain et al., 2022; Srivastava & Muhammad, 2022).

As women grow older, they find themselves becoming invisible in society, their identities overshadowed by stereotypes of age and gender(Dias, 2017). This article explores the experiences of elderly women becoming invisible in Goan society. They encounter various forms of inequality within the household and outside the home to live their lives with dignity and respect. According to Age International, there is a need for society to recognise women as equal members throughout their entire lives, not just during their youth. The efforts and achievements of older women should be valued equally to those of younger women and men. However, older women often experience a double burden of discrimination, both ageism and sexism, which makes their later years more challenging.

* Research Scholar– Sociology Programme, D.D. Kosambi School of Social Sciences and Behavioural Studies. Goa University, Goa

Despite playing vital roles in supporting their families and communities through caregiving, household work, and emotional support, their contributions are frequently overlooked(Dudu et al., 2016). Society often views older women as burdens rather than recognising their important roles. Little attention has been given to how ageing and gender are connected. However, women comprise most of the older population worldwide, especially among the oldest age groups. Women do not age in the same way as men; lifelong gender-based disadvantages and societal biases about ageing shape their experiences in old age. These gender-based disadvantages, combined with negative beliefs about older people, make it harder for women to benefit fully from living longer.

2. METHODOLOGICAL FRAMEWORK : This study is based on two objectives: the first is to know the different forms of problems elderly women face in Goa, and the second is to explore their life-world experiences, especially of the elderly women in old age homes of Goa. This research includes primary and secondary data. To collect the primary data, narrative experiences were analysed. Narrative analysis does not merely treat stories as descriptive accounts but views them as socially situated acts that communicate deeper meanings about the narrators lived experiences, values, emotions, and social interaction(Kohler, 2008).It explores how their identity and needs have been rendered invisible to their families, communities, and policymakers. It draws on in-depth interviews with eighteen women residing in different care homes across Goa. Through these interviews, several common themes emerged regarding the challenges of being invisible in later life, including social exclusion, economic dependency, health issues, and legal obstacles. The respondents were selected through simple random sampling of residents in these homes, and all gave informed consent to participate. Their first-hand accounts provide a human voice to the statistics and concepts discussed. It is essential to understand what these older women face in their own words, especially as they are too often left out of conversations about policies and rights affecting them. As United Nations independent expert Claudia Mahlerobserved in a 2021 report, Older women are the best advocates for their needs, concerns and rights. It is vital to respect, protect and fulfil older women's participation rights in line with international human rights law and to create meaningful opportunities for their inclusion in all relevant policy dialogues.For the secondary data, published articles from Scopus, PubMed, and UGC approved journals were considered. After a thorough literature review, a gap was identified in research in Goa. Previous research in Goa has not shown any study related to elderly women living in old age homes. Therefore, this research contributes to this existing gap in academia and gives lifeworld experiences of older women from their own narratives.

3. RESULTS AND DISCUSSION :

3.1. Feminisation of Ageing : The term feminisation of ageing was notably discussed by sociologist and demographer S. Irudaya Rajan, particularly within India's ageing population. Rajan and colleagues, U.S. Mishra, and P. Sankara Sarma extensively explored this concept in their influential work. Goa's demographic ageing process has a distinct gendered dimension, which is best fitted into the feminisation of ageing. Women live longer than men. They face a set of challenges in old age, shaped by lifelong gender inequalities, and are seeking urgent attention from all domains of life to cater to their needs in old age. Older women in Goa form the majority among the very old. While longer life is often celebrated as a success of development, for many older women, these extended years are marked by increasing vulnerability, mainly due to widowhood, isolation, and lack of social support. Widowhood in Goan society often carries not just personal loss but deep social stigma. It is a state of bereavement(Soulsbya & Bennett, 2015). It can result in exclusion from family, community life, and economic resources.Living alone, especially without financial security or social support, places these women at heightened risk of neglect, poor health, and emotional isolation. This situation is worsened by structural inequalities that have followed women throughout their lives. Education is one area where the gap is visible; elderly women are less literate thanelderly men. This low literacy rate limits older women's ability to understand or access their rights, healthcare, or social welfare services, often pushing them further into marginalisation.The social construct of gender means that today's elderly women grew up and lived in an era where their opportunities were curtailed compared to men's. Consequently, when they reach old age, many have lower literacy, less financial security, and poorer health than their male counterparts. They relied financially on their husbands and later on their children. As a result, many older women enter later life without savings, assets, or independent income.

3.2. Social and Emotional Marginalisation : Older women in Goa often occupy a structurally marginal position in both familial and public domains. The dominant social construction of ageing interconnects with patriarchal norms which make elderly women invisible in society. This indeed makes their ageing process dependent on others for emotional and mental health. Feminist gerontology reveals that older women internalise these cultural scripts, leading to anticipatory anxieties about widowhood, illness, and abandonment.

These lifelong disadvantages mean that by age 60 or beyond, women often have fewer resources to cope with the challenges of old age. They also face societal attitudes that diminish their status. An interviewee in a Goan care home, a 68-year-old former domestic worker, explained: *"I*

never went to school, so I can't read the forms at the bank. I have to ask someone to help, or else I'll sign where they tell me. The manager from this home (old age home)sometimes comes to take me to the bank to withdraw money." This sentiment reflects how low literacy and lifelong dependence can translate into losing control later in life. Another 74-year-old woman remarked that she had worked all her life tending to her family's needs but never had any property in her name: *"My husband owned everything. He made all the decisions. When he died, I realised I had nothing in my name, not even our house, whichI had lived in for years after marriage. There is a case going on in the court of that house. I had to depend on my daughter, and now on the staff who run this home, to provide me with everything. I get everything here."* These two narrations interpret how low education and lack of financial help make them depend on their male counterpart and later on care homes for their sustainability.

Decreasing fertility and migration of younger generations further contribute to many older women living without close family support. The feminisation of ageing thus goes hand-in-hand with what some researchers term a feminisation of living alone in old age. In Goa, which has a sizeable diaspora of young adults working abroad, it is common for elderly parents, especially widowed mothers, to be left behind with limited support. Several women interviewed noted that all their children had migrated to cities or overseas. One 64-year-old widow living in a private-run care home recounted: *"My son is working on a cruise, but I have not seen him for two years. I will go home when he comes because I am alone here."* For her, and many like her, the promise of financial remittances is not a substitute for physical care or emotional support. They want to go home and be with family. In an interview with the private-run old age home, the in-charge sister said that she feels sorry for these older women, because they are aware of the realities of their children, some of the family members come only up to the gate and give basic things, whatever is needed for the elderly women in the home. Still, they do not come to see them. She said " *We call them to come to see their sick mother, some give excuses and others only come upto the gate to give few items, when we call them inside they say if my mother see me she will not leave me, and these children go back without talking with their old mothers, I cannot tell this to them, I feel sorry and sad, but they are our responsibility in this home".*

This highlights several critical dimensions of marginalisation and emotional abandonment faced by older women residing in institutional care. This anecdote vividly illustrates how institutionalisation, intended as a refuge, symbolises more profound societal and familial neglect. The reluctance of family members to physically enter the home and engage with their elderly mothers underscores the emotional estrangement and psychological invisibility these women endure. As the Sister remarked,

family members providing material necessities without emotional or physical presence suggests a disturbing commodification of familial duty, where material support is equated with moral obligation, yet genuine emotional engagement is absent. This practice reinforces the notion that older women have become a burden to be managed at a distance rather than integrated meaningfully within familial and social circles.Their experiences of *tension, worry,* and*stress* are sociological symptoms of an *affectional deficit* within intergenerational relations, compounded by erosions in filial piety, especially in nuclear or urban family settings.

3.3. Widowhood and Stigma : As women grow older, they often live longer than men, but these extra years are not always easy. Many older women spend this time facing poor health, money problems, and being dependent on others. All through their lives, they have faced unfair treatment simply because they are women, and this doesn't stop when they age. In many homes, they are expected to keep looking after others, even when they are weak. For widows, life becomes even harder. Losing a husband is not just about sadness; it also brings social problems. Some customs mistreat widows, and in many families, they are no longer respected in the same way. Growing older in a youth-centric society can be difficult for anyone, but for women, it is often accompanied by social stigma that erodes their identity. In Goa's traditional social milieu, influenced by both Hindu and Catholic norms, an elderly woman, especially a widow, frequently finds herself marginalised within her own family and community.

Widowhood carries not just the personal grief of losing a spouse but also a profound social stigma(Subapradha &Subramanian, 2022). Widowhood is more hazardous, painful and humiliating to women than to a widower because of the discrimination and ritual sanctions of the society against widows (Janagan & Shyamala, 2012). One such sanction is Widow remarriage, while legally permissible, remains highly stigmatised in traditional circles, effectively condemning many women to permanent singlehood regardless of their age or desire for companionship. Many of the women interviewed described widowhood as a turning point when they began to feel "invisible." One elderly respondent, widowed in her early fifties, said that she lost her husband at a middle age. With no qualifications, she was forced to work as a janitor in college; her poverty and being widowed made her life miserable. She recalls the pain when she said that, due to her financial condition, she gave her one son to her sister to take care of, as she was unable to feed both her children. She did not receive any support from society, making her suffering invisible. According to the study of 'Older Women in India: Economic, Social and Health Concerns', about 60% of older women in India are widowed. Many live alone, often with no visits or contact from their children. This leaves

them feeling lonely, not just emotionally, but also because they are excluded from decisions at home. The report shows that 13% of rural and 9% of urban older women have suffered some mistreatment after turning sixty. This is mostly verbal abuse, and those responsible are often sons, neighbours, or daughters-in-law. About one in four women who are abused end up with health problems because of it.

3.4. Legal Disempowerment and Invisibility : Even though many of these women still do housework, care for grandchildren, and pray daily, they are often seen as a burden, especially if they don't have money or property. Older women depend entirely on others for money, and many do not own any land or assets. Because of this, people think they don't contribute anything. This kind of thinking hurts deeply and makes women feel even worse. This lack of respect and support doesn't just affect the body; it affects the mind too. After years of being treated unfairly, many older women feel invisible and unwanted. Even though they have spent their lives supporting others, their efforts go unrecognised. Their voices are rarely heard, either in families or in the policies meant to help them.

These findings also showed the issues of unmarried and single women with no identity or family background. These women remained invisible in society due to the stigma of being unmarried. Respondent from a remote village now living in Government run home said that she has no one in this world, she was raised by her mother after whose death she had no support, she is 64 years old now, but besides this home she has no person to ask her or remember, even in the village in which she was born, no one remembers her, she have become an invisible older woman. Sons are the primary abusers who have abandoned their old mothers. In the recent case, which was captured by the Goan media, an old woman was found sleeping on the bus stand, with injuries to her legs. When inquired further, she was found to have been abandoned by her son. Police intervention was done under the Maintenance and Welfare of Parents and Senior Citizens Act,2007,and she was shifted to a hospital. Similarly,there are cases of elderly women who are admitted to old age homes, but their children never come to inquire about them. In one case, a respondent, an elderly woman living in a governmentold-age home, witnessed her son attempting to kill her. Her other two daughters only contact the mother to inquire about the money she holds in a bank account. Our interviews showed clearly that none of the elderly women we spoke to had ever tried to use the law to ask their family for financial support or maintenance, even though legally they could do so. Instead, they quietly accepted neglect from their families rather than openly accusing them. This behaviour comes from deep-rooted cultural beliefs about what it means to be a mother and about family responsibilities. These older women felt it was their duty as mothers to remain silent and not cause trouble for their children, even if those children had stopped caring for

them. Ironically, while strong cultural expectations bound the mothers to protect their family's honour and avoid conflict, their children did not follow these same traditions. Instead, many children openly ignored or abandoned their mothers, not feeling any shame or guilt. This situation highlights a painful contradiction: mothers continue to uphold family values and traditions, even though they suffer neglect and marginalisation as a result.

In Goa, where property values are high, *inheritance disputes* frequently leave widows vulnerable; family members may coerce an older woman into signing over property or changing a will, capitalizing on her lack of legal knowledge or her fear of conflict . One elderly woman experienced this, where her house was under a legal notice for demolition, and she does not have any support to fight the case; her children are abroad. When asked further why she wanted this home, she said it was her husband's house. And she has legal rights to it. She wants to protect it, but has no support from anyone. The story exemplifies how legal and financial troubles can directly impact health and result in institutionalisation. Under Indian law, widows have rights to their husbands' property, but enforcing those rights can be a long, arduous process, often beyond the capacity of an ailing older woman. Consequently, many women give up their claims and seek refuge in places like care homes, where at least daily survival is assured. The impact of such property dispossession is not just economic; it deeply affects emotional well-being, leaving women feeling powerless and betrayed by their kin. In another case, elderly women were cheated by her kin, who took her gold and never returned it, she said she went many times to ask for her gold but the person denied and she gave up, she is now living in old age home, she has guilt of losing her gold which was her only source. The legal framework in India does have provisions to protect elders, notably the Maintenance and Welfare of Parents and Senior Citizens Act, 2007, which makes it a legal duty for children or heirs to provide for parents and provides a tribunal for parents to claim maintenance. Goa, like other states, is subject to this Act. However, as noted earlier, invoking the law is rare; it tends to happen only in headline-grabbing cases. On a policy level, the voices of older women are seldom heard in drafting laws or schemes that affect them. They are excluded from policy decisions at the governance level. For instance, Goa's policies for seniors, such as state pensions or housing schemes, are typically designed by officials with little input from the elderly, let alone elderly women specifically. Senior citizen forums and committees exist, but retired men often occupy leadership positions. The particular needs of older women, for example, safety for widows living alone, or healthcare for chronic conditions more prevalent in women, may not get adequate attention due to stigmas against their age.Several interviewees were unaware of their rights under the law or any

schemes they could benefit from. This information gap is part of the invisibility problem. Its outreach often fails to reach those who are illiterate or isolated. Those women who were aware of certain rights, like schemes or the maintenance act, felt morally conflicted about asserting them, as it goes against ingrained norms of family duty and maternal self-sacrifice.

4. Conclusion : In line with this insight, this paper elevates the voices of older women in Goa to advocate for their rights and inclusion. Qualitative accounts from participants elucidate how historical gender inequalities translate into contemporary vulnerabilities. Older women are frequently caught in a web of economic dependency, with limited access to independent income or property rights. This economic precarity is both a cause and consequence of their marginal status in the household. The gendered division of labour in Goan society often relegates women to unpaid domestic roles, leaving them without pensionable employment or savings in later life. Those who depend on sons or extended family frequently experience conditional support, shaped by intra-household bargaining and intergenerational tensions. Thus, the paper suggests a strong policy towards older women to protect them from dual discrimination and safeguard them financially and legally in contemporary society.Such a policy must incorporate gender-sensitive pension reforms that account for women's unpaid caregiving labour and economic dependency throughout life. In addition, the state should ensure accessible legal aid servicesandproperty rights awareness campaigns targeted at elderly women, particularly widows and those without family support. Institutional care settings must integrate mandatory emotional counsellingservices, recognising the psychological toll of abandonment, invisibility, and intergenerational neglect. Invisibility is not a biological consequence of ageing, but a socially constructed phenomenon. Families, institutions, and policymakers must actively listen to these voices and build structures that affirm dignity and agency for elderly women.

References

- Age International. (2022). *Women's rights*. https://www.ageinternational.org.uk/what-we-do/womens-rights/
- Chakraborty, J., & Kundu, S. (2024). Drivers of perceived discrimination among older adults in India: An intersectional analysis. *BMC Psychology, 12*, Article 1697. https://doi.org/10.1186/s40359-024-01697-7
- Cohen, A., Dias, A., Azariah, F., Krishna, R., Sequeira, M., Abraham, S., Cuijpers, P., Morse, J., Reynolds, C., & Patel, V. (2016). Aging and well-being in Goa, India: A qualitative study. *Aging & Mental Health, 22*(2), 168–174. https://doi.org/10.1080/13607863.2016.1236239
- Dias, L. (2017). Elderly women in India: Challenges and interventions. *Perspectives in Social Work, 32*(2). ISSN 0974-5114.

- Dudu, J. E., Omuta, G. E. D., & Otto, I. (2016). The invisibility of housewives' contributions to families: Understanding the role of women in household upkeep in Delta State, Nigeria. *International Journal of Social Science and Humanities Research, 4*(3), 107–118.
- Giridhar, G., Subaiya, L., & Verma, S. (2015). *Older women in India: Economic, social and health concerns* (Thematic Paper 2, Building Knowledge Base on Ageing in India: Increased Awareness, Access and Quality of Elderly Services). Institute for Social and Economic Change; United Nations Population Fund; Institute of Economic Growth; Tata Institute of Social Sciences.
- Government of India. (2007). *The Maintenance and Welfare of Parents and Senior Citizens Act, No. 56 of 2007*. Ministry of Law and Justice.
- Hossain, B., Nagargoje, V., Sk, M., & Das, J. (2022). Social exclusion and mental health among older adults: Cross-sectional evidence from a population-based survey in India. *BMC Psychiatry, 22*, Article 4064. https://doi.org/10.1186/s12888-022-04064-1
- Johnson, E. J., & Shyamala. (2012). Widow remarriage: A new dimension of social change in India. *International Journal of Humanities and Social Sciences, 2*(3), 195–205.
- Mahler, C. (2021). *Human rights of older women: The intersection between ageing and gender*. In *Report of the Independent Expert on the Enjoyment of All Human Rights by Older Persons* (UN Doc A/76/157). United Nations.
- Mayekar, R. (2025). Socio-economic challenges, well-being, and perspectives of senior citizens: A case study from Goa. *International Journal of Science and Research Archive, 14*(2), Article 0365. https://doi.org/10.30574/ijsra.2025.14.2.0365
- Patel, V., & Prince, M. (2001). Ageing and mental health in a developing country: Who cares? Qualitative studies from Goa, India. *Psychological Medicine, 31*(1), 29–38. https://doi.org/10.1017/S0033291799003098
- Rajan, S. I., Mishra, U. S., & Sarma, P. S. (1999). *India's elderly: Burden or challenge?* Sage Publications.
- Riessman, C. K. (2008). *Narrative methods for the human sciences*. Sage Publications.
- Soulsby, L. K., & Bennett, K. M. (2015). Widowhood in late life. In N. Pachana (Ed.), *Encyclopedia of geropsychology*. Springer.
- Srivastava, S., & Muhammad, T. (2022). Socioeconomic vulnerability and frailty among community-dwelling older adults: Cross-sectional findings from longitudinal aging study in India, 2017–18. *BMC Geriatrics, 22*, Article 2891. https://doi.org/10.1186/s12877-022-02891-1
- Subapradha, P., & Subramanian, S. (2022). Widowhood in Ambai's *Kitchen in the corner*. *International Journal of Humanities and Social Science Invention, 11*(9), 61–63.

Inclusive Clothing Design
Developing a Holistic Framework for Independence and Dignity

Dr. Vaibhav Bhandari*

Abstract : This study on the need for inclusive clothing design highlights that inclusivity not only simplifies dressing but also significantly enhances independence and dignity for individuals with disabilities." We assess the current state of adaptive fashion, identifying the gaps between its practices and those of mainstream design. Our findings explore the barriers disabled individuals face when dressing, demonstrating the much-needed requirement for functional, aesthetic and accessible clothing. Based on what we learn from a wide-scale survey of users with disabilities and caregivers regarding particular requirements (adaptability, comfort, and accessibility) specific to them with regard to Muscular dystrophies and neuromuscular disorders, we look to identify the categories of needs/ preferences. We define a comprehensive framework for inclusive garment design drawing from these insights. The need for collaboration between designers, therapists, and users to create new, effective, and enabling clothes is emphasized within this framework. As passionate advocates for the purpose of shock to be in demand, we call upon you to evolve towards a fashion industry that is more inclusive and equitable, that puts the needs of all individuals at the forefront, while ensuring that these needs never depend on their abilities.

Keywords : Inclusive clothing, Person with progressive disabilities, Accessible designs, Dignity in Fashion, Holistic clothing framework.

I. Introduction

1. The Relevance of Dressing : The act of dressing reaches far beyond simply donning garments; it is a basic human activity that is fundamental to self-hood, collective identity, and social well-being.

(i) Psychological Impact : What we wear plays such an important role in determining how we feel in our body. Feeling good in our clothes always gives us a sense of well-being and boosts our self-confidence, making us less anxious and elevating our mood. On the other hand, problems with dressing may cause frustration, embarrassment, and lower self-esteem.

(ii) Social Identity : Clothing provides an opportunity to showcase our unique personalities, adapt to social expectations, and bond with

* PG in Law, Social Work and Psychology; recognized with national award the "National Award for Individual Excellence PWD" by the Hon. President of India.

others.

(iii) Cultural and Symbolic Meaning : We dress up to communicate a meaning to the underlying symbolism, beliefs, and values that we own. Clothing may be used to showcase one's culture, class, or even personal taste in fashion.

2. Difficulties in Dressing Up People with Disabilities : People with disabilities have distinctive situations that are required to dress up and which can create numerous troubles in their everyday activities. These include:

(i) Physical Impairments : (a) Reduced movement : Difficulty in activities such as bending the body, reaching, and fastening clothes. **(b) Repetitive Fine Motor Skills:** Tasks like buttoning, zipping, and tying shoes involve intricate skills which an individual might find daunting. **(c) Physical strain :** Dressing up itself is an arduous task for an individual due to aches, stiffness, muscle weakness and fatigue.

(ii) Sensory Related Issues : (a) Sensitivity : Anxiety and discomfort caused by irritations created due to some certain fabrics or structures. **(b) Visual difficulties :** Not being able to read clothing labels and differentiate colors and patterns, amongst other things. **(c) Hearing issues :** The deficits that hinder understanding of how to give specific clothing instructions.

(iii) Cognitive issues : (a) Amnesia : Forgetting the appropriate procedures requisite for dressing, and the steps involved in the dressing.

(b) Mental regression : In this step it involves cognitive skills like executive functioning, problem-solving, and motor planning, which might be impaired due to neurological disorders. **(c) Disorientation/Sequencing :** This includes difficulty with colour theory, styling, and the basic concept of identifying the front and back of a garment.

(iv) Social and Cultural relevance : The Clothing worn by people often carries cultural and symbolic meanings, which reflect our values, beliefs, and affiliations in the society. The clothing can be a means of expressing cultural identity, social status, and personal style of every individual.

(v) Impact of Progressive Disabilities : The issues and challenges related to dressing can progress with time for person with progressive disabilities, such as those with neurological conditions like Parkinson's disease or multiple sclerosis and muscular dystrophies like DMD, Limb Girdle, GNE Myopathy and many more conditions in which muscular weakness has progressed with time. As the condition progresses, physical limitations, sensory impairments, and cognitive decline worsen over the period of time, making dressing difficult and frustrating. And the individual has to depend on the other person to get dressed on a daily basis.

3. The Necessity for Inclusive Clothing Design in our Society : Creating clothing designs with disabled people that gives a sense of satisfaction and independence has to be significant.

(i) Usability and Accessibility : Overall, clothing designs must be universally built to accommodate a wide range of physical and neurocognitive differences, with the following characteristics: **(a) Easy-to-use fastenings :** For example, magnetic buttons, Velcro, and zips for one hand. **(b) Flexible designs :** Adjustable waist bands, cuffs, and straps allow clothing to be modified as one's needs come and go. **(c) Simple constructs :** Contained designs that also make less work for one's mind.

(ii) Aesthetics and Appeal : Clothing must not only be functional and accessible but also stylish and visually appealing to the user.

(iii) Independence and Dignity Development : By providing accessible and stylish clothing options, the design can help to empower individuals with disabilities to self-manage, boost their personal esteem, and to take an active role in community and social life.

II. Literature Review :

1. Current Situation on Adaptive Fashion : Fashion of adaptive clothes has been gaining momentum over the last few years, and now there is a plethora of brands and retailers providing special adaptive wear for people with disabilities; the same wear that society has used to express their uniqueness or to distinguish the distinction among themselves. However, the present status of adaptive fashion does have both its negative and positive dimensions :

(i) Existing Options :

Fewer options : There are very few small collections in the adaptive clothing market-probably because most brands and retailers are just coming to realize that adaptive clothing even exists. Over time, these "believe me" stories told by people from such experiences try to highlight these leaks, opportunities or challenges-notwithstanding the positive or negative circumstances it moves towards.

Aesthetics : Adaptive clothing must be well-designed to be appealing and look 'perfect' on the wearer.

Expense : Adaptation can be a most expensive option. Materials and designs put together make the cost of producing an adaptive dress cost as little for sales of design as possible, a big amount no one can afford.

Inappropriate Means : Instead of making these adaptive clothes available for all buyers, retailers just try to link the sellers with these special stores and then make it difficult for buyers to try to access the items.

(ii) Challenges : ● There are issues that arise when a clothing item does not fit into particular dimensions in terms of sizing, and sizing terminology. This leaves a gap for consumers to easily identify which

products suit their needs best. ● This type of clothing is associated with a disability, hence some people might see it as a stigma and may choose not to use these options at all because they do not wish to appear different or disabled. ● The formation of such stereotypes and stigma also limits the availability of such products for many people with disabilities.

(iii). Opportunities : ● Trends are being fused with technology to give rise to a significant opportunity to meet the growing demand for inclusive and accessible clothing. ● New Technologies also bring along the opportunity of being creative and developing adaptive clothing ideas that are tailored for the user's needs. ● There is a market gap and opportunity in integrating adaptive features into mainstream clothing lines that cater to a larger audience. ● More collaboration between designers and people with disabilities will lead to more user-friendly clothing options.

2. Principles for Using Design in Creating Clothing for the User : The principles of user-centered design are essential in coming up with sustainable and usable clothing products. The main principles are :

(i) Universal Design : ● A product or an environment would be designed with the assumption that it would be modified or specially designed for many different types of people. ● The principles of universal design comprise effortless and forgiving use, low strenuous effort, simple, intuitive, silences, and easily accessible information, and finally, sheltered space to operate and make use of the product.

(ii) Human-Centred Design : ● The person for whom the product is intended for is central to the undertaking. This means that one has to know the user's requirements, interests, and actions for the duration of the design process. ● It includes the participation of users through interviews, focus groups, and usability testing.

(iii) The Relevance of User Participation : ● Designing adaptive clothing requires the participation of users with disability otherwise it is highly likely that such clothing would not have any functional value. User participation enables designers to : ● Identify and pitch solutions to significant issues. Learn about the problems the users have when getting dressed and how they can be minimized or overcome. ● Develop solutions that are friendly to the user. Design clothing that the target population will put on without complications or discomfort. ● Ensure the attractiveness of the designs: Strive to develop designs that are functional as well as appealing to the targeted audience. ● Guidance on the Selection of Designs : Gain responses on design mock-ups and adapt them based upon user response.

3. New Technologies with Impact on The Development and Design of Adaptive Garments : The development of new technologies has the capability of changing the development of adaptive garments in new and

exciting ways like :

(i) Smart Textiles : ● Fabrics integrated with electronic devices and sensors, which allow features like temperature control, moisture control, and pressure relief. ● These smart fabrics may also serve the purpose of monitoring heart rate and provide alerts to caregivers.

(ii) Wearable Technology : ● Incorporating devices such as smart bracelets and activity trackers into clothing enables the person to receive help with getting dressed, movement monitoring, and personal feedback.

(iii) 3D Printing : ● Allows for the production of fully body and purpose tailored garments to specific individuals. ● This technology has unlimited potential since it can be employed to create new designs that cannot be achieved using conventional techniques.

4. Accessibility Provisions under RPwD Act, 2016 (Sections 40 to 46) : In RPwD Act, 2016 it is mandatory to have accessibility in public spaces which must include ramps, lifts, and wide doors, transport systems like buses and airports should offer low-floor entry, wheelchair space, and audio signage similarly digital platforms must support screen readers and captions. Services such as hospitals and banks need to provide information in Braille, large print, or audio.

These are some of the examples of technologies that have the ability to transform the design and development of adaptive clothing to make it more individualized, effective and comfortable, thus improving the independence and the quality of life for people with disabilities.

III. Methodology

1. Research Design and Participant Selection : A mixed-method online survey was used to gather qualitative and quantitative data from 130 participants across India. The method ensured wide reach, accessibility for those with mobility issues, and efficient data collection. Shared via social media and support groups, the survey targeted individuals with muscular dystrophy or other neuromuscular disorders, or their caregivers (ages 1–40+, English/Hindi literate). Results aim to guide inclusive clothing design.

2. Demographics of Study Participants : The demographics of the 130 participants who completed the online survey. This analysis include:

Age : Age range and distribution of participants is 1- 40+ years or older. As depicted in the graph below there are 24 Children, 31 teenagers, 55 Adults, 20 senior citizen which participated in the survey.

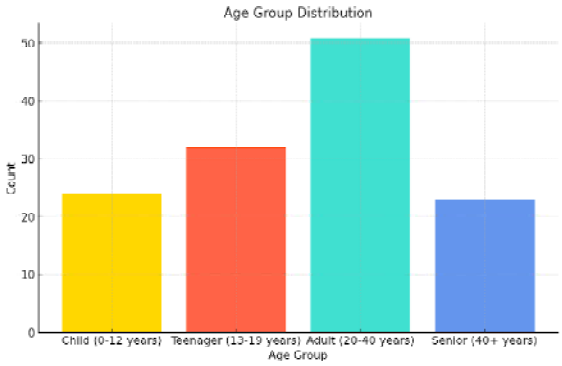

Gender : There are about 89.2% of male participants and 10.0% of female participants.

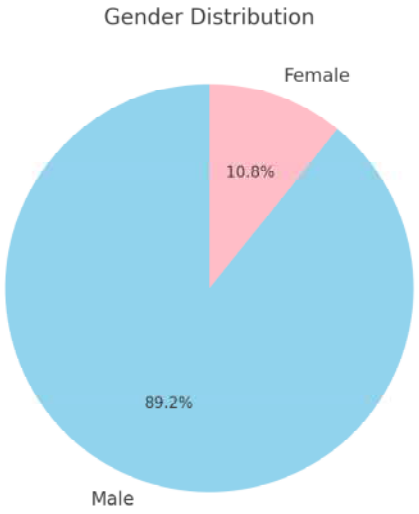

Type of Neuromuscular Disorder : Distribution of participants across different types of neuromuscular disorders (e.g., Duchenne muscular dystrophy, Becker muscular dystrophy, spinal muscular atrophy).

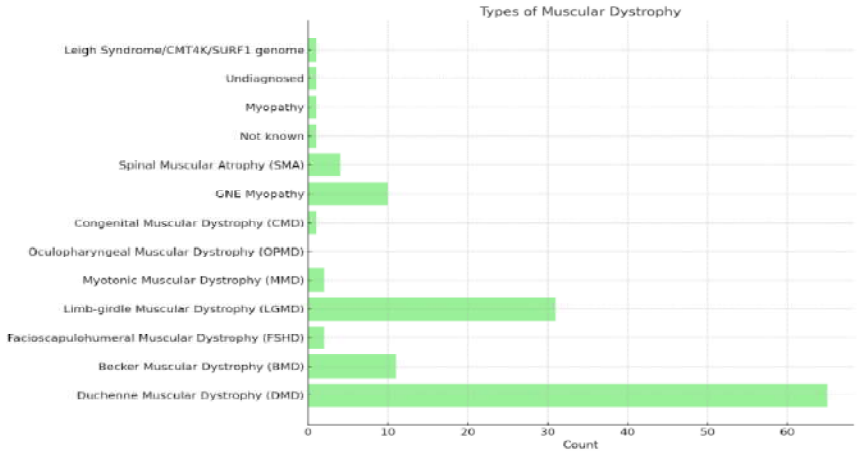

Independence in Dressing - Illustrates the level of independence in dressing among respondents.

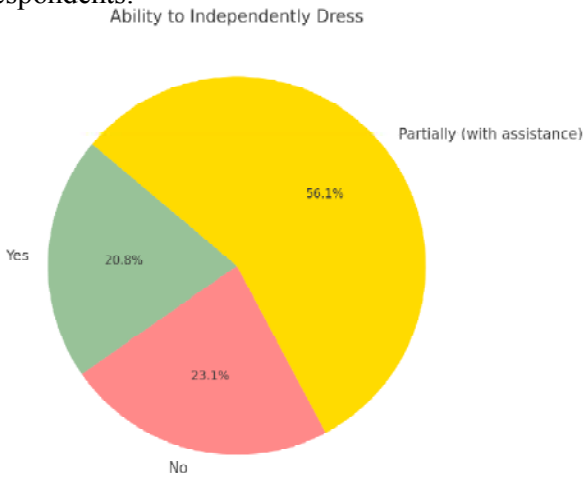

Clothing Challenges - Highlights challenges faced with specific clothing types.

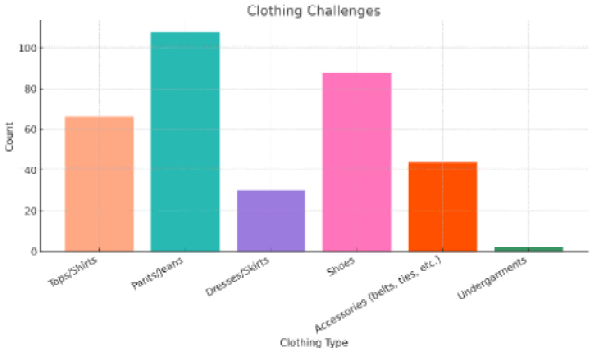

3. Data Collection and Analysis

(i) Data Collection and Analysis : The survey was conducted via a secure platform (e.g., Google Forms), with responses stored in a password-protected database. It included open-ended questions for detailed participant insights.

(ii) Qualitative Analysis involved : ● Pie Charts to represent gender distribution. ● **Bar Charts** to show clothing challenges, ability to independentlydress, age groups, and types of muscular dystrophy.

IV. Results :

1. Rethinking dressing in the context of disability : Many of the people we heard from in our survey described how something as simple as getting dressed can turn into a real challenge. For those living with muscular dystrophy or similar conditions, what most people take for granted can feel like a daily obstacle.

(i) Movement Challenges : Things like raising arms to put on a shirt or bending over to put on socks can become difficult due to weak muscles

or stiff joints. According to our survey conducted around 70.8% of people face problem in movement of body, 61.5% of patients are not able to do the activities they like due to challenges in clothing. Even smaller tasks like buttoning a shirt or tying shoelaces were often mentioned as being tiring or frustrating. A few people shared that just the act of getting dressed could leave them feeling too exhausted to do much else for the day.

(ii) Sensitive to Touch and Temperature : Some participants said they were uncomfortable in certain fabrics especially those that felt rough or tight. Others had issues with temperature control, explaining how they'd either overheat or feel too cold depending on what they wore, making them really think twice about fabric choices.

(iii) Mental Load : According to the data collected 56.1% of people are unable to wear clothes independently and overall, 75% people need assistance while clothing. For people who also experience cognitive difficulties, dressing could feel like solving a small puzzle each morning. Planning what to wear, remembering the steps, or even sorting through clothes took time and sometimes felt overwhelming.

(iv) Few Helpful Options : One recurring theme was how hard it is to find clothes that actually meet these needs. While adaptive tools or clothing lines exist, they're often expensive, hard to find, or don't suit someone's personal style. People want more than just function they want comfort and dignity. The survey suggests that out of all the participants 95.4% of patients are interested in wearing clothes that are accessible and comfortable.

2. User Centered Clothing Recommendations : Despite all the challenges, the feedback made one thing very clear: clothing should make life easier not harder. And it should reflect who someone is, not just what they struggle with.

(i) Keep It Simple : Many people talked about how helpful it is when clothes are easy to put on and take off. Magnetic buttons, Velcro, or pull-on styles were seen as practical choices that made a big difference.

(ii) Comfort First : Soft, stretchy fabrics came up again and again. People really valued clothes that felt nice against their skin and didn't cause irritation. Breathable materials were preferred, especially for those who had to wear the same thing all day or needed clothes that worked with braces or medical devices.

(iii) Little Details Matter : Thoughtful touches like wide neck openings, pants that don't pinch, or pockets that are actually useful went a long way. People also mentioned how helpful it would be if clothes were made with their daily movements in mind, like being able to dress while sitting or lying down.

(iv) Hard to Find, Too Expensive : Many shared their frustration with how limited adaptive options are. It's not just that the clothes are hard to find they're often too pricey or only available online. Some felt that fashion in general isn't inclusive of people with disabilities, and that really

needs to change.

Real Suggestions from Real People : ● Ask people with disabilities what they actually need before designing. ● Make clothing that looks good *and* works well. ● Get more adaptive clothes into regular stores, not just specialty sites. ● Find ways to lower the cost. ● Use new techlike 3D printing or smart materialsto create better options

V. Conclusion

1. Implications for Inclusive Clothing Design : Clothing for individuals with PMDs must go beyond function to support psychological and social well-being. It should be flexible, attractive, and modular to adjust with changing needs. Key design features include easy closures (Velcro, magnets), breathable materials, elastic components, support inserts, and sensory-friendly fabrics. Style and identity should not be compromised.

2. The Disability Velvet Rope : A Framework for Inclusive Garment Design : A comprehensive framework should:

(i) Center users and caregivers throughout the design process.

(ii) Involve interdisciplinary teams (designers, therapists, engineers).

(iii) Incorporate technologies like smart textiles and 3D printing.

(iv) Ensure accessibility and affordability through innovative models.

(v) Raise awareness among healthcare professionals and the public.

3. Limitations and Future Research : Limitations include small, possibly biased samples, and condition-specific focus. Future research should include longitudinal studies, ethnographic insights, economic impact assessments, and exploration of AI-based adaptive solutions.

4. Key Findings and Recommendations : Participants reported major dressing difficulties due to limited dexterity, sensory discomfort, and cognitive challenges. Preferences included easy closures, minimal embellishments, adjustable features, and affordable stylish options.

Recommendations : ● Designers: Use user-centered, sustainable, and innovative design approaches. ● Manufacturers: Broaden options and improve affordability. ● Policymakers: Support inclusive clothing through funding and policy. ● Healthcare Professionals: Advocate and guide access. ● Researchers: Continue adapting to evolving needs and technologies.

5. Impact, Future Scope, and Need for Inclusive Clothing : Inclusive clothing helps people with mobility or muscle control issues dress independently, saving time and reducing caregiver effort. It boosts confidence through stylish, functional designs and supports full participation in education, work, and social life.

It aligns with the goals of the **RPwD Act, 2016** and **UNCRPD**, yet **clothing accessibility is not formally included** in the RPwD Act. Future revisions should recognize it as a key area of daily accessibility in clothing and it should be mandatory for the manufacturing companies of clothing to produce accessible clothing style as well. Only then we can make a great impact in the society.

REFERENCES :

1. Aguayo. n.d. "Aguayo User Experience: UX Prototypes." Accessed October 2023. https://aguayo.co/en/blog-aguayo-user-experience/ux-prototypes/.
2. Apparel Resources. 2023. "Rise of Adaptive Clothing: Embracing Inclusivity in Fashion." Accessed October 2023. https://apparelresources.com/business-news/retail/rise-adaptive-clothing-embracing-inclusivity-fashion/.
3. Buffalo University. n.d. "Universal Design Principles." Accessed October 2023. https://www.buffalo.edu/access/help-and-support/topic3/universaldesignprinciples.html.
4. Coresight. 2023. "Research Highlights: Adaptive Apparel in the US." Accessed October 2023. https://coresight.com/research/research-highlights-adaptive-apparel-in-the-us/#:~:text=Within%20the%20past%20five%20years,in%20addition% 20to%20the%20 adaptive.
5. Entropik. n.d. "The Importance of User Interviews in UX Research." Accessed October 2023. https://www.entropik.io/blogs/the-importance-of-user-interviews-in-ux-research.
6. Fibre2Fashion. 2023. "Inclusivity in Adaptive Wear." Accessed October 2023. https://www.fibre2fashion.com/industry-article/9843/inclusivity-in-adaptive-wear.
7. Fibre2Fashion. 2023. "IoT in Intelligent Mobile Health Monitoring System by Smart Textile." Accessed October 2023. https://www.fibre2fashion.com/industry-article/8337/iot-in-intelligent-mobile-health-monitoring-system-by-smart-textile.
8. Lampoon Magazine. 2024. "Will Wells: Disabled-Inclusive Fashion for the Disabled Community." Accessed October 2023. https://lampoonmagazine.com/article/2024/03/28/will-wells-disabled-inclusive-fashion-disabled-community-people/#:~:text=However%2C%20the%20slow%20progress%20of,that%20stops%20the%20cogs%20of.
9. Lexxic. n.d. "Tailored Solutions: Supporting Neurodiversity through Adaptive Clothing and Uniforms." Accessed October 2023. https://lexxic.com/blog/tailored-solutions-supporting-neurodiversity-through-adaptive-clothing-and-uniforms.
10. Moving Mood. n.d. "Inclusive Fashion or Adapted Fashion?" Accessed October 2023https://movingmood.com/inclusive-fashion-or-adapted-fashion/#:~:text=The%20most%20important%20thing%20is,the%20same%20piece%20of%20clothing
11. Priya, L. (2024). A Comprehensive Review of Adaptive Clothing Practices and Innovations in Inclusive Design.
12. Rana, R., McBee-Black, K., &Swazan, B. (2024). Adaptive Fashion: Clothing as a Tool for the Inclusion of People with Disabilities.
13. Chang, W. (2020). Adaptive clothing for disabled people.
14. Civetti, L. (2025). Adaptive Fashion: Designing with Body Data.
15. Dreska, H. (2023). The Impact of Diversity, Equity, and Inclusion in the Fashion Industry.

●